* प्राक्कथन *

श्री महावीरस्वामी के परम-प्रसाद से श्रीप्रज्ञापुस्तक-माला का यह १६ सोलहवां पुष्प सम्पादित करते हुये हमें परम आनंद हो रहा है। इसक पूर्वार्ध भाग को सरलता, अच्छाई और सुन्दरता को देखकर चारो ओर से इस उत्तरार्ध भाग के सम्पादनार्थ अनेक आवाजें आ रही थीं उन की पूर्ति यथाशक्ति की जा रही है। पाठकों से विनम्र निवेदन है कि इसे भी पूर्वार्ध की भांति अपना कर अनुगृहीत करेंगे और इसमें यत्र तत्र हुई त्रुटियों को सूचित करने की कृपा करेंगे॥
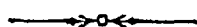
* आभार *

इस ग्रन्थ को रचना और सम्पादन में ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासी के प्रधानाध्यापक श्रद्धेय पं० बालचन्द्र जी शास्त्री ने अपना बहुमूल्य समय और सहयोग प्रदान करने की कृपा की है, एतदर्थ हम आपके आभारी हैं।

पूज्यपाद पं० मुकुन्दजी साहित्याचार्य साहित्याध्यापक-स्याद्वाद विद्यालय काशी, श्रीयुत पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर, श्रद्धेय पं० शान्तिराजजी न्यायतीर्थ प्रधानाध्यापक जैन विद्यालय नागपूर ने अनेक बार इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ प्रेरणा कर अनुगृहीत किया है। अतएव आपका भी महान् आभार है।

सिवनी सी० पी०
२०।४।४०

साहित्यसेवक:—
मोहनलाल जैन काव्यतीर्थ,

ग्रन्थकर्ता श्री वादीभसिंह सूरि का

❀ संक्षिप्त परिचय ❀

आचार्य वादीभसिंह विश्रुत जैन महाकवियों में अन्यतम हैं। आपके वादीभसिंह, अजितसेन एवं ओडेयदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा अनुमान है, कि उल्लिखित इन तीन नामों में ओडेयदेव जन्मनाम; अजितसेन दीक्षानाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित एक उपाधि है। हाँ, आप विद्वत्समाज में पाण्डित्योपार्जित इस उपाधि से ही अधिक विख्यात हैं। साथ ही साथ इस उपाधि से यह भी सिद्ध होता है; कि आप एक बहुत बड़े वादी थे। श्रवणबेलगोलस्थ 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' से भी इस बात की पुष्टि होती है।* अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र ने अष्टसहस्री के मङ्गलाचरणगत पद्य पर टिप्पण करते हुए यों लिखा है—"तदेव महाभागैः तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेन उपलालितामाप्तमीमांसामलचिकीर्षवः... प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः श्रीवर्द्धमानमित्यादि।" इस से पता चलता है कि आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर भी वादीभसिंह ने कोई टीका अवश्य बनाई थी। सभव है कि इसके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र मौलिक न्यायग्रन्थ भी आप के द्वारा रचा गया हो। किन्तु

---

*——सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्ध—स्फुरितमकुटचूडालीढपादारविन्दः
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी, गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥

अभी तक आपका कोई न्यायग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है । स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' से प्रमाणित होता है कि वादीभसिंह पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे । †

यों तो वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात सा है; फिर भी आपका ओडेयदेव नाम, मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेशस्थ पोलूरु तालुक के तिरुमलै नामक प्राचीन क्षेत्र में, वर्तमान समाधि-स्थान, द्राविडसंघ तथा अरुंगल अन्वय ये चारों वादीभसिंह को तमिलप्रान्तीय सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य करते हैं । यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेश सुप्राचीन काल से द्राविड देश के नाम से विख्यात है । अतः यह मानना अनुचित नहीं होगा; कि वादीभसिंह का उक्त द्राविडसंघ इस प्रान्तीय नाम से ही प्रसिद्ध हुआ होगा । क्योंकि जैन एवं जैनेतर पुरातत्त्वविशारद यह प्रकट कर चुके हैं कि दिगम्बर जैन मुनियों में प्रचलित संघ, गण, शाखा आदि में अनेक किसी स्थान के ही द्योतक हैं । जैसे उदाहरणार्थ—माथुर-संघ पुन्नाटसंघ, नविलूरुसंघ, कित्तूरुसंघ, कालत्तूरुसंघ, देशीय-गण, काणूरुगण और-हनसोगे शाखा । यों तो मद्रास प्रांविंस में प्रचलित तामिल, कन्नड, तेलुगु तुलु तथा मलयालम् ये पाँचों भाषायें द्राविड भाषा जाति के अन्तर्भुक्त हैं । फिर भी तमिल भाषा का ही द्राविड नाम से पुकारने की प्रथा जनता में आज भी वहाँ पर मौजूद है । अब आपके 'अरुंगल' अन्वय को लीजिये, यह भी तमिल प्रान्त के गुडियपत्तन नामक स्थान की ही ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करता है । यह एक बहुत प्रसिद्ध एवं प्राचीन स्थान है । सुना है कि आज भी यहाँ पर जैनी और

---

† श्रीपुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात् ।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि, वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति । ।६।।

जैनमन्दिर वर्तमान हैं। यों तो संघ, गण, गच्छ और अन्वय आदि प्रायः एकार्थवाची हैं। इसीलिये मुनिसघों के लिये ये सभी शब्द जहाँ तहाँ व्यवहृत हुए हैं। परन्तु साधारणतः संघों के भेदों को गण और उपभेदों को गच्छ कहने की परिपाटी प्रचलित है। जैसे—नन्दिसंघेबलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दान्वये। अनेक स्थानों मे सघ को गण, भी कहा है। जैसे—नन्दिगण, सेनगण, द्रमिल या द्राविडगण। खैर, यह विषयान्तर है। साथ ही साथ मुनिसघो का इतिहास अभी तक प्रायः अधकार में विलीन सा है। इसीलिये इस विषय में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित है। हाँ, यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है; कि द्राविडसघ नन्दिसंघ का ही एक भेद है *। अतः श्रवणबेल्गोलस्थ मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि लेखों में द्राविडसंघ की परम्परा में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दी, वक्रग्रीव, श्रीवर्द्धदेव, पात्रकेसरी, अकलङ्कदेव आदि आचार्य भी परिगणित किये गये हैं।

अब एक बात की शंका हो सकती हैं; कि 'नीतिसार' के कर्त्ता ने यापनीय और द्राविड दोनो सघों को पाँच जैनभासो में गिनाया है ‡। इस सम्बन्ध में श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी का कहना है कि "जिस प्रकार वर्त्तमान भट्टारकों को हम शिथिलाचारी भ्रष्ट या जैनाभास कहते हैं, यद्यपि ये भी अपने

---

*—श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्, नन्दिसंघेऽस्त्यरुगलः।
अन्वयो भाति योऽशेष-शास्त्रवाराशिपारगः॥

—नगर तालुक का शिलालेख नं० ३९

‡—गोपुच्छिकः श्वेतवासा-द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छश्चेति पञ्चैते, जैनाभासाः प्रकीर्त्तिताः॥ —नीतिसार

को नन्दिसंघ, बलात्कारगण और कुन्दकुन्दाचार्यान्वयमुक्त बतलाते हैं, उसी प्रकार 'दर्शनसार' के कर्त्ता देवसेन द्राविडसंघ, यापनीयसंघ आदि के मुनियों के आचार देख कर उन्हें जैनाभास कह सकते हैं। क्योंकि इन संघो के साधु, महन्तो या भट्टारकों के ढंग पर मठो और मन्दिरो मे रहने लगे थे, राजसभाओं में आने-जाने लगे थे, इनके मन्दिरों को जागीरें लगी हुई थीं, जिनका ये प्रबन्ध करते थे और तिल-तुषमात्र परिग्रह न रखने के आदर्श से नीचे गिर गये थे।" बल्कि आपने इस विषय में अपने 'वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय' इस लेख मे विस्तार से विचार किया है।

अस्तु, उपर्युक्त बातो को लक्ष्य में रख कर यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता कि वादीभसिंह का जन्म तमिल प्रदेश में हुआ था। हाँ यह बात ठीक है कि इनके जीवन का बहुभाग मैसूर प्रान्त में व्यतीत हुआ था और वर्तमान मैसूर प्रान्तान्तर्गत पोम्बुच्च ही आपके प्रचारक्षेत्र का केन्द्र था। इसके लिये पोम्बुच्च एव मैसूर राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानो में उपलब्ध आप से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख ही ज्वलन्त साक्षी हैं। वादीभसिंह एक राजसम्मानित कवि थे। यह बात मल्लिषेण-प्रशस्ति के सिवाय स्वरचित 'गद्य-चिन्तामणि' में स्पष्टतया अंकित है†। इतना ही नहीं महामन्त्री, दण्डाधीश जैसे उच्च राजपदाधिकारी भी आप के अनन्य भक्त थे। खास कर विक्रम, मार, त्रिभुवनमल्ल आदि पोम्बुच्च के तत्कालीन सान्तर वंश के शासक, विष्णुवर्द्धन के महामन्त्री

†—श्रीमद्वादीभसिंहेन, गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडेयदेवेन, चिरादास्थानभूषणः॥

माधव महाप्रतापी दण्डाधीश पुनीश, सरदार परमादि, श्रेष्ठी जक्कि आदि आप के एकान्त शिष्य रहे* ।

जैनधर्म और जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त वादीभसिंह तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलङ्कार, कोशादि ग्रन्थो में पूर्ण निष्णात थे। यद्यपि आप सस्कृत, कन्नड, तमिल आदि कई भाषाओं के पारगत विद्वान् रहे होंगे; परन्तु अभी तक आप की संस्कृत भाषा-बद्ध कृतियां ही उपलब्ध हुई हैं। मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि से पता लगता है; कि आप केवल एक उच्चकोटि के कवि ही नहीं थे, किन्तु एक उद्भट वादी और वाग्मी भी। आप के वादित्वगुण की विद्वन्मण्डली में कितनी धाक थी, इस बात का निदर्शन आप की 'वादीभसिंह' यह उपाधि ही पर्याप्त है। कोप्प का एक शिलालेख आप को जैनागमरूपी समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा' बतलाता है। इसी प्रकार बोगदि के एक शिलालेख में आप एक 'बड़े योगी कहे गये हैं* । सारांशतया वादीभसिंह एक महान् योगी त्यागी; तपस्वी, वादी वाग्मी; कवि और तत्त्वज्ञानी थे। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सामान्य श्रावक से लेकर राजा एवं बड़े बड़े राजकर्मचारी तक आप के परम भक्त थे। श्रवणबेलगोल की मल्लिषेणप्रशस्ति* मे भी आप के दो विद्वान् शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम क्रमशः शान्तिनाथ और पद्मनाभ हैं। इनमे पहले की उपाधि 'कविताकान्त' और दूसरे की 'वादिकोलाहल' है। उल्लिखित यह लेख आप ही के एक और विद्वान् शिष्य मल्लिषेण मलधारिदेव का समाधि-मरण-सूचक है और यह विद्वन्मण्डली में

*—देखे—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

†—देखें—जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

*—देखें—लेख नं० ५४ (६७)

'मल्लिषेण-प्रशस्ति' के नाम से प्रख्यात है। इस लेख में केवल मल्लिषेण की ही नहीं, इनकी गुरुपरम्परा की भी बड़ी प्रशंसा लिखी मिलती है। पोम्बुच्च के न० ३७ सन् ११४७ के एक स्तभ-लेख में वादीभसिंह की एक विदुषी शिष्या पम्पादेवी का भी उल्लेख मिलता है। यह पम्पादेवी तैलसान्तर की पुत्री, विक्रम सान्तर की भगिनी थी। पम्पादेवी महापुराण की एक अच्छी मर्मज्ञा थी। इससे पता चलता है कि वादीभसिंह केवल सान्तर-राज सभा के ही माननीय गुरु नहीं थे, प्रत्युत अन्तःपुर के भी एक वशिष्ट शिक्षणाचार्य थे।

अब वादीभसिंह के समय के सम्बन्ध मे विचार करना है। श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं 'सस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक-द्वय वादीभसिंह को दशवीं शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। इस समय-निर्द्धारण के विषय में निम्न लिखित दो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं:—

(१) भोज राजा (सन् ०१८—५५) के समकालिक कालिदास का एक वचन "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" यह वादीभसिंह के "अद्य निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती।" इस वचन के सदृश है इसलिये वादीभसिंह भोज का पूर्ववर्त्ती अर्थात् सन् १० वीं शताब्दी का माना जाना चाहिये।

(२) 'यशस्तिलकचम्पू' के द्वितीय उच्छ्वास के १२६ वें श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार श्रुतसागर सूरि ने महाकवि वादिराज का एक श्लोक उद्धृत किया है और लिखा है, कि वादिराज भी सोमदेवाचार्य के शिष्य थे। तथा सोमदेवाचार्य का "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः" यह पद्य उद्धृत कर वादीभसिंह को 'वादिराज का गुरु-भाई

और सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाया है। सोमदेव ने शक सं० ८८१ (सन् ९५९) में अपना यशस्तिलकचम्पू-समाप्त किया था और वादिराज ने शक सं० ९४७ (सन् १०२५) में अपने 'पार्श्वनाथचरित्र' को पूर्ण किया था। अतः वादीभसिंह का काल १०वीं शताब्दी होना चाहिये। हाँ, इतनी बात अवश्य है, कि उल्लिखित विद्वानो में से किसी ने अपनी रचना मे उक्त दोनों प्रमाणों को अपनाया और किसी ने एक ही को। उपर्युक्त पहला प्रमाण तो मेरे जानते कोई बलिष्ठ नहीं जँचता। क्योंकि बहुत कुछ सम्भव है कि वादीभसिंह ने ही कालिदास का अनुसरण किया हो। अब रहा द्वितीय प्रमाण। इसके सम्बन्ध में श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र जी का कहना है कि "जब तक उक्त उल्लेख के स्थल आदि का पूरा विवरण नहीं मिलता और अन्य स्थलों से उसका समर्थन नही होता तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं रक्खा जा सकता, क्योंकि दोनों विद्वानो में से किसी ने भी सोमदेव के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तथा वादिराज ने 'न्याय विनिश्चयालङ्कार' के अन्त में दी गई प्रशस्ति मे मतिसागर को अपना गुरु बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पसेन का स्मरण करते हैं। अतः उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश मे हमें तो अकलङ्क-देव के सतीर्थ पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु प्रतीत होते हैं और उस दशा में उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है‡।" पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने ऊपर सोमदेव के गुरुत्व के सम्बन्ध में जो शंका उठायी है वह ठीक है, किन्तु आप के कथनानुसार वादीभसिंह अकलङ्कदेव के सतीर्थ, ईसा की सातवीं शताब्दी के पुष्पसेन के शिष्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इस समय निर्णय के समर्थन

‡—देखें—'न्यायकुमुदचन्द्र' की प्रस्तावना, पृष्ठ ११२

मे शास्त्री जी के द्वारा दिये गये सभी प्रमाण बहुत ही निर्बल हैं। 'भास्कर' भाग ६, किरण २ मे प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हे ?' शीर्षक लेख मे इस बात पर मैंने यथेष्ट प्रकाश डाला है, अतः उन बातो की यहां पुनरावृत्ति करना पिष्ट-पेषण ही होगा।

अब यही विचार करना रह जाता है कि उल्लिखित विद्वानों के द्वारा निर्द्धारित वादीभसिंह का १० वीं शताब्दी का यह समय ठीक है कि नही। श्रीयुत स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत है कि नगर के ४० वें और ३७ वें शिलालेखों से वादीभसिंह का समय ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमित होता है*। मैंने 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलङ्कदेव के समकालीन हैं' ? इस अपने लेख में 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' से अजितसेन या वादीभसिंह से सम्बन्ध रखने वाले १० लेखों को उद्धृत किया है। इनमें सबसे पहला सन् १०७७ का एवं सब से पीछे का ११७० का है। इन लेखों मे वादीभसिंह को कहीं अजितसेन पण्डितदेव, कहीं वादीभसिंह अजितसेन दोनो, कहीं अजितसेन मुनिपति, कहीं अजितसेन भट्टारक एवं कहीं मुनि अजितसेन देव आचार्य लिखा है। साथ ही साथ इन नामों के साथ संघ, अन्वय आदि सभी जगह नहीं दिये गये हैं। फिर भी इन सब नामो को प्रस्तुत वादीभसिंह के ही वाचक मानने में कोई बाधक प्रमाण दृष्टिगत नहीं होता। शिलालेखों के लेखन-क्रम से भी यही बात मालूम होती है।

अस्तु, उल्लिखित शिलालेखों में से १०७७ के प्रथम लेख से उस समय पोम्बुच्च में अजितसेन या वादीभसिंह की वर्तमानता

*-देखें-'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग २, पृष्ठ १५३

स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि उसमें साफ लिखा हुआ है कि 'पचकूट जिनमन्दिर के लिये विक्रमसान्तर देव ने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी। वादीभसिंह की शिष्या पूर्वोक्त विदुषी पम्पादेवी इन्हीं विक्रमसान्तर की बहिन थीं, जिनका उल्लेख नं० ३७ (सन् ११४७) के पोम्बुच्च के एक स्तम्भलेख में 'यह अजितसेन पण्डितदेव या वादीभसिंह की शिष्या आर्यिका थीं'—यों स्पष्ट अंकित है। हां, सन् १०६० के द्वितीय लेख में यह लिखा है कि 'इस स्मारक को अपने गुरु वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मारसान्तर वशी ने स्थापित किया। आगे कोई ऐसा लेख दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे वादीभसिंह की उपस्थिति स्पष्ट प्रमाणित होती हो। अतः सम्भव है कि कोई-कोई १०६० तक ही वादीभसिंह के जीवनकाल की मर्यादा मानकर १०९० के बाद के लेखों को आप के स्मृति-लेख मान लें। पर जीवन-काल में भी भक्तों के द्वारा अपने माननीयो का स्मारक बनवाना लोकविरुद्ध बात नहीं है। बल्कि आजकल भी इसके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध करना मेरा अभीष्ट नही है, कि वादीभसिंह के नाम के वे सभी स्मारक आप के जीवन-काल मे ही स्थापित हुए थे। हां; उल्लिखित सन् १०७७ का लेख अगर वास्तव मे वादीभसिंह के उपस्थिति-काल का है, तो मानना पड़ेगा कि वादीभसिंह ११वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मौजूद थे। साथ ही साथ नं० १३१ (सन् १११७ ?) और नं० ४९२ (सन् ११२५) के क्रमश हासन जिला के मुगुलूरु ग्राम एवं श्रवणबेलगोल के उपलब्ध लेखों में प्रतिपादित पुष्यसेन ही वादीभसिंह के गुरु ज्ञात होते हैं।

इस पर प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री का कहना है कि सन् १०३५ में चालुक्य जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के द्वारा

वादिरुद्रगण को दिये गये दानसूचक वेलगाँवे के दानपत्र मे यह अंकित है कि वादिरुद्रगण बहुत बड़े वादी थे और उन्होंने वाद मे अकलङ्क वादिघरट्ट (?) वादीभसिंह, वादिराज आदि को वाद में जीत लिया था। अतः वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध नहीं हो सकता। वह दानपत्र मेरे सामने नही है। खैर, यदि उल्लिखित दानपत्र में प्रतिपादित यह बात वास्तविक भी मान ली जाय तो भी उक्त समय-निर्णय में उससे कोई ऐसा विषम विरोध नहीं दिखता। क्योंकि सन् १०३५ और सन् १०७७ के काल में अधिक अन्तर नहीं है। मुझे तो दानपत्र की बात पर ही शंका होती है, वह शंका अकलङ्क को जीतने की बात को लेकर। पहले इसी बात की जाँच की जरूरत है कि यह अकलंक कौन हैं? अगर भट्टाकलंक माने जायं तो क्या यह घटना संभवपरक है कि नहीं? क्योंकि अकलंक देव का समय ७ वी ८ वीं शताब्दी माना गया है। वादीभसिंह वादिराज आदि के समकालीन किसी प्रसिद्ध दूसरे अकलक का पता कम से कम मुझे तो नहीं लगता।

इस प्रकार वादीभसिंह के काल–निर्णय–सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री को विज्ञ पाठको के समक्ष मैंने रख दिया है। अब इसका अन्तिम निर्णय पाठक स्वयं कर लें। हाँ, इस सम्बन्ध मे एक बात का खुलासा करना रह गया है। मैंने क्रमशः 'भास्कर' भाग २, किरण २ और भाग ६, किरण २ में लिखा था कि वादीभसिंह के 'क्षत्रचूडामणि' के अन्त में "राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणि गुंणैः ॥" पद्य अंकित है। मेरे ख्याल से पद्यगत 'राजराज' शब्द श्लेषात्मक है और इसमें ग्रन्थकर्ता ने चरित्रनायक जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन शासक का भी उल्लेख किया है। यह शासक

चोलवंशीय 'राजराज' हो सकता है। चोल राजाओं में इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं। राजराज प्रथम का काल सन् ९८५ से १०१२ तक और द्वितीय का सन् ११४६ से ११७८ तक का है। बहुत कुछ सभव है कि वादीभसिंह अन्तिमावस्था में मैसूर से अपनी जन्मभूमि को लौट आये हों और चोलशासक उक्त राजराज के राज्यान्तर्गत कहीं रह कर इस क्षत्रचूडामणि की रचना कर ग्रन्थान्त में आपने तत्कालीन तत्प्रान्तवर्ती शासक इस राजराज का उल्लेख कर दिया हो। इस मेरे अनुमान को श्रीयुत स्व० आर० नरसिंहाचार्य और श्रीयुत प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री इन दोनों पुरातत्त्वविशारदों ने स्वीकार किया है। परन्तु पूर्वोक्त अपने-अपने निर्द्धारित समयानुकूल आर० नरसिंहाचार्य वादीभसिंह को द्वितीय राजराज का समकालीन एवं प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री प्रथम राजराज का समकालीन मानते हैं। शास्त्री जी का कहना है कि द्वितीय राजराज की अपेक्षा प्रथम राजराज बहुत प्रसिद्ध था। पर मेरे जानते यह कोई सबल तर्क नहीं है। क्योकि ग्रन्थकर्ता का तो प्राय प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तत्कालीन शासक का उल्लेख कर देना भर ही ध्येय रहता है। अब इस निबन्ध को अधिक न बढ़ा कर वादीभसिंह की कृतियो पर दो शब्द कह दिये जाते हैं।

वादीभसिंह की दो कृतियां उपलब्ध हैं। पहली 'क्षत्रचूडामणि' तथा दूसरी 'गद्यचिन्तामणि'। ये दोनों काव्य हैं। पर पहला पद्यकाव्य और दूसरा गद्यकाव्य। इन दोनो रचनाओं मे महावीर स्वामी के समसमयवर्ती महातेजस्वी एव क्षत्रियोचित-शौर्यगुणसम्पन्न महाराज जीवन्धर की जीवनी वर्णित है। ज्ञात होता है कि वादीभसिंह को आदर्श महापुरुष महाराज जीवन्धर की जीवनी अधिक प्रिय थी। यही कारण है कि आप की

दोनों कृतियां जीवन्धर-चरित्र-प्रतिपादक ही मिलती हैं। उल्लिखित कृतियों में क्षत्रचूडामणि तो एक खासा नीतिग्रन्थ ही कहा जा सकता है। प्राय: प्रत्येक श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट चरित्रांश और उत्तरार्द्ध में उसे पुष्ट करने के लिये नीति कही गयी हैं। नीति का पुट देकर कवि ने चरित्रांश को बहुत ही रोचक बनाया है। प्राय: सभी श्लोको का अन्तिम भाग अर्थान्तरन्यासालंकार से अनुप्राणित है। दूसरी गद्यचिन्तामणि भी काव्योचित माधुर्य्य-सौकुमार्यादि प्राञ्जल गुणों से विशिष्ट एक महत्त्वपूर्ण गद्यकाव्य है। इसके सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिख कर श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री के अभिप्राय को ही नीचे उद्धृत किये देता हूं—"पदलालित्य, श्राव्यशब्दसन्निवेश, निरर्गलवाग्वैखरी, सुगमकथासारावगम, चित्तविस्मापिककल्पना, चित्तप्रसादजनक धर्मोपदेश एवं धर्मानुकूल नीति आदि काव्य-सुलभ सुन्दरगुण प्रचुरपरिणाम में इसमें उपगुम्फित हैं।" हां, यह बात माननी पड़ेगी कि वादीभसिंह ने इसमें महाकवि बाण की ही रचना-पद्धति का अनुकरण किया है।

मैं अन्त में विद्वद्वर्य्य कुप्पुस्वामी शास्त्री को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता हूँ कि जिनके असीम प्रयास से ये दोनों अमूल्य जैन साहित्यिक कृतियां पहिले पहिल प्रकाशन में आयीं और मद्रास विश्वविद्यालय के पठनक्रम में प्रविष्ट हुईं।

जैनसिद्धान्त-भवन आरा
२०-४-४०

के. भुजबलि शास्त्री,
सम्पादक—जैनसिद्धान्तभास्कार,

* नमः श्रीवर्धमानाय *

क्षत्र-चूडामणि-उत्तरार्ध

[जीवन्धर-चरित्र]

अथ पंचमो लम्बः

अथ व्यूढामिमां मेने, स कुमारोऽतिदुर्लभाम् ।
प्रयत्नेन हि लब्धं स्यात्, प्रायः स्नेहस्य कारणम् ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सः = वह, कुमारः = जीवन्धर कुमार, व्यूढाम् = व्याही हुई, इमाम् = इस गुणमाला स्त्री को, अतिदुर्लभाम्=बड़ी कठिनाई से प्राप्त,† मेने=मानता हुआ। नीतिः— हि=क्योंकि, प्रयत्नेन = परिश्रम से,‡ लब्धम् = प्राप्त (वस्तु) प्रायः = बहुधा, स्नेहस्य=स्नेह का, कारणम् = कारण, स्यात् = होती है ॥१॥

भावार्थः—जो वस्तु कठिनाई से प्राप्त की जाती है; उस पर मनुष्य का प्रायः अधिक प्रेम हो ही जाता है, यही कारण है कि जीवन्धर कुमार ने भी मदोन्मत्त हस्ती का सामना कर

---

† मन्धातो लिटि प्रथमपुरुषैकवचनरूपम् । ‡ अत्र सामन्ये नपुंसकत्वम् ।

बहुत परिश्रम और खतरे से गुणमाला को पाया था, इसीलिये उनकी भी उस पर बहुत आस्था (प्रीति) हुई ॥१॥

नादत्त कवलं दन्ती, स्वामिकुण्डलताडितः ।
न हि सोढव्यतां याति, तिरश्चां वा तिरस्क्रिया ॥२॥

अन्वयार्थौ—† स्वामिकुण्डलताडितः = जीवन्धर स्वामी के द्वारा अपने कड़े से आहत, ‡ दन्ती = हाथी, कवलम् = ग्रास को, अपि = भी, न आदत्त = ग्रहण नहीं करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, तिरस्क्रिया = अपमान, तिरश्चाम् = तिर्यंचों के, वा = भी, सोढव्यताम् = सह्यपने को, न याति = प्राप्त नहीं होता ॥२॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी ने काष्ठांगार के जिस अशनिवेग नामक हाथी को अपने कड़े से आहत किया था, उसने उस प्रहार से अपना अपमान समझ कर महावत के द्वारा मनाये और डांटे जाने पर भी सुस्वादु भोजन भी त्याग दिया। ठीक ही है, क्योंकि मनुष्यो के समान पशु भी अपना अपमान सहन नहीं कर सकते, इसी प्रकार हाथी के भी अपमान सहन नहीं हुआ ॥२॥

काष्ठांगारस्तदाकर्ण्य, चुकोप स्वामिने भृशम् ।
सर्पिष्पातेन सप्तार्चि–रुदर्चिः सुतरां भवेत् ॥३॥

अन्वयार्थौ—काष्ठांगारः = हाथी का स्वामी काष्ठाङ्गार, तत् = उस समाचार को, आकर्ण्य = सुनकर, * स्वामिने = जीवन्धर स्वामी के लिये, भृशम् = अत्यन्त, चुकोप = क्रोधित हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, सर्पिष्पातेन = घृत के डालने से, सप्तार्चिः = अग्नि, सुतराम् = अत्यन्त, उदर्चिः = वर्धज्वाला वाली, भवेत् = हो जाती है ॥३॥

---

† ‡ उभयत्र दीर्घो नलोपश्च। * क्रुधद्रुह इति सूत्रेणात्र चतुर्थी।

भावार्थः—जैसे घी डालने से अग्नि की ज्वाला अधिक बढ़ जाती है, वैसे ही काष्ठाङ्गार भी अधोलिखित कारणों से जीवन्धर पर नाराज तो पहिले से ही था, और जिस समय उनके द्वारा किये गये अपने हाथी के अपमान का भी समाचार उसने सुना, उस समय वह उन पर और भी जल भुन गया ॥३॥

संगादनंगमालाया, विजयाच्च वनौकसाम् ।
वीणाविजयतश्चास्य, कोपाग्निः स्थापितो हृदि ॥४॥

अन्वयार्थौ—अनङ्गमालायाः = अनङ्गमाला के, सङ्गात् = व्याहने से वनौकसान् = भीलों के, विजयात् = जीतने से, च = और, वीणाविजयतः = वीणा में विजय पाने से, अस्य = इस काष्ठाङ्गार के, हृदि = हृदय में, (जीवन्धरं प्रति = जीवन्धर के प्रति) कोपाग्निः = क्रोधरूपी अग्नि, स्थापितः = स्थित, आसीत् = थी ॥४॥

भावार्थः—१–अपना अनादर करने वाली अनङ्गमाला नामक किसी सुन्दर युवती के साथ विवाह करने, २–राजकीय महती सेना को पराजित करने वाले भीलों के जीतने और ३–अपने हार जाने पर भी गुणमाला के साथ वीणा में विजय पाने के कारण जीवन्धर से काष्ठाङ्गार पहिले से ही चिढ़ा हुआ था ॥४॥

गुणाधिक्यं च जीवाना-माधेरेव हि कारणम् ।
नीचत्वं नाम किन्नु स्या-दस्ति चेद् गुणरागिता ॥५॥

अन्वयार्थौ—जीवानाम् = प्राणियों की, गुणाधिक्यम् = गुणों की अधिकता, च = भी (अन्येषाम् = औरों के) आधेः = मानसिक दुःख का, कारणम् = कारण, एव = ही, (भवति = होती है), नीतिः–हि = क्योंकि, चेत् = यदि, गुणरागिता = गुणग्राहकता, अस्ति = हो,

(तर्हि = तो) नीचत्वं नाम = नीचता (अपि = भी) किम् = कौन, स्यात् = रहे ॥५॥

भावार्थ—अन्य गुणीजनों के अनुपम गुणों को नीच मनुष्य सहन नहीं कर सकता, इसी कारण नीच काष्ठाङ्गार भी जीवन्धर स्वामी के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका, और उसने निम्नप्रकार नीचता प्रगट कर दिखाई ॥५॥

उपकारोऽपि नीचाना–मपकाराय कल्पते ।
पन्नगेन पयः पीतं, विषस्यैव हि वर्धनम् ॥६॥

अन्वयार्थौ—उपकारः = उपकार, अपि = भी, नीचानाम् = नीच जनों के, अपकाराय = अहित के लिये, कल्पते = माना जाता है। नीतिः—हि = क्योंकि, पन्नगेन = सर्प के द्वारा, पीतम् = पिया गया, पयः = दूध, विषस्य = विष का, वर्धनम् = बढ़ाने वाला, एव = ही (भवति = होता है) ॥६॥

भावार्थः—जिस प्रकार सर्प को दूध भी पिलाने से उसके विष की ही वृद्धि होती है, उसी प्रकार नीचजन उपकार को भी अपकार मानते हैं। तदनुसार जीवन्धर ने गुरु की आज्ञा को मान प्राणरक्षा आदि कर काष्ठांगार का महान् उपकार किया था, किन्तु उस नीच ने उसे भुलाते जरा भी देर न की ॥६॥

हस्तग्राहं ग्रहीतुं स, कुमारं प्राहिणोद्बलम् ।
मूढानां हन्त कोपाग्नि–रस्थानेऽपि हि वर्धते ॥७॥

अन्वयार्थौ—सः = वह काष्ठांगार, कुमारम् = जीवन्धर कुमार को, हस्तग्राहम् = हाथ पकड़ कर, ग्रहीतुम् = पकड़ लाने को, बलम् = सेना को, प्राहिणोत् = भेजता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, मूढानाम् = मूर्ख पुरुषों की, कोपाग्निः = क्रोधरूपी अग्नि, अस्थाने = अयोग्य स्थान में, अपि = भी, वर्धते = बढ़ती है ॥७॥

भावार्थः—उस काष्ठांगार ने जीवन्धर को हाथ पकड़ कर लाने के लिये अपनी सेना भेज दी। ठीक ही है, क्योंकि मूर्खजनो के "किस पर क्रोध करना चाहिये और किस पर नही" ऐसा विचार ही नही होता, तदनुसार मूर्ख काष्ठांगार ने भी महापुरुष जीवन्धर के साथ ऐसी नीचता करना भी अनुचित न समझा ॥७॥

कुमारावसथं पश्चात्, तत्सैन्यं पर्यवारयत् ।
मृगाः किं नाम कुर्वन्ति, मृगेन्द्रं परितः स्थिताः ॥८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके वाद, तत्सैन्यम् = उस काष्ठांगार की सेना, कुमारावसथम् = जीवन्धर कुमार के निवास स्थान को, पर्यवारयत = घेरती हुई । नीतिः-हि = क्योंकि, मृगेन्द्रं परितः = सिंह के चारों तरफ, स्थिताः = रहने वाले (अपि = भी) मृगा = हरिण, किं नाम = क्या, कुर्वन्ति = कर सकते हैं । (अपि तु किमपि न) ॥८॥

भावार्थः—काष्ठांगार की सेना ने जाकर जीवन्धर स्वामी के मकान को घेर लिया, किन्तु जिस प्रकार सिंह को घेर लेने वाले वहुत भी हरिण उसका जरा भी बिगाड़ नहीं कर सकते, इसी प्रकार वह सेना उनका जरा भी बिगाड़ नही कर सकी ॥८॥

प्रारेभे स कुमारोऽपि, प्रहर्तुं रोषतश्चमूम् ।
तत्त्वज्ञानजलं नो चेत्, क्रोधाग्निः केन शाम्यति ॥९॥

अन्वयार्थौ—सः = वह, कुमारः = जीवन्धर कुमार, अपि = भी, रोषतः = क्रोध से, चमूम् = सेना को, प्रहर्तुम् = मारने को, प्रारेभे = प्रारम्भ करता हुआ । नीतिः-हि = क्योंकि, चेत् = यदि, तत्त्वज्ञानजलम् = तत्त्वज्ञानरूपी जल, नो स्यात् = नहीं हो, तर्हि = तो, क्रोधाग्निः = क्रोधरूपी अग्नि, केन = किसके द्वारा, शाम्यति = शान्त की जा सकती है ॥९॥

भावार्थः—वे जीवन्धरकुमार भी क्रोध में आकर काष्टांगार की सेना को भूशय्या पर सुलाने की तैयारी करने लगे। ठीक ही है, क्योंकि—जैसे जल के बिना अग्नि नहीं बुझाई जा सकती, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के बिना क्रोध भी शान्त नहीं किया जा सकता। अतएव काष्टांगार की नीचता को देख कर जीवन्धर की भी बुद्धि चकरा गई, जिससे वे भी अपने क्रोध के वेग को न रोक सके और युद्ध की तैयारी करने लगे ॥९॥

न्यरौसीत्तस्य संनाह-मथ गन्धोत्कटः शनैः ।
अलघ्यं हि पितुर्वाक्य-मपत्यैः पथ्यकांक्षिभिः ॥१०॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट सेठ, तस्य = उस जीवन्धर की, सन्नाहम् = उस युद्धविषयिक तैयारी को, शनै = शान्तिपूर्वक, न्यरौसीत् = रोकता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, पथ्यकांक्षिभि. = अपने हित के इच्छुक, अपत्यैः = संतान के द्वारा, पितुः = अपने पिता का; वाक्यम् = वचन, अलंघ्यम् = उल्लंघन करने के अयोग्य (भवति = होता है) ॥१०॥

भावार्थ—जीवन्धर स्वामी की युद्ध-विषयिक तैयारी उनके पिता गन्धोत्कट ने समझा बुझा कर रोक दी, तब वे भी शान्त हो गये। ठीक ही है, क्योंकि-आत्म-हितैषी सुपुत्र अपने पिता की आज्ञा का उलघन नहीं करते, तदनुसार जीवन्धर ने भी इस नियम का पालन किया ॥१०॥

पश्चाद्द्धमसुं पश्चा-दसौ गन्धोत्कटो व्यधात् ।
न हि वारयितुं शक्यं, पौरुषेण पुराकृतम् ॥११॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके बाद, असौ = यह, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट, असुम् = इस जीवन्धर को, पश्चाद्द्धम् = पीछे की ओर मुस्कराद, व्यधात् = करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, पुराकृतम् =

पूर्वकृत दुष्कर्म, पौरुषेण = पुरुषार्थ से, वारयितुम् = नाश करने के लिये, शक्यम् = समर्थ, (न भवति = नहीं होता) ॥११॥

भावार्थः—युद्ध रोकने के बाद गन्धोत्कट ने जीवन्धर के हाथों को पीछे से बांध (मुश्कबद्ध) कर उन्हें काष्ठांगार की सेना को सौंप दिया। ठीक ही है, क्योंकि पूर्व जन्म में किये हुये दुष्कर्म का फल भोगना ही पड़ता है, तदनुसार जीवन्धर को भी पूर्वकृत पाप कर्म का फल चखना ही पड़ा ॥११॥

दृष्ट्वापि तं तथाभूतं, हन्तुमाह स दुर्मतिः ।
सतां हि प्रह्वता शान्त्यै, खलानां दर्पकारणम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—दुर्मतिः = दुष्ट, सः = वह (काष्ठांगार) तम् = उन, जीवन्धर को, तथाभूतम् = उस प्रकार मुश्कबद्ध, दृष्ट्वा = देखकर, अपि = भी, हन्तुम् = मारने को, आह = आज्ञा देता हुआ। नीतिः–हि = क्योंकि, सताम् = सज्जनों के, शान्त्यै = शान्ति के लिये (भविष्णी = होने वाली) प्रह्वता = नम्रता, खलानाम् = दुष्टों के, दर्पकारणम् = घमंड का कारण, एव = ही, भवति = होती है ॥१२॥

भावार्थः—गन्धोत्कट ने तो जीवन्धर को काष्ठांगार के पास अपने आप पहुँचकर राजाज्ञा का पालन और नम्रता ही प्रदर्शित की, किन्तु उस दुष्ट ने जीवन्धर को बंधा हुआ देख गर्व से उन्मत्त होकर उसे मारने की ही आज्ञा दी। ठीक ही है, क्योंकि सज्जन तो नम्रता के लिये झुक जाया करते हैं, किन्तु दुष्ट लोग उससे और अधिक घमंड में आ जाते हैं। तदनुसार दुष्ट काष्ठांगार के समक्ष भी गन्धोत्कट की नम्रता का विपरीत फल हुआ ॥१२॥

काष्ठांगारं कुमारोऽयं, गुरुवाक्येन नावधीत् ।
न हि प्राणवियोगेऽपि, प्राज्ञैर्लंघ्यं गुरोर्वचः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह, कुमारः=जीवन्धर, गुरुवाक्येन = गुरु की आज्ञा से (एव = ही) काष्ठांगारम् = काष्ठांगार को, न अवधीत = नहीं मारता हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, प्राज्ञैः = बुद्धिमानों के द्वारा, प्राणवियोगे = जान निकलने का अवसर आने पर, अपि = भी, गुरोः = गुरु की, वच = आज्ञा, लङ्घ्यम्=लंघनीय, न भवति=नहीं होती ॥१३॥

भावार्थः—यद्यपि जीवन्धर चाहते तो उस हालत में भी काष्ठांगार को जान से उड़ा देते, किन्तु इनके गुरु ने एक वर्ष तक काष्ठांगार को न मारने की प्रतिज्ञा (द्वितीय लम्ब में) करा दी थी, इसीलिये ही उन्हें शान्त रहना पड़ा। ठीक ही है, क्योंकि सुशील शिष्य अपनी जान पर भी क्यों न बन आवे, किन्तु गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करते। फिर भला सुयोग्य जीवन्धर अपने गुरुदेव की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकते थे ? ॥१३॥

यक्षेण तत्क्षणे स्वामी, स्मृतेनादायि कृत्यवित् ।
संचेतनः कथं नु स्या-दकुर्वन्प्रत्युपक्रियाम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—तत्क्षणे = उसी समय, स्मृतेन = स्मरण किये गये, यक्षेण = भूतपूर्व कुत्ते के जीव सुदर्शन यक्ष के द्वारा, कृत्यवित् = कार्यकुशल, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, आदायि = अदृश्य कर दिये गये। नीतिः—हि = क्योंकि, प्रत्युपक्रियाम् = प्रत्युपकार को, अकुर्वन् = नहीं करने वाला (जन = प्राणी) सचेतनः = सजीव, कथम् = कैसे, स्यात् = कहला सकता है ॥१४॥

भावार्थः—मृत्युदण्ड की आज्ञा पाने पर जीवन्धर ने अपने द्वारा उपकृत भूतपूर्व कुत्ते के जीव यक्षेन्द्र सुदर्शन का स्मरण किया, तदनुसार वह भी उसी समय आकर भरी सभा में से उन्हें उड़ा ले गया। ठीक ही है, क्योंकि उपकारी का

प्रत्युपकार न करने पर प्राणी को सचेतन कहलाने का अधिकार नहीं। प्रकृत में विवेकी यक्षेन्द्र ने भी अपने उपकारी जीवन्धर का प्रत्युपकार कर अपनी सचेतनता का परिचय दिया ॥१४॥

अतिमात्रशुचा लोकः, पुनरेवमचिन्तयत् ।
'गुणज्ञो लोक' इत्येषा, किम्वदन्ती हि सूनृतम् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, लोकः=जन समुदाय, अतिमात्रशुचा=अतिशय रज से, एवम्=अग्रिमरीति से, अचिन्तयत्=विचार करने लगा। नीति—हि=क्योंकि, लोकः—मनुष्य, गुणज्ञः=गुणों का जानने वाला, भवति=होता है, इति=इस प्रकार, एषा=यह किम्बदन्ती=कहावत, सूनृतम्=सत्य, (अस्ति=है) ॥१५॥

भावार्थः—जीवन्धर के मृत्युदण्ड का समाचार सुनते ही शोकसागर मे निमग्न हुई जनता निम्नप्रकार विचार करने लगी। ठीक ही है, क्योंकि 'जनता गुणो का आदर करती है' इस कहावत के अनुसार उस समय गुणग्राही जनसमुदाय का गुणी उस जीवन्धर को इस विशाल आपत्ति मे दुःखित होना उचित ही था ॥१५॥

अतिलोकमिदं शाठ्य, काष्टांगारस्य दुर्मतेः ।
एतावदेव किं शाठ्यं, स्वामिद्रोहादबिभ्यतः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—दुर्मतेः=दुष्टबुद्धि, काष्ठांगारस्य=काष्ठांगार की, इदम्=यह, शाठ्यम्=दुष्टता, अतिलोकम्=लोकातीत, जातम्=होगई (अथवा) स्वामिद्रोहात्=अपने स्वामी के साथ द्रोह से, अबिभ्यतः=नहीं डरने वाले काष्ठागार की, एतावत्=इतनी, एव=ही, शाठ्यम्=दुष्टता, किम्=क्या (अधिकम्=अधिक, अस्ति=है) ? ॥१६॥

भावार्थः—जनता विचार करती है कि निपराध जीवधर को मारने की आज्ञा देकर दुष्ट काष्टांगार ने जैसी दुष्टता की है, वैसी दुष्टता इस भूमण्डल पर और किसी ने कभी नहीं की। ठीक ही है, क्योंकि जब यह नीच, अपने लिये राज्य देने वाले उन परमोपकारक सत्यन्धर महाराज के साथ भी अन्याय करते नहीं लजाया था, तो फिर उनके सुपुत्र के साथ इतना अन्याय करना इसके लिये कोई विचित्र बात नहीं थी ॥१६॥

समवर्त्यपि दुर्वृत्ति – रासीदणक – भूपवत् ।
न ह्यसारतया हन्त, सोऽपि गृह्णाति दुर्जनान् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—हन्त = खेद है (यत् = कि) समवर्ती = समान वर्त्ताव करने वाला यमराज, अपि = भी, अणकभूपवत् = निकृष्ट राजा की तरह, दुर्वृत्तिः = पक्षपाती, आसीत् = हो गया । हि = क्योंकि, असारतया = साररहित होने से, सः = वह, यमराज, अपि = भी, दुर्जनान् = दुष्टों को, न गृह्णाति = ग्रहण नहीं करता ॥१७॥

भावार्थः—जनसमुदाय विचार करता है कि देखो, समवर्ती (सज्जन और दुर्जन के साथ समान व्यवहार शील-प्राण घातक) यमराज की भी अब कैसी विपरीत दशा हो गई है, कि वह भी इस समय काष्टांगार जैसे दुष्ट व्यक्ति को निस्सार समझ कर ग्रहण नही कर रहा है। तात्पर्य यह है कि ऐसे अन्यायी दुष्ट पुरुषों के गर्हित जीवन की अपेक्षा मरण ही अच्छा है ॥१७॥

वारि हंस इव क्षीरं, सारं गृह्णाति सज्जनः ।
यथाश्रुतं यथारुच्यं, शोच्यानां हि कृतिर्मता ॥१८॥

अन्वयार्थौ—सज्जनः = सज्जन पुरुष, वारि = जलमें, (मिश्रितम् = मिले हुये) क्षीरम् = दूध को, हंसः इव = हंस के समान, सारम् =

सार भाग को, गृह्णाति = ग्रहण करता है, किन्तु, शोच्यसताम् = दुर्जनों का, कृतिः = कार्य, हि = निश्चय से, यथाश्रुतम् = सुनने के अनुकूल च = और, यथारुच्यम् = रुचि के अनुकूल, मता = माना गया है ॥१८॥

भावार्थ —जैसे कि हस मिले हुये दूध और पानी में से दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है, उसी प्रकार सज्जन भी उभय प्रकार की वस्तु या वातो में सारभाग को तो ग्रहण कर लेते हैं और असारभाग को छोड़ देते हैं। किन्तु दुर्जनो के सारासार का विचार नही होता, वे तो जनश्रुति और अपनी रुचि के अनुसार ही कार्य कर डालते हैं। अतएव इस नियम के अनुसार काष्ठांगार का यह कृत्य आश्चर्यजनक नहीं है।

हेत्वन्तरकृतोपेक्षे, गुणदोषप्रवर्तिते ।
स्यातामादानहाने चे, त्तद्धिसौजन्यलक्षणम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि, हेत्वन्तरकृतोपेक्षे = दूसरे कारणों की अपेक्षा रहित, गुणदोषप्रवर्तिते = केवल लाभ और हानि को लक्ष्य कर किये गये, आदानहाने = किसी वस्तु के ग्रहण और त्याग, स्याताम् = होवें, तर्हि = तो, हि = निश्चय से, तत् = वह, एव = ही, सौजन्यलक्षणम् = सज्जनता का चिह्न, अस्ति = है ॥१९॥

भावार्थः—किसी प्रकार की प्रेरणा, दबाव या अन्य कारण के विना वस्तु से होने वाले लाभालाभ का विचार कर ही उसे ग्रहण करना अथवा त्यागना ही सज्जनता कहलाती है। अतएव काष्ठांगार ने बिना विचारे ही निर्दोष भी जीवन्धर के साथ अन्याय्य व्यवहार कर अपनी दुर्जनता का ही परिचय दिया है ॥१९॥

युक्तायुक्तवितर्केऽपि, तर्कारूढविधावपि ।
पराङ्मुखात्फलं किम्वा, वैदुष्याद्वैभवादपि ॥२०॥

अन्वयार्थौ—युक्तायुक्तवितर्के = योग्य और अयोग्य का विचार हो जाने पर, तर्करूढविधौ = विचाराधीन कर्त्तव्य कार्य के निश्चित हो जाने पर, अपि = भी, पराङ्मुखात् = उलटा कार्य कराने वाली, वैदुष्यात् = विद्वत्ता से (च = और) वैभवात् = ऐश्वर्य से, अपि = भी, किम् = क्या, फलम् = फल (अस्ति = है ? किन्तु, किमपि न) ॥२०॥

भावार्थ—योग्यायोग्य के विचार से कर्त्तव्य कार्य के निश्चित हो जाने पर भी विपरीत (अनुचित) कार्य मे प्रवृत्ति कराने वाले शास्त्रविषयिक पाण्डित्य और ऐश्वर्य व्यर्थ ही हैं। निष्कर्ष.—काष्ठांङ्गार ने भी योग्यायोग्य का विचार रखते हुये भी स्वार्थवश जीवन्धर को अनुचित मृत्युदण्ड देकर अपने पाण्डित्य और महत्त्व को निष्फल प्रगट किया है ॥२०॥

इत्यूहादाधि - मापन्ने, लोके तेऽपि युयुत्सवः ।
सखायः सानुजाः सर्वे, पश्चात्तापमुपागमन् ॥२१॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, ऊहात् = विचार से, लोके = जनसमुदाय के, आधिम् = हार्दिक दुःख को, आपन्ने सति = प्राप्त होने पर, युयुत्सव. = युद्ध के इच्छुक, सानुजाः = छोटे भाई (नन्दाढ्य) सहित, ते = वे, सर्वे = सब, सखाय. = मित्र, अपि = भी, पश्चात्तापम् = रंज को, उपागमन् = प्राप्त हुये ॥२१॥

भावार्थः—जीवन्धर के साथ अनुचित व्यवहार करने के कारण काष्ठागार के साथ युद्ध करने के इच्छुक उनके छोटे भाई नंदाढ्य तथा अन्य मित्र भी जीवन्धर के वियोग से जनता के पूर्वोक्त शोक को देखकर शोकातुर हो गये ॥२१॥

स्मरन्तौ मुनिवाक्यस्य, सप्रमाणौ पितरौ स्थितौ ।
वितथे मुनिवाक्येऽपि, प्रामाण्यं वचने कुतः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—मुनिवाक्यस्य = मुनिराज के वचन का, स्मरन्तौ = स्मरण करते हुये, पितरौ = माता पिता, सप्राणौ = जीवित, स्थितौ = रहे । हि = क्योंकि, मुनिवाक्ये = मुनिराज के वचन के, अपि = भी, वितथे सति = झूठ होने पर, वचने = वचन मे, प्रामाण्यम् = प्रमाणता, कुतः = कैसे, भवति = हो सकती है ? ॥२२॥

भावार्थः—जीवन्धर कुमार के प्राणदण्ड के समाचार को सुनकर उनकी माता सुनन्दा और पिता गन्धोत्कट यद्यपि प्राणपरित्याग किये बिना न रहते, किन्तु एक समय चर्या के निमित्त अपने यहां आये हुये किसी महर्षि ने जो भविष्य मे जीवन्धर की उन्नतिसूचक वचन कहे थे, उनकी याद कर उस समय उन्होने धैर्य ही धारण किया । ठीक ही है, क्योंकि दिगम्बर जैन मुनिराज का वचन झूठ कभी नही हो सकता, अतएव उस पर उनका विश्वास करना उचित ही था ॥२२॥

स्वामिनो न विषादो वा, प्रसादो वा तदाऽभवत् ।
किन्तु पूर्वकृतं कर्म, भोक्तव्यमिति मानसम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, स्वामिन = जीवन्धर स्वामी के, विषादः = खेद, वा = अथवा, प्रसाद. = हर्ष, न अभवत् = नहीं हुआ । किन्तु, पूर्वकृतम् = पहिले किया हुआ, कर्म = कर्म, भोक्तव्यम् = भोगना ही पड़ता है, इति = इस प्रकार, मानसम् = मन में विचार, (जातम् = हुआ) ॥२३॥

भावार्थ.—जीवन्धर स्वामी ने काष्ठांगार के द्वारा मृत्यु-दंड की आज्ञा पाने पर भी खेद नही किया था और यक्षेन्द्र के द्वारा छुड़ाये जाने पर हर्ष भी नहीं माना । किन्तु उस समय उन्होंने यही विचार किया कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म का फल प्राणी को अवश्य भोगना पड़ता है । अतएव कर्मों के शुभाशुभ

फल में मेरा हर्ष या विषाद करना निःसार (व्यर्थ) ही है ॥२३॥

अथ चन्द्रोदयाह्वान–पर्वतस्थं स्वमन्दिरम् ।
यक्षेन्द्रः स्वामिनं नीत्वा, कृतवानभिषेचनम् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, यक्षेन्द्रः=यक्षेन्द्र, स्वामिनम्= जीवन्धर स्वामी को, चन्द्रोदयाह्वानपर्वतस्थम् = चन्द्रोदयनामक पर्वत पर स्थित, स्वमन्दिरम् = अपने निवास स्थान को (द्विकर्मकत्वात् द्वितीया), नीत्वा = ले जाकर, अभिषेचनम् = अभिषेक को, कृतवान् = करता हुआ ॥२४॥

भावार्थः—यक्षेन्द्र ने जीवन्धर स्वामी को चन्द्रोदय-नामक पर्वत पर स्थित अपने निवास स्थान पर ले जाकर उनका अभिषेक किया ॥२४॥

विपच्च सम्पदे पुण्यात्, किमन्यत्तत्र गण्यते ।
भानु र्लोकं तपन्कुर्या—द्विकाशश्रियमम्बुजे ॥२५॥

अन्वयार्थौ—पुण्यात्=पुण्योदय से, विपत्=आपत्ति, अपि= भी, संपदे=सुख के लिये, स्यात्=हो जाती है। पुनः=फिर, तत्र=इस विषय में, अन्यत्=और, किम्=क्या, गण्यते = गिना जा सकता है। यथा=जैसे, लोकम्=अखिल ससार को, तपन्=सतप्त करता हुआ, भानुः = सूर्य, अम्बुजे=कमलों की कलियों में, विकासश्रियम्=विकास को, कुर्यात्=करता है ॥२५॥

भावार्थः—जैसे, जो सूर्य समस्त संसार को अपने तेज से सतप्त करता है, वही सूर्य भाग्यवान् कमल को विकसित कर उसके सुख का साधन होता है, उसी प्रकार जब पुण्य का उदय होता है, तब आपत्तियां भी सुख का साधन हो जाती हैं। तदनुसार जीवन्धर के भी पुण्य का उदय था अतएव उनको दिया हुआ मृत्युदण्ड भी उनके अभिषेक का कारण हुआ ॥२५॥

पयोवार्धिपयः — पूरै—रभिषिच्यायमब्रवीत् ।
पवित्रोऽसि पवित्रं मां, श्वानं यत्कृतवानिति ॥२६॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह (यक्षेन्द्र) पयोवार्धिपयःपूरै = क्षीरसागर के जल की धाराओं से, अभिषिच्य=अभिषेक करके (यत्= जिस कारण) त्वम्=तुम, श्वानम्=भूतपूर्व कुत्ते, माम्=मुझ को, पवित्रम्=पवित्र देव, कृतवान्=करने वाले, असि=हो, तत्=इसीलिये, (मे=मेरे, त्वम्=तुम) पवित्रः=माननीय, असि=हो, इति=इस प्रकार, अब्रवीत्=कहने लगा ॥२६॥

भावार्थः—उस सुदर्शन यक्ष ने वहां पर क्षीरसागर का जल लाकर जीवन्धर स्वामी का अभिषेक किया और कहा कि आपने मुझे कुत्ते की पर्याय में णमोकार मंत्र सुनाकर पवित्र देवपर्याय प्राप्त कराई है, अतएव आप मेरे परम उपकारी और मान्य हैं, इस लिये मैंने आपका अभिषेक किया है और अब आपका नाम भी "पवित्रकुमार" कहा जाना चाहिये ॥२६॥

कामरूपविधौ गाने, विषहाने च शक्तिमत् ।
यक्षेन्द्रः स्वामिने पश्चा—न्मंत्रत्रयमुपादिशत् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=अभिषेक करने के बाद, यक्षेन्द्रः=यक्षेन्द्र स्वामिने=जीवन्धर स्वामी के लिये, कामरूपविधौ=इच्छानुसार भेष बनाने में, गाने=गान गाने में, च=और, विषहाने=विषको दूर करने में, शक्तिमत्=समर्थ, मंत्रत्रयम्=तीन मंत्रों को, उपादिशत्=प्रदान करता हुआ ॥२७॥

भावार्थः—उस यक्षेन्द्र ने अभिषेक करने के बाद उन जीवन्धर को आदरपूर्वक तीन मंत्र भी प्रदान किये। जिनमें से प्रथममंत्र के प्रभाव से तो इच्छानुकूल वेश धारण किया जा

सकता था, दूसरा मनोमोहक गान गाने की शक्ति प्रदान करता था और तीसरा हालाहल विषको दूर करने को समर्थ था ॥२७॥

एकहायनमात्रेण, धुरि राज्ञां प्रवेक्ष्यसि,
मोक्षस्यैव पवित्र त्वं, पश्चादिति च सोऽब्रवीत् । २८॥

अन्वयार्थौ—पवित्र=हे माननीय अथवा पवित्रापरनामक जीवन्धर, त्वम्=तुम, एक हायनमात्रेण=एक वर्ष में (कालवाचित्वात् तृतीया), राज्ञाम्=राजाओं के, धुरि=प्रधान पद पर, प्रवेक्ष्यसि=प्रवेश करोगे। पश्चात्=पीछे, मोक्षस्य=मोक्ष के, धुरि=उत्तम पद पर, एव भी, प्रवेक्ष्यसि, इति= इस प्रकार, सः=वह यक्षेन्द्र, अब्रवीत्=कहता हुआ ॥२८

भावार्थ—उस यक्षेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जानकर जीवन्धर से यह भी कहा कि हे मान्य ! आप एक वर्ष मे ही राजा हो जावेगे और राज्य सुख भोगकर अन्त मे मोक्ष को भी प्राप्त करेंगे।

तथा सम्भाव्यमानस्य, स्वामिनस्तेन संततम् ।
देशान्तरदिदृक्षाभूद्-भाव्यधीनं हि मानसम् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—तेन=उस सुदर्शन के द्वारा, संततम्=निरन्तर, तथा=उस प्रकार, सम्भाव्यमानस्य=सत्कृत किये जाने वाले, स्वामिन.= जीवन्धर स्वामी के, देशान्तरदिदृक्षा=अन्य देशों के देखने की इच्छा, अभूत्=हुई। नीतिः—हि=क्योंकि, मानसम्=विचार, भाव्यधीनम्=भावी के अनुकूल, एव=ही, भवति=होता है ॥२९॥

भावार्थः—यद्यपि वह यक्ष पूर्वोक्तरीति से जीवन्धर का अपूर्व सन्मान कर रहा था; फिर भी उनके देशान्तर को देखने की इच्छा हुई। ठीक ही है, क्योकि प्राणी का विचार भावी के अनुसार होता है। जीवन्धर का भी भविष्य समुज्वल था (पुण्य और स्त्रीलाभ होना था) अतः उनके भी तदनुकूल बुद्धि उपजी ॥२९॥

मनीषित हितान्वेषी, ज्ञात्वा तस्य मनीषिणः ।
अनुमेने स देवोऽपि, त्रिकालज्ञा हि निर्जराः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हितान्वेषी = हितेच्छु, सः = वह, देवः = देव, अपि = भी, तस्य = उस, मनीषिणः = बुद्धिमान् जीवन्धर के, मनीषितम् = अभिप्राय को, ज्ञात्वा = जानकर, अनुमेने = अनुमति देता हुआ। नीतिः— हि = क्योंकि, निर्जराः = देव, त्रिकालज्ञाः = तीनों कालों की बात के, जानकार, भवन्ति = होते हैं ॥३०॥

भावार्थ—यक्षेन्द्र ने भी जीवन्धरकुमार के गमन-विषयिक अभिप्राय को जानकर उन्हें जाने की अनुमति दे दी। ठीक ही है, क्योंकि देव अवधिज्ञान द्वारा त्रिकाल की बात जान लेते हैं। अतएव यक्षेन्द्र ने भी बिना कहे ही जीवन्धर का अभिप्राय जान लिया ॥३०॥

इदन्तया पथोदन्त-मुपादिश्याथ सम्मतः ।
सुदर्शनेन सोऽयासी-द्धितकृत्त्वं हि मित्रता ॥३१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सुदर्शनेन = सुदर्शन यक्ष के द्वारा, इदन्तया = यथोचित रीति से, पथोदन्तम् = मार्गके वृत्तान्त को, उपादिश्य = बताकर, सम्मतः = अनुमत, सः = वह कुमार, अयासीत् = रवाना हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, हितकृत्त्वम् = हितकारीपना, एव = ही, मित्रता = मित्रता, भवेत् = कहलाती है ॥३१॥

भावार्थ—पश्चात् उस सुदर्शन यक्ष ने जीवन्धर को गमन के अनुकूल मार्ग बतलाया। ठीक ही है, क्योंकि अपने मित्र का हित करना ही मित्रता है। अतएव यक्ष ने भी अपने मित्र जीवन्धर को योग्य मार्ग बता कर अपने वास्तविक मित्रपने का परिचय दिया। पश्चात् वे कुमार वहां से रवाना हुये ॥३१॥

एकाकी व्यहरत्स्वामी, निर्भयोऽयमितस्ततः।
न हि स्ववीर्यगुप्तानां, भीतिः केशरिणामिव ॥३२॥

अन्वयार्थौ—अयम् = ये, स्वामी = जीवन्धर, एकाकी=अकेले, (सन् = होते हुये, अपि = भी) निर्भयः = भयरहित, (सन् = होते हुये) इतस्ततः = इधर उधर, व्यहरत् = विहार करने लगे। नीतिः—हि= क्योंकि, स्ववीर्यगुप्तानाम् = अपने पराक्रम से रक्षित प्राणियों के, स्ववीर्यगुप्तानां केशरिणाम् इव=पराक्रमी सिंहों के समान, (अन्येभ्यः=दूसरों से) भीतिः = भय, न भवति = नहीं होता ॥३२॥

भावार्थः—जैसे सिंह गहन जगल मे स्वतन्त्रतापूर्वक अकेला ही घूमता रहता है, अपने पराक्रम के प्रभाव से उसे किसी दूसरे का जरा भी डर नहीं होता, उसी प्रकार जीवन्धर भी अकेले ही इच्छित स्थानों मे प्रवास कर रहे थे, तो भी उन्हे किसी से जरा भी भय नही हुआ ॥३२॥

एकाकिनोऽपि नोद्वेगो, वशिनस्तस्य जातुचित्।
विक्रिया हि विमूढानां, सम्पदापल्लवादपि ॥३३॥

अन्वयार्थौ—एकाकिनः = अकेले, अपि = भी, वशिनः= जितेन्द्रिय, तस्य = उन जीवन्धर के, जातुचित् = कभी भी, उद्वेगः = घबराहट, न अभूत् = नहीं हुई। नीति.—हि = क्योंकि, विमूढानाम् = मूर्खों के, एव = ही, सम्पदापल्लवात् = थोड़ी सी सम्पत्ति और विपत्ति से, विक्रिया = विकारभाव (हर्षविषाद) जायते = उत्पन्न होता है, (महतां न=महाजनों के नहीं) ॥३३॥

भावार्थः—थोड़ी सी ही सम्पत्ति से हर्ष और थोड़ी सी ही विपत्ति से विषाद मूर्खों के ही होता है, बुद्धिमानों के नहीं अतएव, महापुरुष (राजपुत्र) जीवन्धर के चित्त मे अकेले (कुटुम्बी व परिजन आदि स वियुक्त) रहने रूप विपत्ति से

जरा भी खेद नहीं हुआ ॥२३॥

अरण्ये क्वचिदालोक्य, वनदावेन वारितान् ।
दह्यमानानसौ मह्य–स्त्रातुमैच्छदनेकपान् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह, मह्यः = माननीय (जीवन्धर), क्वचित् = किसी, अरण्ये = जगल में, वनदावेन = वन की अग्नि से, वारितान् = घिरे हुये, (अतएव) दह्यमानान् = जलते हुये, अनेकपान् = हस्तियों को, आलोक्य = देखकर, त्रातुम् = रक्षा करने को, ऐच्छत् = चाहने लगा ॥३४॥

भावार्थः—उन जीवन्धर स्वामी ने किसी जगल में पहुँच कर चारों ओर से लगी हुई अग्नि में घिर कर जलते हुये कुछ हस्तियो को देख उन्हे बचाने की इच्छा की ॥३४॥

'धर्मो नाम कृपामूलः' सा तु जीवानुकम्पनम् ।
अशरण्यशरण्यत्व–मतो धार्मिकलक्षणम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—धर्मः = धर्म, कृपामूल = दया है मूल जिसमें ऐसा, (अस्ति = है) । तु=और, सा=वह दया, जीवानुकम्पनम्=जीवों की रक्षा करना, (एव=ही, अस्ति=है अत.=इसलिये, अशरण्यशरण्यत्वम्= रक्षाविहीनों की रक्षा करना, (एव = ही) धार्मिकलक्षणम् = धर्मात्मा का लक्षण, (अस्ति = है) ॥३५॥

भावार्थः—दया ही धर्म का मूल है, और जीवों की रक्षा करना ही दया है, तथा रक्षाविहीनों की रक्षा करना ही धार्मिकता है । इसलिये रक्षाविहीन हस्तियों की रक्षा की इच्छा करने से जीवन्धर की धार्मिकता का भी जनसाधारण को परिज्ञान हुआ ॥३५॥

ववृषु वारिदास्तत्र, तावत्तैा सगर्जिताः ।
सुकृतीनामहो वाञ्छा, सफलैव हि जायते ॥३६॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, एव = ही, तत्र = वहां पर, सगर्जिताः = गर्जना करते हुये, वारिदाः = मेघ, ववृषुः = वरसे। नीतिः- अहो = आश्चर्य है (यत् = कि) सुकृतीनाम् = पुण्यवानों की, वाञ्छा = इच्छा, सफला = सफल, एव = ही, जायते = होती है ॥३६॥

भावार्थः—जिस समय जीवन्धर ने हस्तियों को बचाने की इच्छा की थी, उसी समय उस वन में गर्जना करते हुये मेघ वरसे। ठीक ही है, क्योंकि पुण्यवानों की इच्छा विफल नहीं होती, अतएव पुण्यात्मा जीवन्धर की हाथियों की रक्षा रूप इच्छा भी मेघवृष्टि से अग्नि बुझ कर सफल ही हुई ॥३६॥

अनेकपानसौ वीक्ष्य, रक्षितानतृपत्तराम् ।
स्वयं त्वासीत्समः स्वामी, स्वस्य बंधविमोक्षयोः ३७॥

अन्वयार्थौ—असौ = ये जीवन्धर, अनेकपान् = हस्तियों को, रक्षितान् = अग्नि द्वारा जलने से बचे हुये, वीक्ष्य = देखकर, अतृपत्तराम् = अत्यन्त संतुष्ट हुये। किन्तु, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, स्वस्य = अपने, बन्धविमोक्षयोः = फँस जाने और बच जाने में, स्वयम् = खुद, समः = हर्षविषाद रहित, आसीत् = थे ॥३७॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी ने काष्ठांगार के द्वारा अपने पकड़ाये जाने और यक्षेन्द्र के द्वारा छुडाये जाने पर तो जरा भी हर्ष और विषाद नहीं किया था किन्तु हस्तियो को अग्नि से घिरे देखकर खेद और वृष्टि द्वारा उनके बच जाने पर सताप किया ॥३७॥

सम्पदापदद्वये स्वेषां, समभावा हि सज्जनाः ।
परेषान्तु प्रसन्नाश्च विपन्नाश्च निसर्गतः ॥३८॥

अन्वयार्थौ—सज्जनाः = सज्जनपुरुष, स्वेषाम् = अपने, सम्पदापद्द्वये = सुख और दुःख में, (हि = निश्चयसे समभावाः = समानभाव

वाले [रागद्वेषरहित] (भवन्ति = रहते हैं)। तु = किन्तु, परेषाम्=दूसरों के सम्पदापद्द्वये=सम्पत्ति और विपत्ति में, निसर्गतः = स्वभाव से, प्रसन्नाः=प्रसन्न, च = और, विपन्नाः=दुःखी (भवन्ति=होते हैं) ॥३८॥

भावार्थः—महापुरुष, अपने लिये सुखसामग्री के मिलने पर तो फूलते नहीं हैं, और दुःखसामग्री के सयोग होने पर घबड़ाते भी नहीं, अर्थात् दोनों मे समभाव रखते हैं। किन्तु वे ही दूसरों के दुःख आने पर दुःखी और सुख आने पर हर्षित होते ही हैं। तदनुसार (३७ वे श्लोक) का कुल भावार्थ यहां जोड़कर भावार्थ पूरा करना चाहिये ॥३८॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, तीर्थस्थानान्यपूजयत् ।
सदसत्त्वं हि वस्तूनां, संसर्गादेव दृश्यते ॥३९॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, (सः = वह कुमार) तस्मात्= उस वन से, विनिर्गत्य = निकल कर, तीर्थस्थानानि = तीर्थस्थानों को, अपूजयत्=पूजता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, वस्तूनाम् = पदार्थों की, सदसत्त्वम्=अच्छाई या बुराई, संसर्गात्=संगति से, एव = ही, दृश्यते=देखी जाती है ॥३९॥

भावार्थ—हस्तियों की रक्षा करने के बाद जीवन्धर कुमार उस वन से आगे चल दिये। और मार्ग में जो जो तीर्थ-स्थान मिले, उन सबकी उन्होंने वंदना की। यद्यपि तीर्थस्थानों की भूमि भी एक साधारण पृथ्वी थी परन्तु उस पृथ्वी पर तीर्थंकर आदि महापुरुषों का विहार या उनके गर्भावतरणादि कल्याणक सम्पन्न हुये थे, अतः उसे पूज्य जान स्वामी जीवन्धर ने मार्ग में बीचों बीच प्राप्त हुये उन तीर्थस्थानों की भी पूजा की ॥३९॥

अथ सम्भावयामास, यक्षी सा धर्मरक्षिणी।
धर्ममूर्तिममुं तत्र, सम्यक्कशिपुदानतः ॥४०॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके वाद, तत्र=वहां पर, धर्मरक्षिणी=जिनशासन की रक्षा करने वाली, सा=प्रसिद्ध, यक्षी=कोई यक्षिणी, धर्ममूर्तिम्=धर्मात्मा, अमुम्=इस जीवन्धर को, कशिपुदानतः=अन्न वस्त्रादि के दान से, सम्यक्=भली प्रकार, सम्भावयामास=सत्कृत करती हुई ॥४०॥

भावार्थः—वदना करते समय किसी तीर्थस्थान में जिनशासन की रक्षिणी एक प्रसिद्ध यक्षिणी (देवी) ने अन्न और वस्त्रादि देकर धर्मात्मा जीवन्धर का वहुत सत्कार किया ॥४०॥

दैवतेनापि पूज्यन्ते, धार्मिकाः किम्पुनः परैः ।
अतो धर्मरताः सन्तु, शर्मणे स्पृहयालवः ॥४१॥

अन्वयार्थौ—धार्मिकाः=धर्मात्मा प्राणी, दैवतेन=देवसमूह के द्वारा, अपि=भी, पूज्यन्ते=पूजे जाते हैं। पुनः=फिर, परैः=दूसरों से, किम्=क्या, (वक्तव्यम्=कहना है, (अतः=इसलिये) शर्मणे=सुख को, (इच्छार्थकधातो योगे चतुर्थी) स्पृहयालवः=चाहने वाले प्राणी, धर्मरताः=धर्म में लवलीन, सन्तु=हों ॥४१॥

भावार्थ—अन्य मनुष्यादि की तो वात ही क्या, किन्तु इस लोक में धर्मात्माओं की देव भी पूजा करते हैं, इसलिये देव-पूजा आदि सुखों की चाह करने वालों का कर्तव्य है, कि वे उसके कारणभूत धर्म का पालन करें। इसी नीति के अनुसार धर्मात्मा जीवन्धर ने भी देवी के द्वारा सत्कार पाया ॥४१॥

ततः पल्लवदेशस्थां, चन्द्राभाख्यां क्रमात्पुरीम् ।
भेजे शुभनिमित्तेन, सनिमित्ता हि भाविनः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके वाद, (जीवन्धरकुमार) क्रमात्=क्रम से, पल्लवदेशस्थाम्=पल्लव देश में स्थित, चन्द्राभाख्याम्=चन्द्राभा-नामक, पुरीम्=नगरी को, शुभनिमित्तेन=पुण्योदय, भाग्यवश या

शुभशकुनों से, भेजे=प्राप्त हुये। नीतिः-हि = क्योंकि, भाविनः = भविष्य में होने वाले कार्य, सनिमित्ताः=पुण्योदयजन्य; भाग्याधीन या शकुनपूर्वक (भवन्ति=होते हैं) ॥४२॥

भावार्थः—जीवन्धर वहां से प्रस्थान कर क्रमशः पल्लव देश मे स्थित चन्द्राभा नगरी में जा पहुंचे। क्योंकि भविष्य कार्य की अच्छाई मे पुण्यसयोग, भाग्य या शुभशकुन कारण अवश्य होते हैं। निष्कर्षः-जीवन्धर को भी चन्द्राभा में होने वाली भविष्य इष्टप्राप्ति मे उनका पुण्य सयोग, भाग्य और प्राप्त शुभशकुन कारण हुये ॥४२॥

राज्ञो धनपतेः पुत्रीं—महिदष्टामजीवयत् ।
"निर्हेतुकान्यरक्षा हि, सतां नैसर्गिको गुणः ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(तत्र=उस चन्द्राभा नगरी में, जीवन्धरकुमार), धनपतेः=धनपति नामक, राज्ञः=राजा की, अहिदष्टाम्=सर्प के द्वारा डँसी हुई, पुत्रीम्=पुत्री को, अजीवयत्=जिलाते हुये। नीतिः-हि= क्योंकि, निर्हेतुका=विना कारण, अन्यरक्षा=दूसरों की रक्षा करना, सताम्=सज्जनों का, नैसर्गिकः=स्वाभाविक, गुणः=गुण, (अस्ति=है)।४३।

भावार्थ—चन्द्रभा नगरी के राजा धनपति की सुपुत्री पद्मा को उसी दिन सर्प ने काट खाया था। इस बात का पता चलते ही जीवन्धर कुमार उसके पास गये और अपने विष-नाशक मत्र के प्रभाव से क्षणमात्र में उन्होंने उसे विष रहित भी कर दिया। ठीक ही है, क्योंकि बिना किसी स्वार्थ के दूसरो रक्षा करना सज्जनों का स्वाभाविक गुण है। तदनुसार सज्जन जीवन्धर नेभी विना किसी स्वार्थके इस कन्याकी प्राण रक्षा की।

लोकपालस्तदालोक्य, तज्ज्येष्ठस्तमपूजयत् ।
प्राणप्रदायिनामन्या, न ह्यस्ति प्रत्युपक्रिया ॥४४॥

अन्वयार्थौ—(तदा=तब) तज्ज्येष्ठः=उस पुत्री का बडा भाई, लोकपालः=लोकपाल, तत् = उस हाल को, आलोक्य = देखकर, तम्= उन जीवन्धर को, अपूजयत्=सत्कृत करता हुआ। नीति –हि=क्योंकि, प्राणप्रदायिनाम् = प्राणरक्षा करने वालों का, अन्या = दूसरा कोई, प्रत्युपक्रिया=प्रत्युपकार, न अस्ति=नहीं होता ॥४४॥

भावार्थ—राजकुमारी पद्मा के बड़े भाई लोकपाल ने जीवन्धर के द्वारा अपनी बहिन के निर्विष होने का समाचार सुनकर उनका बहुत आदर सत्कार किया। ठीक ही है, क्योकि प्राणदान देने वालों का तुच्छ वस्तुओं से प्रत्युपकार किया ही नहीं जा सकता। अतएव लोकपाल ने भी सांसारिक वस्तुओ को उनके सत्कार के अयोग्य समझ उनका यथोचित आदर मात्र ही किया ॥४४॥

पूज्या अपि स्वयं सन्तः, सज्जनानां हि पूजकाः।
पूज्यत्वं नाम किन्नु स्यात्, पूज्यपूजाव्यतिक्रमे ॥४५॥

अन्वयार्थौ—स्वयम् = खुद, पूज्याः = पूजनीय, अपि = भी, सन्त =सज्जन, सज्जनानाम्=सज्जनों के, पूजकाः=पूजक, (भवन्ति=होते हैं)। नीतिः–हि = क्योंकि, पूज्यपूजाव्यतिक्रमे=पूज्यपुरुषों की पूजा का उल्लंघन करने पर, पूज्यत्व नाम = पूज्यपना, स्यात = हो सकता है, किन्नु=क्या ? किन्तु, न स्यात् = नहीं हो सकता ॥४५॥

भावार्थः—महापुरुष यद्यपि अपने से छोटो के द्वारा खुद पूजनीय होते हैं फिर भी वे अपने से बडो की स्वय पूजा (सत्कार) करते हैं। क्योकि इस नियम को भग कर यदि वे अपने से बड़ों का सत्कार न करे, तो उनमें स्वयं पूज्यपना नहीं रह सकेगा। इसी नीति के अनुसार प्रजा के पूज्य लोकपाल ने महापुरुष जीवन्धर का अभूतपूर्व आदर किया ॥४५॥

प्राज्ञेषु प्रह्वतावश्य — मात्मवश्योचिता मता ।
प्रह्वताऽपि धनुष्काणां, कार्मुकस्येव कामदा ॥४६॥

अन्वयार्थौ—आत्मवश्या=आत्मा के वश में रहने वाली, प्रह्वता=नम्रता, प्राज्ञेषु=बुद्धिमानों में, अवश्यम्=अवश्य, उचिता=रहने योग्य, मता = मानी गई है । नीतिः-हि = क्योंकि, प्रह्वता=नम्रता, अपि=भी, धनुष्काणाम्=धनुर्धारियों के, कार्मुकस्य=धनुष की, प्रह्वता इव = नम्रता के समान, कामदा = मनोरथ को सिद्ध करने वाली, (भवति=होती है) ॥४६॥

भावार्थः—जिस प्रकार धनुष की नवन (नम्रता) भली प्रकार लक्ष्यवेध कर धनुर्धारी के मनोरथ को पूर्ण करती है, उसी प्रकार नम्रता से विनम्र मनुष्य के भी इच्छित कार्य पूर्ण हो जाते हैं, अतएव महापुरुषों में नम्रता का होना परमावश्यक है । तदनुसार सज्जन लोकपाल ने भी नम्रता प्रदर्शित कर अपनी महत्ता का पवित्र परिचय दिया ॥४६॥

वपुर्वीक्षणमात्रेण, निरणाय्यस्य वैभवम् ।
वपुर्वक्ति हि माहात्म्यं, दौरात्म्यमपि तद्विदाम् ॥४७॥

अन्वयार्थौ—तेन=उस लोकपाल ने, वपुर्वीक्षणमात्रेण=शरीर के देखने मात्र से अस्य = इस जीवन्धर का, वैभवम् = ऐश्वर्य, निरणायि=निश्चित किया । नीतिः-हि=क्योंकि, वपुः=शरीर तद्विदाम्=शरीर के लक्षणों को जानने वालों के, (अर्थे=वास्ते) माहात्म्यम्=सज्जनता को (च=और) दौरात्म्यम्=दुर्जनता को, अपि=भी, वक्ति=बतला देता है ॥४७॥

भावार्थः—शरीर के शुभाशुभ लक्षणों के जानकार मनुष्य, शरीर को देखकर ही शरीरी (प्राणी) की सज्जनता और दुर्जनता का, परिज्ञान कर लेते हैं । तदनुसार शरीर के

लक्षणों के जानकार लोकपाल ने भी केवल शरीर को देख कर ही जीवन्धर के वैभव (ऐश्वर्य) का निश्चय कर लिया ॥४७॥

अर्धराज्यं च कन्यां च, पार्थिवः स्वामिने ददौ ।
पात्रतां नीतमात्मानं, स्वयं यान्ति हि संपद ॥४८॥

अन्वयार्थो—पार्थिवः = धनपति नामक राजा, स्वामिने= जीवन्धर स्वामी के लिये, (दानार्थकधातो योगे चतुर्थी), अर्धराज्यम्= आधे राज्य को, च=और, कन्याम्=पद्मा नामक कन्या को, च=भी, ददौ = प्रदान करता हुआ । नीतिः-हि=क्योंकि, संपदः = सम्पत्तियाँ, पात्रताम्=योग्यता को, नीतम्=प्राप्त, आत्मानम्=आत्मा को, स्वयम्= अपने आप, यान्ति=प्राप्त हो जाती हैं ॥४८॥

भावार्थः—धनपति नामक राजा ने सर्व प्रकार परीक्षा कर जीवन्धर को कन्यारत्न के साथ अपना आधा राज्य भी प्रदान किया। ठीक ही है, क्योंकि सुयोग्य व्यक्ति को सम्पत्तिया अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। तदनुसार जीवन्धर को भी राज्य-लक्ष्मी और वधूरूप उत्तमसम्पत्ति अनायास ही प्राप्त हुई ॥४८॥

तिलोत्तमासुतां पश्चात्—लोकपालसमर्पिताम् ।
पर्यणैपीत्पवित्रोऽयं, पद्माख्यां ता यवीयसीम् ॥४९॥

अन्वयार्थो—पश्चात, पवित्रः=माननीय, अयम्=यह कुमार, लोकपालसमर्पिताम्= लोकपाल राजा के द्वारा प्रदत्त, तिलोत्तमासुताम्= तिलोत्तमा रानी की सुपुत्री, यवीयसीम्=युवती, ताम्=उस, पद्माख्याम्= पद्मा को, पर्यणैपीत्=व्याहता हुआ ॥४९॥

भावार्थः—कन्यादान को स्वीकार कर जीवन्धर कुमार ने भी तिलोत्तमा रानी और धनपति राजा की सुपुत्री पद्मा को शास्त्रोक्त विधि से वरण किया ॥४९॥

इति पद्मालम्भो नाम पंचमोलम्भः समाप्तः । ३२

---

* अथ षष्ठो लम्बः *

अथोपयम्य पद्मां तां, रमयन्नप्ययात्ततः ।
असक्तो हि सुखं भुंक्ते, कृतार्थोऽपि जनः कृती ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, (जीवन्धर) ताम्=उस, पद्माम्=पद्मा को, उपयाम्य=विवाह करके, रमयन्=सम्भोग करते हुये, अपि=भी, ततः=वहां से, अयात्=रवाना हुये। नीतिः-हि=क्योंकि, कृती=धर्मात्मा जन, कृतार्थः=सब साधन सहित, सन्=होता हुआ, अपि=भी, सुखम्=सुखकारक वस्तु को, असक्त सन्=आसक्त नहीं होता हुआ, एव=ही, भुंक्ते=भोगता है ॥१॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार ने पद्मा के साथ विवाह कर उसके साथ कुछ समय तक सांसारिक सुख का अनुभव कर किसी से प्रगट किये बिना ही उस चन्द्राभा नगरी से प्रस्थान किया। ठीक ही है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुष विषयभोगों के सब साधन मिलने पर भी अतिशय आसक्त न होकर ही उनका भोग करते हैं। तदनुसार महापुरुष जीवन्धर भी विषयों में आसक्त नही थे, जिससे उन्हें भी उनसे मुख मोड़ते देर न लगी ॥१॥

पद्मा तु तद्वियोगेन, दुःखसागरसादभूत् ।
तत्त्वज्ञानविहीनाना, दुःखमेव हि शाश्वतम् ॥२॥

अन्वयार्थौ—तु=लेकिन, पद्मा=पद्मा, तद्वियोगेन=जीवन्धर के वियोग से, दुःखसागरसात्=दुःखरूपी समुद्र के अधीन, अभूत्=होगई। नीतिः-हि=क्योंकि, तत्त्वज्ञानविहीनानाम्=तत्त्वज्ञान रहित जीवों के, शाश्वतम्=निरन्तर, दुःखम्=दुःख, एव=ही, स्यात्=होता है ॥२॥

भावार्थः—अपने स्वामी जीवन्धर के चले जाने पर पद्मा ने बहुत शोक किया। ठीक ही है, क्योंकि तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) रहित जीवों के निरन्तर ही दुःख हुआ करता है। तदनुसार पद्मा भी तत्त्वज्ञान (सम्मेलन और वियोग अनिवार्य हैं इस प्रकार ज्ञान) रहित थी, इसीलिये उसे रंज हुआ ॥२॥

लोकपालजनै नायं, रोद्धुं शेके गवेषिभिः ।
प्रतिहन्तुं न हि प्राज्ञैः, प्रारब्धं पार्यते परैः ॥३॥

अन्वयार्थौ—गवेषिभिः = तलाशने वाले, लोकपालजनैः = लोकपाल के नोकरों के द्वारा, अयम् = ये जीवन्धरकुमार, रोद्धुम् = रोके जाने को, न शेके = समर्थ नहीं हुये। नीतिः–हि = क्योंकि, प्राज्ञैः = बुद्धिमानों के द्वारा, प्रारब्धम् = प्रारम्भ किया गया (कार्य), परैः = दूसरों के द्वारा, प्रतिहन्तुम् = रोकने के लिये, न पार्यते = शक्य नहीं होता ॥३॥

भावार्थः—पद्मा के ज्येष्टभ्राता लोकपाल ने जीवन्धर की तलाश के लिये देशदेशान्तरों में अपने सेवक भेजे। परन्तु वे उन्हे खोज कर भी वापिस न लासके। ठीक ही है, क्योंकि बुद्धिमान् जिस काम को करते हैं, उसमें अन्य कोई बाधा उपस्थित नही कर सकता, तो फिर जीवन्धर के गमन में वे सेवक बाधा कैसे कर सकते थे ?॥३॥

सत्वरं गत्वरः स्वामी, तीर्थस्थानान्यपूजयत् ।
पावनानि हि जायन्ते, स्थानान्यपि सदाश्रयात् ॥४॥

अन्वयार्थौ—सत्वरम् = शीघ्र, गत्वरः = चलने वाले, स्वामी = जीवन्धर, तीर्थस्थानानि = अनेक तीर्थस्थानों को, अपूजयत् = पूजते हुये। नीतिः–हि = क्योंकि, सदाश्रयात् = महाजनों के सम्बन्ध से, स्थानानि = स्थान, अपि = भी, पावनानि = पवित्र, जायन्ते = हो जाते हैं ॥४॥

भावार्थः—शीघ्रतापूर्वक मार्ग तय करते हुये उन जीवन्धर स्वामी ने बीच मे आये हुये अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना की। ठीक ही है, क्योंकि महाजनों के सम्बन्ध से स्थान भी पवित्र और पूजनीय माने जाने लगते हैं। तदनुसार उन स्थानों में पूज्य तीर्थंकर आदि महापुरुषो का विहार आदि हुआ था, अतएव वे भी उनकी भांति से पूज्य प्रसिद्ध हुये ॥४॥

सद्भिरध्युषिता धात्री, सम्पूज्येति किमद्भुतम्।
कालायसं हि कल्याणं, कल्पते रसयोगतः ॥५॥

अन्वयार्थौ—सद्भिः=महापुरुषों के द्वारा, अध्युषिता=निवास की गई, धात्री=पृथिवी, सम्पूज्या=पूजनीय, भवति=होती हैं। अत्र=इस विषय में, किम्=क्या, अद्भुतम्=आश्चर्य, (अस्ति=है) नीतिः—हि=क्योंकि, रसयोगतः=रसायन के सम्बन्ध से, कालायसम्=लोहा, (अपि=भी) कल्याणम्=सुवर्ण रूप, कल्पते=हो जाता है ॥५॥

भावार्थः—जैसे तुच्छ और काला भी लोहा, रसायन आदि के ससर्ग से प्रशस्त सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार तीर्थंकर या गणधर आदि महापुरुषों के संसर्ग से जमीन भी पूज्य हो जाती है ॥५॥

सदसत्संगमादेव, सदसत्त्वे नृणामपि।
तस्मात्सत्संगताः सन्तु, सन्तो दुर्जनदूरगाः ॥६॥

अन्वयार्थौ—नृणाम्=जनसाधारण के, सदसत्त्वे=सज्जनता और दुर्जनता, अपि=भी, सदसत्संगमात्=सज्जनों और दुर्जनों के समागम से, एव=ही (जायेते=होती हैं तस्मात्=इसलिये, सन्तः=महापुरुष, दुर्जनदूरगाः=दुर्जनों से दूर रहने वाले, च=और, सत्संगताः=सज्जनों की सङ्गति करने वाले, सन्तु=हों ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य सत्संगति करने से सज्जन और कुसङ्गति

करने से दुर्जन होजाता है, इसलिये आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि वे सत्संगति करें और कुसंगति से दूर रहें ॥६॥

याजंयाजमटन्नेव, तीर्थस्थानानि जीवकः ।
क्रमेणारण्यमध्यस्थं, तापसाश्रममाश्रयत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—जीवकः = जीवन्धरस्वामी, अटन्=घूमते हुये, एव=ही, तीर्थस्थानानि=तीर्थस्थानों को, याजंयाजम्=पूज पूज कर क्रमेण=क्रम से, अरण्यमध्यस्थम्=वन के बीच में स्थित, तापसाश्रमम्=तपस्वियों के मठ को, आश्रयत=प्राप्त हुये ॥७॥

भावार्थ—जीवन्धर स्वामी क्रम से जाते हुये मार्ग में आये हुये अनेक तीर्थस्थानों (क्षेत्रों) की वंदना और पूजा करते करते किसी जगल (पल्लवदेश में स्थित चित्रकूट पर्वत) के बीच मे स्थित एक साधुओ के मठ मे जा पहुंचे ॥७॥

असत्तपो विलोक्यासी-दनुकम्पी तपस्विनाम् ।
निर्व्याजं सानुकम्पा हि, सार्वाः सर्वेषु जन्तुषु ॥८॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धरस्वामी, वहां पर) तपस्विनाम्=साधुओं के, असत्=मिथ्या, तपः=तप को, विलोक्य=देखकर, अनुकम्पी=दयायुक्त, आसीत्=हुये । नीतिः–हि=क्योंकि, सार्वा=सबके हितकारी जन, सर्वेषु=समस्त, जन्तुषु=प्राणियों पर, निर्व्याजं यथास्यात्तथा=निष्कपट, सानुकम्पाः=दयालु, (भवन्ति=होते हैं) ॥८॥

भावार्थः—मठ में पहुँच कर जब जीवन्धर ने वहां के साधुओं को पचाग्नि के बीच मिथ्यातप तपते देखा, तब उन पर वे बहुत दयार्द्र हुये । ठीक ही है, क्योंकि सर्वहितैषी महापुरुष समस्त प्राणियों पर समदृष्टि से निष्कपट (प्रत्युपकारादिनिरपेक्ष) दया करते हैं । अतएव जीवन्धर ने भी उन साधुओं के विधर्मीपन का जरा भी ख्याल न कर उन पर निम्नप्रकार दया की ॥८॥

अतत्त्वज्ञेऽपि तत्त्वज्ञै-र्भवितव्यं दयालुभिः ।
कूपे पिपतिषु र्बालो, न हि केनाऽप्युपेक्ष्यते ॥९॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञैः=तत्त्वज्ञानियों के द्वारा, अतत्त्वज्ञे=तत्त्वज्ञानरहित प्राणी पर, अपि=भी, दयालुभिः=दयावान्, भवितव्यम्=होना चाहिये। नीतिः—हि=क्योंकि, कूपे=कुएँ में, पिपतिषुः=गिरने की इच्छा करने वाला, बालः=बालक, केन=किसी के द्वारा, अपि=भी, न उपेक्षते=उपेक्षित नहीं किया जाता ॥९॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञानियों का कर्त्तव्य है कि वे मूर्खों पर भी दया करे, क्योंकि जिस प्रकार कुये मे गिरते हुये बालक को सभी दर्शक बचाने की कोशिश करते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व मे पड़ते हुये जीव को उससे बचाने की कोशिश करना प्रत्येक सुधी (विवेकी) का कर्त्तव्य है। अतएव विद्वान् जीवन्धर ने भी उन साधुओं को मिथ्यात्व से निकालना अपना कर्त्तव्य समझा ॥९॥

तानप्यबूबुधत्तत्त्वं, तत्त्वज्ञः सोऽयमादरात् ।
भव्यो वा स्यान्न वा श्रोता, परार्थ्यं हि सतां मनः ॥१०॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञः=तत्त्वज्ञानी, सः=प्रसिद्ध, अयम्=यह जीवन्धर कुमार, तान्=उन साधुओं को, आदरात्=मिष्टवचन से, तत्त्वम्=यथार्थ तत्त्व को (द्विकर्मकत्वात्र धातोः) अबूबुधत्=समझाता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, श्रोता=सुनने वाला, भव्यः=भव्य, स्यात्=हो, वा=अथवा, न स्यात्=न हो, किन्तु, सताम्=सज्जनों का, मनः=मन, परार्थ्यम्=परोपकार में तत्पर, (एव=ही, वर्तते=होता है) ॥१०॥

भावार्थः—श्रोता चाहे भव्य हो चाहे अभव्य, किन्तु सज्जन पुरुष हितकर उपदेश देते ही हैं, अतएव महापुरुष जीवन्धर ने भी उन साधुओं के भव्याभव्यत्व का विचार न कर

अतिशय मीठे वचन से उन्हे यथार्थ कर्त्तव्य का निम्नप्रकार उपदेश दिया ॥१०॥

न हिंस्यात्सर्वभूतानी—त्यस्मिन्प्रवचने सति ।
तप्यध्वं किं बुधा यूयं, हिंसामात्रफलं तप; ॥११॥

अन्वयार्थौ—हे बुधाः=हे समझदार तपस्वियो, 'सर्वभूतानि=किसी भी प्राणी को, न हिंस्यात्=नहीं मारना चाहिये,' इति=इस प्रकार, अस्मिन्=इस, प्रवचने=शास्त्रीय वेद वाक्य के, सति=होने पर, यूयम्=तुम सब, हिंसामात्रफलम्=हिंसामात्रफल वाले, तप=तप को, किम्=क्यों, तप्यध्वम्=करते हो ॥११॥

भावार्थः—हे विद्वान् तपस्वियो ! जब कि तुम्हारे सर्वथा माननीय वेद मे भी "किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो" इस प्रकार लिखा है, तब तुम ऐसा तप क्यों तपते हो; जिसमें केवल हिंसा ही हाथ आती है ॥११॥

जलावगाहने लग्नान्—जटायां काष्ठगानपि ।
नश्यतः पश्यतां जन्तून्, पश्यताग्नौ पुनश्च्युतान् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(यूयम्=तुम सब), जलावगाहने=जलाशय में नहाते समय, जटायाम्=जटाओं में, लग्नान=फँसे हुये, अपि=और, काष्ठगान्=पंचाग्नि की लकड़ियों में घुसे हुये, पुनः=फिर, अग्नौ=अग्नि में, च्युतान्=गिरे हुये, (अतएव) पश्यताम्=देखने वालों के, अग्रे=प्रत्यक्ष; नश्यतः=मरते हुये, जन्तून्=प्राणियों को, पश्यत=देखो ॥१२॥

भावार्थः—आप अयुक्ताचारपूर्वक जब किसी सरोवर में नहाते हैं, तब आपकी जटाओं में जल के प्राणी फँस जाते हैं, तथा पंचाग्नि की लकड़ियों के अन्दर भी बहुत से प्राणी घुसे रहते हैं वे सब तुम्हारे पचाग्नि (चारों दिशाओं में अग्नि की चार

भट्टियां और ऊपर सूर्य इन पांचो के बीच बैठकर तप करना पचाग्नि तप कहलाता है) तप करते समय अन्य दर्शकों और सुलोचनयुक्त तुम सब के समक्ष ही अग्नि में गिर गिर कर प्राण-विसर्जन करते हैं। उनपर भी तुम्हे जरा दृष्टिपात करना चाहिये ॥१२॥

पञ्चाग्निमध्यमस्थानं, ततो नैवोचितं तपः ।
जन्तुमारणहेतुत्वा—दाजवञ्जवकारणम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसलिये, पंचाग्निमध्यमस्थानम्=पंचाग्नि के बीच में है स्थिति (बैठना) जिसमें ऐसा, तपः=तप, उचितम्=करने योग्य, नास्ति=नहीं है । (यतः=क्योंकि, ततः=वह पंचाग्नितप) जन्तु-मारणहेतुत्वात्=जीवहिंसा का कारण होने से, आजवञ्जवकारणम्=संसार का कारण, (एव=ही, भवति= होता है) ॥१३॥

भावार्थ—जब कि पचाग्नि तप मे जीवघात प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, तब उसके करने से कुछ भी सार नहीं। क्योकि तप का मूल उद्देश्य (फल) तो मुक्ति है, किन्तु पंचाग्नि तप से तो हिंसा होने के कारण उल्टा ससार का परिभ्रमण ही हाथ लगता है ॥१३॥

तत्तपो यत्र जन्तूनां, संतापो नैव जातुचित् ।
तच्चारम्भनिवृत्तौ स्या-न्न ह्यारम्भो विहिंसनः ॥१४॥

अन्वयार्थो—यत्र=जिसमें, जन्तूनाम्=प्राणियों के, जातुचित्=कभी भी, संताप=क्लेश, न स्यात्=नहीं होता, तत्=वह, एव=ही, तपः=तप, अस्ति=है । च=और, तत्=वह तप, आरम्भनिवृत्तौ=आरंभ के हट जाने पर, एव=ही, स्यात्=होता है । हि=क्योंकि, आरंभः=आरंभ, विहिंसन=हिंसारहित, न स्यात्=नहीं होता ॥१४॥

भावार्थ—जिसमे अन्य जीवो को जरा भी क्लेश नही

होता वही वास्तविक तप है। ऐसा तप स्नान और पंचाग्नि आदि आरम्भ के परित्याग करने पर ही हो सकता है, क्योंकि आरम्भ में हिंसा का होना अनिवार्य है। और हिंसा का होना ही संक्लेश है। इसलिये तप के हेतु आरम्भ करना मानो तप का सत्यानाश करना ही है ॥१४॥

आरम्भविनिवृत्तिश्च, निर्ग्रन्थेष्वेव जायते।
न हि कार्यपराचीनै-र्मृग्यते भुवि कारणम् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—च = और, आरम्भविनिवृत्तिः = आरम्भ का अभाव, निर्ग्रन्थेषु = परिग्रहरहित मुनियों में एव = ही, जायते = होता है। नीतिः-हि = क्योंकि भुवि = भूतल पर, कार्यपराचीनैः = कार्य से विमुख पुरुषों के द्वारा, कारणम् = कारण, न मृग्यते = नहीं तलाशा जाता ॥१५॥

भावार्थ.—आरम्भ का परित्याग भी बाह्य और आभ्यन्तर सर्वप्रकार के परिग्रहो के त्यागी मुनिराजों के ही हो सकता है। क्योंकि जैसे जो मनुष्य जिस कार्य को नही करना चाहता, वह उसके कारणों की भी तलाश नहीं करता, उसी प्रकार जिन्हें कोई सांसारिक (परिग्रहीय) कार्य नही करना है, वे उसके कारणभूत आरंभ को क्यों करेंगे ? ॥१५॥

नैर्ग्रन्थ्यं हि तपोऽन्यत्तु, संसारस्यैव साधनम्।
मुमुक्षूणां हि कायोऽपि, हेयः किमपरं पुनः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, नैर्ग्रन्थ्यम् = परिग्रह का त्याग, एव = ही, तपः = वास्तविक तप, अस्ति = है। अन्यत् = इससे भिन्न तप, तु = तो, संसारस्य = संसार का, (एव = ही) साधनम् = कारण, (अस्ति = है, अतएव) मुमुक्षूणाम् = मोक्ष के चाहनेवालों के, काय = शरीर, अपि = भी, हेयः = छोड़ने योग्य, (कथित = कहा गया है) पुनः = फिर, अपरम् = और, किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥१६॥

भावार्थ.—बाह्य और आभ्यन्तर सर्व परिग्रहों का भली प्रकार त्याग कर देना ही मुक्तिदायक यथार्थ तप है, किन्तु इससे भिन्न सर्व तप जन्ममरणरूप संसार का ही कारण है। इसीलिये मोक्ष चाहने वालो को अन्य वस्तुओ की तो बात ही क्या? किन्तु आत्मा से सर्वथा अभिन्न दृष्टिगोचर होने वाला शरीर भी त्याज्य समझनापड़ता है ॥१६॥

ग्रन्थानुबन्धी संसार—स्तेनैव न परिक्षयी ।
रक्तेन दूषितं वस्त्रं, न हि रक्तेन शुध्यति ॥१७॥

अन्वयार्थौ—ग्रन्थानुबन्धी = रागद्वेषादि परिग्रहकारणक, संसारः = संसार, तेन = उस परिग्रह से, एव = ही, परिक्षयी = नष्ट, न भवति = नहीं हो सकता । नीतिः-हि = क्योंकि रक्तेन = रक्त से, दूषितम् = खराब किया हुआ, वस्त्रम् = वस्त्र, रक्तेन = रक्त से, एव = ही, न शुध्यति = साफ नहीं होता ॥१७॥

भावार्थः—जैसे कि रक्त (खून) से सना (भींगा) वस्त्र खून से ही साफ और पवित्र नहीं हो सकता, किन्तु उसे साफ और पवित्र करने के लिये पानी और साबुन आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जो संसार रागद्वेष आदि परिग्रहों से ही प्राप्त होता है, उसका उन परिग्रहो से ही नाश नही हो सकता ॥१७॥

तत्त्वज्ञानविहीनानां, नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम् ।
न हि स्थाल्यादिभिः साध्य-मन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञानविहीनानाम् = तत्त्वज्ञानरहित जीवों के, नैर्ग्रन्थ्यम् = परिग्रह का परित्याग-मुनित्व, अपि = भी, निष्फलम् = फलरहित, भवति = होता है । नीति -हि = क्योंकि, अतण्डुलैः = चांवलों से भिन्न, अन्यैः = अन्य, स्थाल्यादिभि. = बटलोई, जल और अग्नि आदि

से, अन्नम्=अन्न (भात), साध्यम्=पक्व, न भवति=नहीं होता ॥१८॥

भावार्थः—उपादानकारण के विना केवल निमित्त-कारण से कार्य कदापि निष्पन्न नही होता, अतएव जैसे भात के निमित्तकारण बटलोई, जल और अग्नि आदि के रहते हुये भी उपादानकारण चांवलो के बिना भात नहीं बनता, उसी प्रकार उपादानकारण तत्त्वज्ञान के विना केवल निमित्तकारण परिग्रह के परित्याग मात्र से मोक्षप्राप्ति नहीं होती। इसीलिये तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के विना परिग्रह का परित्याग कर मुनि होना भी द्रव्यलिंगी मुनि के समान निःसार ही है ॥१८॥

तत्त्वज्ञानं च जीवादि—तत्त्वयाथात्म्यानिश्चयः।
अन्यथाधीस्तु लोकेऽस्मिन्, मिथ्याज्ञानं हि कथ्यते ॥१९॥

अन्वयार्थौ—च=और, जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः=जीवादितत्वों का यथार्थ निश्चय होना, एव=ही, तत्त्वज्ञानम्=सम्यग्ज्ञान, (कथ्यते=कहलाता है) तु=और, अन्यथा=अन्यप्रकार, धी'=निश्चय करना, अस्मिन् लोके=इस लोक में, मिथ्याज्ञानम्=मिथ्याज्ञान, कथ्यते=कहलाता है ॥१९॥

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातो तत्त्वो को सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्यों का त्यो (यथार्थ) जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है और इससे विपरीत जानना मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥१९॥

आप्तागमपदार्थाख्य—तत्त्ववेदन—तद्रुची।
वृत्तं च तद्द्वयस्यात्म-न्यस्खलद्वृत्तिधारणम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—आप्तागमपदार्थाख्यतत्त्ववेदनतद्रुची=सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सत्यार्थ तत्त्वों का यथार्थ परिज्ञान होना तो सम्यग्ज्ञान और यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन, (कथ्येते=कहलाते हैं) च=और,

तद्द्वयस्य = उन दोनों का, आत्मनि=आत्मा में, अस्खलद्वृत्तिधारणम्= स्थिर रूप से धारण करना, वृत्तम्=सम्यक्चारित्र, कथ्यते = कहलाता है ॥

भावार्थः—सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, और सत्यार्थ सातों तत्त्वों का यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान कहता है और उन्हीं का यथावत् श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है । तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का आत्मा में अटलरूप से धारण करना सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥२०॥

इति त्रयी तु मार्गः स्या-दपवर्गस्य नापरम् ।
वाह्यमन्यत्तपः सर्वं, तत्त्रयस्यैव साधनम् ॥२१॥

अन्वयार्थौ—इति = यह, त्रयी = तीनों का समूह, तु = तो, अपवर्गस्य = मोक्ष के, मार्गः = पाने का उपाय, अस्ति = है । अपरम् = अन्य कोई, न = नहीं । (और) अन्यत् = अन्य, सर्वम् = सब, बाह्यम् = अनशनादि बाह्य, तपः = तप, तत्त्रयस्य = उन तीनों का, एव = ही साधनम् = साधक, अस्ति=है ॥२१॥

भावार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो ही साक्षात् मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं। और इनसे भिन्न तप आदिक जो जो धार्मिक क्रियाकलाप हैं, वे सब इन तीनों के ही कारण होने से परम्परा से मोक्ष के उपाय हैं, साक्षात् नहीं ॥२१॥

न च वाह्यतपोहीन—माभ्यन्तरतपो भवेत् ।
तण्डुलस्यैव विक्लित्ति-र्न हि वह्न्यादिकं विना ॥२२॥

अन्वयार्थौ—च = और, बाह्यतपोहीनम् = बहिरंग तप के बिना, आभ्यन्तरतपः = प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तप, न भवेत् = नहीं होता । नीतिः-हि = क्योंकि, वह्न्यादिकं विना = अग्नि आदि के बिना, (बिना तिसः इति द्वितीया) तण्डुलस्य = चांवलों का, विक्लित्तिः पकना, एव=ही, न भवति = नहीं होता ॥२२॥

भावार्थः—निमित्तकारण के विना केवल उपादानकारण से भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। अतएव जैसे भात पकने के लिये निमित्तकारण अग्नि, जल और बटलोई आदि का होना आवश्यक है, उसी प्रकार अंतरंग तप की सिद्धि के लिये बहिरंग तप का होना भी परमावश्यक है, विना बाह्यतप से अंतरंग तप नहीं होता ॥२२॥

तत्त्रयं च न मोक्षार्थ—माप्ताभासादिगोचरम्।
ध्यातो गरुड़बोधेन, न हि हन्ति विषं बकः ॥२३॥

अन्वयार्थौ—च=और, आप्ताभासादिगोचरम् = झूठे देव, झूठे शास्त्र और कल्पितपदार्थ है विषय जिनके ऐसे, तत्त्रयम्=वे तीनों, मोक्षार्थम्=मोक्ष के साधन, न भवति=नहीं होते। नीतिः- हि= क्योंकि, गरुडबोधेन=गरुड़ की बुद्धि से, ध्यातः=ध्याया गया, बकः= बगुला, विषम्=विष को, न हन्ति=नष्ट नहीं करता ॥२३॥

भावार्थ.—जैसे सर्प का विष गरुड़ का ध्यान करने से ही नष्ट होता है, बगुले को गरुड़ मानकर उसके ध्यान (जाप) से नहीं, उसी प्रकार सत्यार्थ देव, शास्त्र और तत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है, मिथ्या देव, शास्त्र और तत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण स्वरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से नहीं ॥२३॥

सर्वदोष—विनिर्मुक्तं, सर्वज्ञोपज्ञ—मञ्जसा।
तप्यध्वं तत्तपो यूयं, किं मुधा तुषखण्डनैः ॥२४॥

अन्वयार्थौ—तत्=इसीलिये, यूयम्=तुम लोग, सर्वदोषविनिर्मुक्तम्=हिंसादिक दोषों से रहित, अञ्जसा= निश्चय से, सर्वज्ञोपज्ञम्= सर्वज्ञ देव के द्वारा उपदिष्ट, तपः=तप को, तप्यध्वम्=करो, मुधा= व्यर्थ, तुषखंडनैः=भूसे के कूटने से, किम्=क्या लाभ, अस्ति=हो सकता है? ॥२४॥

भावार्थ—जैसे चांवल रहित भूसे को कूटने से कुछ भी सार नहीं निकलता, उसी प्रकार मिथ्यातप के तपने से भी कुछ लाभ नहीं होता। अतएव तुम्हारा कर्त्तव्य है कि इस मिथ्यातप को छोड़कर सर्वदोष रहित और जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट तप का ही तपो ॥२४॥

रागादिदोषसंयुक्तः, प्राणिनां नैव तारकः ।
पतन्तः स्वयमन्येषां, न हि हस्तावलम्बनम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—रागादिदोषसंयुक्तः = रागादि दोषों सहित, देवः= देव, प्राणिनाम् = प्राणियों का, तारकः = उद्धार करने वाला, न भवति= नहीं होता। नीतिः—हि=क्योंकि, स्वयम् = खुद, पतन्तः = गिरने वाले जन, अन्येषाम् = दूसरों के, हस्तावलम्बनम् = हाथ का सहारा, न भवन्ति = नहीं होते ॥२५॥

भावार्थ—जो देव रागद्वेषादि दोषों से लिप्त है; वह दूसरे जीवों का हितकारी कभी भी नहीं हो सकता। जैसे जो स्वयं किसी गड्ढे में गिर रहा हो, वह उसी में गिरते हुये किसी अन्य जन को नहीं बचा सकता, उसीप्रकार रागद्वेषादि के कारण जो स्वयं संसारसागर में डूब रहा है, वह उसी में डूबते हुये अन्य प्राणी को कैसे बचा सकता है? इसलिये जो रागादि दोषों से रहित हो वही सच्चा देव है ॥२५॥

न च क्रीडा विभोस्तस्य, बालिशेष्वेव दर्शनात् ।
अतृप्तश्च भवेत्तृप्तिं, क्रीडया कर्तुमुद्यतः ॥२६॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उस, विभोः = देव के, क्रीडा = क्रीडा, च = भी, न भवति = नहीं होती। तस्याः = उस क्रीडा के, बालिशेषु= अज्ञानियों में, एव = ही, दर्शनात् = देखे जाने से। (तथा), अतृप्तः= तृप्तिरहित (जन), एव = ही, क्रीडया = क्रीडा से, तृप्तिम् = तृप्ति को,

कर्त्तुम्=करने के लिये, उद्यतः=तत्पर, भवेत्=होता है ॥२६॥

भावार्थः—कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर रागादि रहित होकर भी क्रीडा के रूप से जगत् का निर्माण करता है। ऐसे लोगों के प्रति कहा जाता है कि अज्ञानी बालकों में देखी जाने वाली क्रीडा उस सर्वज्ञ कृतकृत्य परमात्मा में कैसे सम्भव हो सकती है? दूसरी बात यह भी है कि असंतुष्ट व्यक्ति ही क्रीडा से संतोष प्राप्त करने के निमित्त उस(क्रीडा) के करने में तत्पर होता है। किन्तु वह ईश्वर तो पूर्णतया सन्तुष्ट है, इसलिये भी उसके क्रीडा की सम्भावना नहीं की जा सकती ॥२६॥

स्वैराचारस्वभावोऽपि, नेश्वरस्यैश–हानितः ।
अप्यस्मदादिभि द्वेष्यं, सर्वोत्कर्षवतः कुतः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—ऐश्यहानितः=ईश्वरपने में क्षति होने से, ईश्वरस्य=सच्चे देव के, स्वैराचारस्वभावः=स्वेच्छाचार स्वभाव, अपि=भी, न भवति=नहीं हो सकता, यतः=क्योंकि, अस्मदादिभिः=हम जैसे साधारण मनुष्यों के द्वारा, अपि=भी, द्वेष्यम्=द्वेष करने योग्य (सामान्ये नपुँसकम्) (स्वेच्छाचार स्वभाव) सर्वोत्कर्षवत = सर्वोत्कर्षशाली ईश्वर (देव) के, कुतः=कैसे, सम्भवति=हो सकता है ॥२७॥

भावार्थ—स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने से प्रभुत्व की क्षति होती है, और जब कि हम लोग साधारण जन भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, तो वह सर्वोत्कर्षशाली मान्य देव के कैसे सम्भव हो सकती है? इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति न करने वाला ही सच्चा देव कहला सकता है ॥२७॥

अदोषश्चेदकृत्यं च, कृतिनः किमु कृत्यतः ।
स्वैराचारविधि र्दृष्टो, मत्त एव न चोत्तमे ॥२८॥

अन्वयार्थौ—चेत्=यदि (वह ईश्वर देव), अदोषः=निर्दोष,

('अस्ति = है) च=और (उस ईश्वर के) अकृत्यम्=करने योग्य कार्य का अभाव (अस्ति = है, तर्हि = तो) कृतिन.= कृतकृत्य उस ईश्वर के, कृत्यतः=कार्य करने से, किमु = क्या फल, अस्ति = है। च = और, स्वैराचारविधिः = स्वेच्छाचार प्रवृत्ति, मत्ते = उन्मत्त पुरुष में, एव = ही, दृष्टः = देखी जाती है, उत्तमे=महापुरुष में, न=नही ॥२८॥

भावार्थ —जब कि परमार्थ देव निर्दोष और कृतकृत्य है, तो फिर वह सृष्टिरचनारूप सदोष स्वेच्छाचार प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ? क्योकि स्वच्छन्द प्रवृत्ति उन्मत्त पुरुषों में ही देखी गई है, महापुरुषों मे नही। अतएव महापुरुषों के भी पूज्य उस सच्चे देव के स्वच्छन्द प्रवृत्ति का दोष मढ़ना अक्षम्य अविवेक है ॥२८॥

इति प्रबोधिता केचिद् , बभूवुस्तेषु धार्मिका ।
मृत्स्ना ह्यार्द्रत्वमायाति, नोपलं जलसेचनात् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—तेषु=उनमें से, इति = (इस प्रकार पूर्वरीति से) प्रबोधिता.=समझाये गये, केचित् = कई साधु, धार्मिकाः = धर्मात्मा, बभूवुः=होगये। नीतिः -हि = क्योंकि जलसेचनात् = जल के सींचने से, मृत्स्ना=अच्छी मिट्टी, एव=ही, आर्द्रत्वम् = गीलेपन को, आयाति= प्राप्त होती है उपलम्=पत्थर. न = नहीं ॥२९॥

भावार्थ —जैसे जल के सिंचन से अच्छी मिट्टी ही गीली होती है, पत्थर नहीं, उसी प्रकार सदुपदेश सुपात्रो में ही सफल होता है, कुपात्रो में नही। तदनुसार जीवन्धर स्वामी ने यद्यपि सभी को सदृश हितकर उपदेश दिया था, तो भी अनेक मूर्खों पर उसका जरा भी असर नही हुआ, केवल कुछ कोमल परिणामी हृदय वाले साधुओं ने ही उसे अंगीकार किया ॥२९॥

धर्माश्रितान्समालोक्य, तापसान्समुदे कृती ।
प्रीतये हि सतां लोके, स्वोदयाच्च परोदय. ॥३०॥

अन्वयार्थौ—कृती=विद्वान् (जीवन्धर), तापसान्=तपस्वियों को, धर्माश्रितान्=धर्मासक्त, अवलोक्य=देखकर, मुमुदे=आनन्दित हुये। नीतिः-हि = क्योंकि, लोके = संसार में सताम् = सज्जनों के, स्वोदयात्=अपने उत्कर्ष की अपेक्षा, परोदयः=दूसरों का उत्कर्ष, प्रीतये=प्रीति के लिये, (भवति=होता है) ॥३०॥

भावार्थः—साधुओं का धर्मासक्त देखकर जीवन्धर को वहुत आनन्द हुआ। ठीक ही है, क्योंकि दूसरे के उत्कर्ष को देखकर महापुरुष अपने उत्कर्ष से भी अधिक हर्ष मानते हैं। अतएव साधुओं के जिनधर्म के स्वीकार रूप उत्कर्ष को देखकर जीवन्धर का भी आनन्दित होना उचित ही था ॥३०॥

बोधिलाभात्परा पुंसां, भूतिः का वा जगत्त्रये।
किम्पाकफलसंकाशैः, किं परैरुदयच्छलैः ॥३१॥

अन्वयार्थौ—पुंसाम्=मनुष्यों के, जगत्त्रये=तीनों लोकों में, बोधिलाभात्=जिनधर्म अर्थात रत्नत्रय की प्राप्ति से, परा=उत्कृष्ट, भूतिः= विभूति, का=कौन (अस्ति=है) वा=अथवा, किम्पाकफलसंकाशैः= विषवृक्ष के फल के सदृश, उदयच्छलैः=परिणाम में खतरनाक, परैः=पर वस्तुओं से किम्=क्या फल, अस्ति=है? ॥३१॥

भावार्थ—मनुष्यों के लिये तीनों लोकों में जिनधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति से वढ़कर और कोई विभूति नहीं। इनसे भिन्न जिन जिन वस्तुओं को यह जीव अपनी विभूति मानता है, वे सब जैसे विषवृक्ष का फल देखने में सुन्दर और खाने में मीठा प्रतीत होता है, किन्तु फलकाल में प्राणों का नाश कर देता है, उसी प्रकार परिपाक काल में पापजनक और दुःखदायक है ॥३१॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, देशे दक्षिणनामके।
सहस्रकूटमाश्रित्य, श्रीविमानं नुनाव सः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, स=वह जीवन्धर, तस्मात्= उस आश्रम से, विनिर्गत्य=निकलकर, दक्षिणनामके=दक्षिण, देशे= देश में, सहस्रकूटम्=सहस्रकूटनामक, श्रीविमानम्=जिनालय को, आश्रित्य=प्राप्त होकर, तुनाव=स्तुति करने लगे ॥३२॥

भावार्थ—जीवन्धर स्वामी तपस्वियों को धर्मोपदेश देने के पश्चात् उस आश्रम से प्रस्थान कर दक्षिणप्रान्त में गये। और वहां पर एक विख्यात सहस्रकूट (जिसमे १००० शिखर होते है) जिनालय के द्वार पर पहुंच कर निम्नप्रकार स्तुति करने लगे ॥३२॥

भगवन्दुर्णयध्वान्तै—राकीर्णे पथि मे सति।
सज्ज्ञानदीपिका भूयात्, संसारावधिवर्धिनी ॥३३॥

अन्वयार्थौ—भगवन्=हे भगवन्, दुर्णयध्वान्तैः=मिथ्यात्वरूपी अन्धकारपटल से, मे=मेरे, पथि=मार्ग के, आकीर्णे सति=व्याप्त होने पर, संसारावधिवर्धिनी=मुक्ति को दिखलाने वाला, सज्ज्ञानदीपिका= सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक, भूयात्=प्राप्त होवे ॥३३॥

भावार्थ—जिस प्रकार अन्धकार के व्याप्त होने पर मार्ग में पडी हुई वस्तुएं पथिकों को दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु दीपक के मिल जाने पर वे स्पष्ट दिख जाती हैं, उसी प्रकार हे भगवन् मेरा हितमार्ग भी मिथ्यात्वमय प्रवृत्ति से मुझे विस्मृत हो रहा है, अतएव आपके प्रसाद से मुझे वह अपूर्व सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक प्राप्त हो, जिससे मेरा हितमार्ग मुझे सूझ सके ॥३३॥

जन्मजीर्णाटवीमध्ये, जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गे भगवन्भक्ति—र्भवतान्मुक्तिदायिनी ॥३४॥

अन्वयार्थौ—भगवन्=हे भगवन्, जन्मजीर्णाटवीमध्ये=संसार-रूपी अतिशय पुराने वन में, जनुषा=जन्म से, अन्धस्य=अन्धे, मे=

मेरे लिये, मुक्तिदायिनी=मुक्ति को देने वाली, सन्मार्गे=मोक्षमार्ग में, सती=उत्तम, भक्तिः=भक्ति, भवतात्=प्राप्त होवे ॥२४॥

भावार्थ.—जैसे किसी विशाल और पुराने जंगल में मार्गभ्रष्ट किसी जन्मान्ध पुरुष को किसी प्रकार यथार्थ राह मिल जावे, तो वह अभीष्ट स्थान पाकर बहुत संतुष्ट होता है, उसी प्रकार हे भगवन् ! मैं भी सन्मार्ग को भूलकर अनादिकाल से इस दुखद संसार मे भटक रहा हूं। अब आप से यही प्रार्थना है कि आपके प्रसाद से मुझे वह समीचीन भक्ति प्राप्तहो, जिसमे मैं मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होकर परम्परया मुक्ति को प्राप्त कर सकूं ॥

स्वान्तशान्तिं ममैकान्ता—मनेकान्तैकनायकः ।
शांतिनाथो जिनः कुर्यात्, संसृतिक्लेशशान्तये ॥२५॥

अन्वयार्थौ—अनेकान्तैकनायकः = स्याद्वाद मत के अनन्य प्रवर्तक, शान्तिनाथः = शांतिनाथ, जिनः = भगवान्, संसृतिक्लेश-शान्तये=संसार के दुखों को दूर करने के लिये, मम=मेरे, एकांताम्= अटल, स्वान्तशान्तिम्=मन की स्थिरता को, कुर्यात्=करें ॥२५॥

भावार्थ—जैनमत के अनन्य नेता सोलहवें तीर्थंकर (अवतार) श्रीशान्तिनाथ भगवान् के प्रसाद से मेरे मन की चंचलता हटे, जिससे पापबन्ध रुक जाने से मुझे सांसारिक दुःखो का सामहना न करना पड़े ॥२५॥

इति स्तोत्रेण तच्चासी—दुद्घाटितकवाटकम् ।
मुक्तिद्वारकवाटस्य, भेदिना किन्न भिद्यते ॥२६॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, स्तोत्रेण=स्तुति से, तत्=वह जिनालय, उद्घाटितकवाटकम्=खुले हुये किवाड़ों वाला, आसीत्=हो गया। नीतिः—हि=क्योंकि, मुक्तिद्वारकवाटकस्य=मोक्ष के द्वार के किवाड़ों

के, भेदिना=भेदन करने वाले के द्वारा, किं=क्या, न भिद्यते=भेदन नहीं किया जा सकता ? ॥३६॥

भावार्थ.—उस सहस्रकूट जिनालय के किवाड़ बहुत समय से बन्द थे, अनेको के द्वारा अनेकवार अनेक प्रयत्नों के किये जाने पर भी नहीं खुले थे, किन्तु जीवन्धर के द्वारा पूर्वोक्त स्तोत्र के पढ़ने मात्र से वे अनायास ही खुल गये। ठीक ही है, क्योकि जिस भक्तिपूर्वक किये गये स्तोत्र में मोक्ष तक प्राप्त कराने या जिस व्यक्ति मे मोक्ष प्राप्त करने का सामर्थ्य होता है, उसके द्वारा तुच्छ किबाड़ों का खुल जाना क्या आश्चर्यजनक था ॥३६॥

अन्याशक्यमिदं मान्यो वितन्वन्न विसिष्मिये ।
लोकमालोकसात्कुर्वन्, न हि विस्मयते रविः ॥३७॥

अन्वयार्थौ—मान्यः = माननीय जीवन्धर, अन्याशक्यम् = दूसरों से न किये जा सकने वाले, इदम् = इस कार्य को, वितन्वन्= करते हुये, न विसिष्मिये = गर्वान्वित नहीं हुये। नीति –हि=क्योंकि, लोकम् = संसार को, आलोकसात् = प्रकाशमय, कुर्वन् = करता हुआ, रविः=सूर्य, न विस्मयते=गर्वान्वित नहीं होता ॥३७॥

भावार्थ —जैसे निखिल संसार के अन्य किसी के द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकने वाले सघन अन्धकार को सूर्य अकेला ही अनायास नष्ट कर कुछ भी गर्व नही करता, उसी प्रकार अनेको के द्वारा न खुले हुये बज्र किवाड़ों को केवल स्तुति मात्र से खोलकर जीवन्धर स्वामी भी गर्वान्वित नही हुये ॥३७॥

तावता तं समासाद्य, प्रणतः कोऽपि पिप्रिये ।
स्वमनीषितनिष्पत्तौ, किन्न तुष्यन्ति जन्तवः ॥३८॥

अन्वयार्थौ—तावता=उसी समय, प्रणतः=विनीत, कः=कोई (पुरुष) तम्=उस जीवन्धर को, समासाद्य=प्राप्त कर, पिप्रिये=प्रसन्न

हुआ । नीतिः-हि=क्योंकि, जन्तव = प्राणी, स्वमनीषितनिष्पत्तौ= अपनी इच्छित वस्तु के मिल जाने पर, न तुष्यन्ति किम्=प्रसन्न नहीं होते हैं क्या ? अपि तु, तुष्यन्ति एव=प्रसन्न ही होते हैं ॥३८॥

भावार्थः—किस महापुरुष के आने पर इस जिनालय के किवाड़ खुलते हैं, इसकी जानकारी के लिये सुभद्रनामक सेठ के द्वारा वहां पर एक गुणभद्रनामक नौकर नियुक्त किया गया था । वह जीवन्धर स्वामी के द्वारा किवाड़ खुल जाने पर उनके पास आया और किवाड़ खुलने रूप अपनी इच्छा को पूर्ण देखकर बहुत प्रसन्न हुआ । ठीक ही है क्योंकि इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर सभी को प्रसन्नता होती है ॥३८॥

स्वामी तु तं समालोक्य, कस्त्वमार्येति पृष्टवान् ।
प्रभूणां प्राभवं नाम, प्रणतेष्वेकरूपता ॥३९॥

अन्वयार्थौ—तु=तो, स्वामी=जीवन्धर स्वामी, तम्=उसको, समालोक्य=देखकर, आर्य !=हे सज्जन, त्वम्=तुम, कः = कौन, असि=हो, इति = इस प्रकार, पृष्टवान् = पूंछने लगे । नीतिः-हि= क्योंकि, प्रणतेषु=विनयी जनों पर, एकरूपता=समान व्यवहार करना (एव= ही) प्रभूणाम्=महापुरुषों की, प्राभवम्=प्रभुता, (अस्ति=है) ॥३९॥

भावार्थः—महापुरुष अपने प्रति विनय प्रदर्शित करने वालों की लघुता और महत्ता पर लक्ष्य न कर उनके प्रति सदृश व्यवहार करते हैं, अतएव महापुरुष जीवन्धर ने भी उस नौकर की लघुता का लेशमात्र भी ख्याल न कर उससे 'आप कौन हैं और यहां क्यों रहते हैं' इत्यादि प्रश्न किये ॥३९॥

पृष्टः सोऽप्युत्तरं वक्तु—मुपादत्त कृतत्वरः ।
समीहितेऽपि साहाय्ये प्रयत्नो हि प्रकृष्यते ॥४०॥

अन्वयार्थौ—पृष्टः=पूछा गया, सः=वह, अपि = भी,

कृतत्वरः सन्=शीघ्रतायुक्त होता हुआ, उत्तरम्=उत्तर को, वक्तुम्=कहने को, उपादत्त=प्रारम्भ करता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, समीहिते=इच्छित कार्य में, साहाय्ये=सहायता के मिल जाने पर, प्रयत्नः=प्रयत्न, प्रकृष्यते=बढ़ जाता है ॥४०॥

भावार्थ—मनुष्य जिस कार्य को स्वयं करना चाहता हो उसमे यदि उसे किसी की प्रेरणा या सहायता मिल जावे तो उसका हौसला और भी बढ़ जाता है, उसी प्रकार गुणभद्र नौकर स्वयं चाहता था कि अभ्यागत महाशय से वार्तालाप करू; परन्तु उन्होंने उससे स्वय ही प्रश्न कर डाला, इससे उस नौकर का भी साहस बढ़ गया और वह शीघ्रतापूर्वक निम्नप्रकार उत्तर देने लगा ॥४०॥

इह क्षेमपुरी नाम, राजधानी विराजते ।
नरपतिस्तु देवान्तो, राजा तत्पुरनायकः ॥४१।

अन्वयार्थौ—इह=यहाँ, क्षेमपुरी नाम=क्षेमपुरी नामक, राजधानी=राजा के रहने की नगरी, विराजते=सुशोभित है, तु=और, तत्पुरनायकः=उस नगरी का स्वामी, देवान्तः=देव है अन्त में जिसके ऐसा, नरपतिः=नरपति नामक राजा=राजा, अस्ति=है ॥४१॥

भावार्थ—यहां यह क्षेमपुरीनामक राजधानो (राजा के निवास की नगरी) है और नरपतिदेव इसका राजा है ॥४१॥

तस्य श्रेष्ठिपदप्रास., सुभद्रस्तस्य गेहिनी ।
नाम्ना तु निवृतिः पुत्री, क्षेमश्रीरित्यभूत्तयोः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तस्य=उसका, सुभद्र=सुभद्र, श्रेष्ठिपदप्रासः=सेठ, (अस्ति=है) तु=और, नाम्ना=नाम से, निर्वृतिः=निर्वृति, तस्य=उसकी, गेहिनी=धर्मपत्नी, (अस्ति=है) (च=और) तयो=उन दोनों के, क्षेमश्री.=क्षेमश्री नामक, पुत्री=सुपुत्री, अभूत्=है ॥४२॥

भावार्थः—उस नरपतिदेव राजा के सुभद्र नामक एक सेठ है, उसकी सेठानी का नाम निर्वृति है और इन दोनों की एक क्षेमश्री नामक सुपुत्री है ॥४२॥

जन्मलग्ने च दैवज्ञा—स्तत्पतिं तमजीगणन् ।
स्वयंविघटितद्वारो, येनायं स्याज्जिनालयः ॥४३॥

अन्वयार्थौ—दैवज्ञाः=ज्योतिषी, (तस्याः=उस पुत्री के) जन्मलग्ने=जन्म मुहूर्त में, 'येन=जिससे, अयम्=यह, जिनालयः= जिनमन्दिर, स्वयंविघटितद्वारः=स्वयं खुले हुये द्वार वाला, स्यात्= होजावेगा, तम्=उसको, तत्पतिम्=उसका स्वामी, अजीगणन्= निश्चित करते हुये ॥४३॥

भावार्थ—उस क्षेमश्री के जन्ममुहूर्त मे आये हुये ज्योतिषियो ने कहा था, कि जिस महापुरुष के आने पर इस सहस्रकूट जिनालय के किवाड़ स्वयं खुल जावेंगे, वही इसका पति होगा ॥४३॥

तत्परीक्षाकृते ऽत्रैव गुणभद्र—समाह्वयः ।
प्रेष्योऽहं प्रेरितास्तिष्ठन्, भवन्तं दृष्टवानिति ॥४४॥

अन्वयार्थौ—तत्परीक्षाकृते=उस पुरुष की परीक्षा करने के लिये, प्रेरितः=भेजा गया, (और) अत्र=यहां पर, एव=ही, तिष्ठन्=रहने वाला, गुणभद्रसमाह्वयः=गुणभद्र नामक, प्रेष्यः=नौकर, अहम् मै, भवन्तम्=आपको, (तथा=वैसा) दृष्टवान्=देख रहा हूं । इति=इस प्रकार उस गुणभद्र ने जीवन्धर से कहा ॥४४॥

भावार्थः—"किस महापुरुष के आने पर इस जिनालय के किवाड़ खुलते है" इस बात को जानने के लिये उस सुपुत्री के पिता के द्वारा मै यहा पर नौकर रूप से नियुक्त किया गया हूं । मेरा नाम गुणभद्र है । बहुत समय से यहां रहते हुये मैंने

केवल आपको ही ऐसा देखा है कि जिनके आने पर पहिले सैकड़ों के झख मार २ कर चले जाने पर भी जो न खुले थे जिनालय के वे किवाड़ सहज ही खुल गये हैं ॥४४॥

इत्युक्त्वा स पुनर्नत्वा, गत्वा सत्वरमात्मनः।
स्वामिने स्वामिवृत्तान्त-ममन्दप्रीतिरब्रवीत् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, स = वह गुणभद्र, इति = इस प्रकार, उक्त्वा=कहकर, (और) नत्वा=नमस्कार कर, सत्वरम् = शीघ्र, गत्वा=जाकर, आत्मनः=अपने, स्वामिने=स्वामी से (¹), स्वामिवृत्तान्तम् = जीवन्धर के समाचार को, अमन्दप्रीतिः सन् = अतिशय प्रसन्न होता हुआ, अब्रवीत् = कहने लगा ॥४५॥

भावार्थ —वह नौकर जीवन्धर स्वामी के प्रश्न का पूर्वोक्त प्रकार उत्तर देकर और उन्हे नमस्कार कर शीघ्र अपने स्वामी सुभद्र सेठ के पास गया। वहां उसने "जीवन्धरस्वामी के आने पर जिनालय के किवाड़ खुल गये हैं" यह समाचार हर्षपूर्वक उससे कह सुनाया ॥४५॥

भद्रवार्ता ततः शृण्वन्, सुभद्रोऽपि समागतः।
तत्क्षणे च तमद्राक्षीज्-जिनपूजाकृतक्षणम् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, भद्रवार्ताम्=इष्ट वात को, शृण्वन् =सुनने वाला, सुभद्रः=सुभद्र, अपि=भी, समागतः=आया, च=और, जिनपूजाकृतक्षणम्=जिनपूजा में किया है उत्सव जिसने ऐसे, तम्=उन जीवन्धर को, तत्क्षणे=उसी समय, अद्राक्षीत्=देखता हुआ ॥

भावार्थ —जिनालय के किवाड़ो के खुलने का समाचार पाते ही सुभद्र शीघ्र वहां आया और उसने जिनराज की पूजन करते हुये जीवन्धर को देखा ॥४६॥

न गात्रमात्रमद्राक्षीद्, विभवं चास्य वैश्यराट् ।
सौगन्धिकस्य सौगन्ध्यं, शपथात्किं प्रतीयते ॥४७॥

अन्वयार्थौ—वैश्यराट्=प्रधानवैश्य सुभद्र, अस्य=इनके, गात्रमात्रम्=शरीरमात्र को, न अद्राक्षीत्=नहीं देखते हुये, (किन्तु) विभवम् = वैभव को, च=भी, अद्राक्षीत्=निश्चित करते हुये, (धातुनामनेकार्थत्वात्) । नीतिः-हि=क्योंकि, सौगन्धिकस्य=रक्तकमल की, सौगन्ध्यम्=सुगन्ध शपथात्=शपथ खाने से, प्रतीयतेकिम् = मालूम पड़ती है क्या ? (अपि तु स्वतः एव प्रतीयते) ॥४७॥

भावार्थ—जिस प्रकार सुगन्धित रक्तकमल की सुगध बताने के लिये शपथ (कसम, कौल) खाने की जरूरत नहीं होती, किन्तु वह सामने आते ही स्वय प्रगट हो जाती है, उसी प्रकार सुभद्र ने जीवन्धर कुमार के शरीर मात्र को देखकर बिना पूछ-तांछ किये ही उनके वैभव (ऐश्वर्य) का परिज्ञान कर लिया॥४७॥

इज्यान्ते ऽभूद्यथायोग्य—मुपचारः परस्परम् ।
सतां हि प्रह्वता शास्ति, शालीनामिव पक्वताम् ॥४८॥

अन्वयार्थौ—इज्यान्ते=पूजा के बाद, तयोः=उन दोनों में, परस्परम्=परस्पर, यथायोग्यम्=उचित, उपचारः=शिष्टाचार (व्यवहार-विनय), अभूत्=हुआ । नीति-हि=क्योंकि, शालीनाम्=धान्यों की, प्रह्वता इव=नम्रता के समान, सताम्=महापुरुषों की, प्रह्वता=नम्रता, पक्वताम्=योग्यता को (पक्षान्तर में-परिपक्व पने को) शास्ति=प्रगट करती है ॥४८॥

भावार्थ—पूजा करने के बाद जीवन्धर और सुभद्र का आपस में उचितरीति से मेलमिलाप (जुहारु, विहार) हुआ। ठीक ही है, क्योंकि जिस प्रकार धान्य के पौधों के नम (नव) जाने से उनका परिपाक निश्चित किया जाता है, उसीप्रकार नम्रता प्रदर्शित

करने से महापुरुष की योग्यता का भी परिचय होता है। तदनुसार परस्पर नम्रता प्रदर्शित करने से एक को दूसरे की योग्यता का परिचय हुआ ॥४८॥

तद्वेश्म तस्य निर्वन्धा—दथ वन्धुप्रियो गतः ।
सख्यं सासपदीनं हि, लोके सम्भाव्यते सताम् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, बन्धुप्रिय = वन्धुओं का प्यारा, (जीवन्धर), तस्य = उसके, निर्वन्धात् = आग्रह से, तद्वेश्म = उसके घर, गत = गया। नीतिः-हि = क्योंकि, लोके = ससार में, सताम् = सज्जनों की, सख्यम् = मित्रता, सासपदीनम् = सात पदों के कहने या सात पग साथ चलने मात्र से होने वाली, सम्भाव्यते = सम्भव होती है॥

भावार्थ—जुहारु विहार होने के बाद जब सुभद्र ने जीवन्धर से अपने घर जाने के लिये आग्रह किया, तब वे उसके घर गये। ठीक ही है, क्याकि सज्जन पुरुषों के सात बातो के करने या सात पग साथ चलने से ही (क्षणमात्र में) मित्रता हो जाती है। तदनुसार कुछ वार्तालाप करने से ही उन दोनो में मैत्री होगई थी, जिससे उस जीवन्धर ने उसका आग्रह स्वीकृत किया ॥४९॥

कन्यायाः करपीडां च, तद्दैन्यादवमन्यत ।
आश्रयन्तीं श्रियं को वा, पादेन भुवि ताडयेत् ॥५०॥

अन्वयार्थौ—स.= वह जीवन्धर, तद्दैन्यात् = उस सुभद्र सेठ के आग्रह से, कन्यायाः = क्षेमश्री कन्या के, करपीडाम् = विवाह को, च = भी, अवमन्यत = स्वीकार करता हुआ। वा = क्योंकि, भुवि = पृथ्वी पर, कः = कौन बुद्धिमान् पुरुष, आश्रयन्तीम् = अपना आश्रय लेने वाली, श्रियम् = लक्ष्मी को, पादेन = पैर से, ताडयेत् = ठुकराता है? ॥५०॥

भावार्थः—जब सुभद्र ने ज्योतिषियो के वचनानुसार

जीवन्धर से अपनी कन्या के साथ विवाह करने की प्रार्थना की, तब उन्होंने भी स्वीकृति दे दी। ठीक ही है, क्योंकि अपने आप प्राप्त होती हुई लक्ष्मी को सभी आश्रय देते हैं, कोई भी लात नहीं मारते। अतएव सुयोग्य जीवन्धर को भी स्वयं प्राप्त होती हुई स्त्रीरूप लक्ष्मी की उपेक्षा करना कैसे उचित था ॥५०॥

अथ भद्रतरे लग्ने, सुभद्रेण समर्पिताम् ।
क्षेमश्रियं पवित्रोऽय—मुपयेमे यथाविधि ॥५१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, पवित्र = माननीय, अयम् = यह, जीवन्धर, सुभद्रेण = सुभद्र के द्वारा, समर्पिताम् = प्रदत्त, क्षेमश्रियम् = क्षेमश्री नामक कन्या को, भद्रतरे = अतिशय शुभ, लग्ने = लग्न में, यथाविधि = विवाहपद्धतिपूर्वक, उपयेमे = वरण करता हुआ ॥५१॥

भावार्थ—पश्चात् जीवन्धरकुमार ने सुभद्र सेठ के द्वारा प्रदत्त क्षेमश्रीनामक कन्या को शुभमुहूर्त में आर्षोक्त विधि से वरण किया ॥५१॥

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ अपूर्वे नीतिकाव्ये भावार्थ दीपिकाटीकायां क्षेमश्रीलम्भो नाम षष्ठोलम्ब समाप्तः । ३५

* अथ सप्तमो लम्बः *

अथ वध्वा तया साक—मनुबोभूय भूयसीम् ।
सुखतातिं ततो यातुं, विततान मतिं कृती ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, कृती = पुण्यवान् (जीवन्धर) तया = उस, वध्वा ‡ साकम् = स्त्री के साथ, भूयसीम् = बहुत, सुखतातिम्=सुख परम्परा को, अनुबोभूय=भोगकर, ततः = उस क्षेमपुरी से, यातुम् = जाने के लिये, मतिम्=विचार को, विततान=करता हुआ।

भावार्थः—जीवन्धर कुमार ने क्षेमश्री से विवाह कर और उसके साथ कुछ सांसारिक सुखों का अनुभव कर क्षेमपुरी नगरी से अन्यत्र जाने का विचार किया ॥१॥

अकथयन्नथ स्वामी, गणरात्रात्यये गतः ।
न हि मुग्धाः सतां वाक्यं, विश्वसंति कदाचन ॥२॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, गणरात्रात्यये=बहुत रात्रियों (दिनों) के वीत जाने पर, अकथयन् = विना कुछ कहे हुये, एव=ही, ततः=एस क्षेमपुरी से, गतः = चले गये। नीति.-हि=क्योंकि, मुग्धा. = भोले मनुष्य, सताम् = महापुरुषों के, वाक्यम्=वचन को, कदाचन=कभी, न विश्वसन्ति=प्रमाण नहीं मानते।

भावार्थः—क्षेमश्री के साथ सुख भोगते हुये जीवन्धर के जब बहुत दिन वीत चुके, तब वे अपने सवन्धियों को सूचना दिये बिना ही उस क्षेमपुरी नगरी से चले गये। ठीक ही है,

‡ 'सहार्थेन' इति सूत्रेणात्र साकशब्दयोगे तृतीया जाता।

क्योंकि भोले मनुष्य महापुरुषो के वचनो का प्रायः विश्वास नहीं करते । इसी कारण जीवन्धर ने अपने गमन का अभिप्राय अपने सम्बन्धियों से प्रगट नहीं किया ॥२॥

तद्वियोगादभूत्पत्नी, दग्धरज्जुसमद्युतिः ।
प्राणाः पाणिगृहीतीनां, प्राणनाथो हि नापरम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—(तस्य=उन जीवन्धर की) पत्नी=स्त्री क्षेमश्री, तद्वियोगात्=उनके वियोग से, दग्धरज्जुसमद्युतिः=जली हुई रस्सी के समान काली और कृश, अभूत्=हो गई । नीतिः-हि=क्योंकि, पाणिगृहीतीनाम्=विवाहिता स्त्रियों के, प्राणाः=प्राण, (तासाम्=उनके) प्राणनाथः=पतिदेव, (एव=ही, भवति=होते हैं) अपरम्=दूसरा कोई, (सामान्ये नपुंसकम्), न=नहीं ॥३॥

भावार्थः—जीवन्धर कुमार के वियोग से उनकी पत्नी क्षेमश्री को बहुत रंज हुआ । ठीक ही है, क्योंकि विवाहिता स्त्रियों को पति प्राणो से भी अधिक प्रिय होते है, अतएव उनके वियोग से उन्हे प्राणों के वियोग के समान दुःख होना ही चाहिये । इसी कारण क्षेमश्री को असह्य दुःख हुआ ॥३॥

सुभद्रोऽपि पवित्रं त—मन्विष्याधिमयोऽभवत् ।
बहुयत्नोपलब्धस्य, प्रच्यवो हि दुरुत्सहः ॥४॥

अन्वयार्थौ—सुभद्र=सुभद्र सेठ, अपि=भी, पवित्रम्=माननीय, तम्=उस जीवन्धर को, अन्विष्य=तलाश कर, (अप्राप्ते=उनके न मिलने से), आधिमयः=अत्यन्त दुखी, अभवत्=हुआ । नीतिः-हि=क्योंकि, बहुयत्नोपलब्धस्य=बहुत कोशिश से प्राप्त वस्तु का, प्रच्यवः=वियोग, दुरुत्सहः=असह्य, (जायते=हो जाता है) ॥४॥

भावार्थः—सुभद्र नामक सेठ ने स्वयं वन जाकर में जीवन्धर की बहुत तलाश की, पर जब वे नहीं मिले, तब उसे बहुत

दुःख हुआ। ठीक ही है, क्योंकि—अधिक परिश्रम से प्राप्त वस्तु का वियोग अत्यन्त असह्य होता है, इसीलिये जीवन्धर के वियोग से सुभद्र के भी असह्य दुःख हुआ ॥४॥

स्वामी स्वाभरणत्याग—मैच्छद्गच्छन्नतुच्छधीः।
विवेकभूषिताना हि, भूषा दोषाय कल्पते ॥५॥

अन्वयार्थौ—गच्छन्=गमन करते हुये, अतुच्छधीः=अतिशय बुद्धिमान्, स्वामी=जीवन्धर, स्वाभरणत्यागम्=अपने आभूषणों के परित्याग की (ऐच्छत) चाह करते हुये। नीतिः-(हि)=क्योंकि, भूषा=लौकिक आभूषण, विवेकभूषितानाम्=विवेक से शोभायमान जनों के, दोषाय=दोष के लिये, (एव=ही), कल्पते=माना जाता है ॥५॥

भावार्थः—विवेकी जनों का भूषण वास्तव में विवेक ही है, अतएव उन्हे ये लोक प्रसिद्ध वस्त्राभूषण अप्रिय मालूम हुआ करते हैं। तदनुसार विवेकी जीवन्धर को भी अपने वैवाहिक आभूषण प्रिय नहीं मालूम हुये, अतएव क्षेमपुरी से कुछ दूर पहुँचने पर उन्होने अपने आभूषणों के परित्याग का विचार किया ॥५॥

धार्मिकाय तदाकल्पं, दातुं च समकल्पयत्।
स्थाने हि बीजवद्दत्त—मेकं चापि सहस्रधा ॥६॥

अन्वयार्थौ—तदा=उसी समय, सः=वह जीवन्धर कुमार, (तत्=उस), आकल्पम्=आभूषणों के समूह को, धार्मिकाय=किसी धर्मात्मा पुरुष के लिये, दातुम्=देने को, च=भी, समकल्पयत्=निश्चय करता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, स्थाने=योग्य स्थान में, दत्तम्=दी गई, एकम्=एक, अपि=भी, (वस्तु=वस्तु), बीजवत्=बीज के समान, सहस्रधा=हजार गुणी, फलति=फल देती है ॥६॥

भावार्थः—जीवन्धर ने अपनी पूर्वोक्त इच्छा के अनुसार

उन आभूषणों को किसी धर्मात्मा व्यक्ति के लिये देने का संकल्प (निश्चय) भी कर लिया। क्योंकि जैसे अच्छी उपजाऊ जमीन में बोया गया बीज कई गुणा फल देता है, उसी प्रकार योग्य पात्र में दिया गया थोड़ा भी दान हजार गुणा फल देता है। अतएव जीवन्धर ने अपने आभूषण किसी योग्य पात्र को देना ही उचित समझा ॥६॥

तावता सन्यधात्कोऽपि, सन्निधेस्तस्य संन्निधौ।
भागधेयविधेया हि, प्राणिनां तु प्रवृत्तयः ॥७॥

अन्वयार्थौ—तावता=उसी समय, कः=कोई पुरुष, अपि=भी, सन्निधेः=सज्जनों में श्रेष्ठ, तस्य=उस जीवन्धर के, संन्निधौ=पास, सन्यधात=आया । नीतिः–हि=क्योंकि, प्राणिनाम्=प्राणियों की, प्रवृत्तयः=प्रवृत्तियां, भागधेयविधेयाः=भवितव्य के अनुकूल, (भवन्ति= होती हैं) ॥७॥

भावार्थः—उसी समय एक किसान जीवन्धर के पास आया, क्योंकि प्राणियो की प्रवृत्तियां भवितव्य के अनुकूल होती हैं। निष्कर्षः—उस किसान का भी भवितव्य अच्छा था, इसलिये जीवन्धर की ओर आने में उसकी प्रवृत्ति हुई ॥७॥

आगच्छन्तमपृच्छच्च, पामरं पार्श्वमात्मनः।
कुतः कुत्र प्रयासि त्वं, स्वास्थ्यं चास्ति न वेति च ॥८॥

अन्वयार्थौ—(स=वह जीवन्धर, च=भी) आत्मनः=अपने, पार्श्वम्=समीप, आगच्छन्तम्=आते हुये, (तम्=उस); पामरम्= कृषक से, अपृच्छत्=पूछने लगा, (यत्=कि), त्वम्=तुम, कुतः= कहां से, आगत.=आये, च=और, कुत्र=कहां, प्रयासि=जा रहे हो, वा=और, (ते=तेरे) स्वास्थ्यम्=कुशल, अस्ति=है, वा=अथवा, नास्ति=नहीं है ? ॥८॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार ने उस पथिक किसान से पूछा कि 'तुम कहां से आये हो,' कहां जा रहे हो, और तुम्हे किसी बात का दुःख तो नहीं है" ॥८॥

प्रीत. प्रत्यब्रवीत्सोऽपि, प्रश्रयेण समाश्रितः ।
मुखदानं हि मुख्यानां, लघूनामभिषेचनम् ॥९॥

अन्वयार्थौ—प्रश्रयेण = विनय से, समाश्रितः=सहित, च = और, प्रीतः = प्रसन्न, सः = वह किसान, अपि = भी, प्रत्यब्रवीत् = उत्तर देता हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, मुख्यानाम्=महापुरुषों का, मुखदानम् = सन्मुख होकर बोलना, लघूनाम् = छोटे आदमियों के, अभिषेचनम्=राज्याभिषेक के समान, (जायते=होता है) ॥९॥

भावार्थः—सम्पत्ति आदि से हीन पुरुषों से महापुरुषो का वार्तालाप करना उन तुच्छ जनों को राज्याभिषेक के समान आनन्द-दायक होता है। इसीलिये जीवन्धर द्वारा पूर्वोक्त प्रश्न पूछे जाने पर वह किसान भी वहुत प्रसन्न हुआ और विनयपूर्वक उन्हे निम्नप्रकार उत्तर देने लगा ॥९॥

इतस्ततो मया मह्य !, गम्यते कार्यकाम्यया ।
स्वास्थ्यं स्वास्थ्यतमं भूयात्, कार्येऽप्यार्यदृशो मम ॥१०॥

अन्वयार्थौ—हे मह्य !=हे पूज्य, मया = मेरे द्वारा, कार्य-काम्यया=कार्य की इच्छा से, इतस्ततः = इधर उधर, गम्यते=भ्रमण किया जाता है, आर्यदृशः = आपके दर्शन से, मम = मेरे, कार्ये=कार्य में, स्वास्थ्यम्=कुशलता, स्वास्थ्यतमम् = अधिक कुशलता रूप, भूयात् = होवे ॥१०॥

भावार्थः—हे पूज्य ! मैं कार्यवश इधर उधर भ्रमण (यात्रा) किया करता हूं, मेरे सर्वथा कुशल है, तथा आपके शुभदर्शन से मेरी वह कुशल और भी वृद्धिगत हो ॥१०॥

इत्युक्तेन कुमारेण, प्रत्युक्तो वृषलः पुनः ।
स्वास्थ्य नाम न कृष्यादि, जायमानं कृषीवल ॥११॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, उक्तेन=कहे गये, कुमारेण=जीवन्धर कुमार के द्वारा, (सः=वह) वृषलः=किसान पुनः=फिर, प्रत्युक्तः=कहा गया, (यत्=कि), कृषीवल !=हे किसान, कृष्यादि-जायमानम्=खेती आदि से उत्पन्न, स्वास्थ्यम्=सुख, स्वास्थ्यं नाम=सच्चा सुख, न अस्ति=नहीं है ॥११॥

भावार्थः—उस किसान से पूर्वोक्त उत्तर पाकर जीवन्धर ने उससे फिर कहा कि "हे कृषक ! खेती आदि षट्कर्मों से जो सुख प्राप्त होता है, वह नश्वर तथा दुःख का कारण होने से हेय है । परमार्थभूत सुख तो निराकुलतारूप ही है, अतएव वही ग्राह्य है" ॥११॥

षट्कर्मोपस्थितं स्वास्थ्य, तृष्णाबीजं विनश्वरम् ।
पापहेतुः परापेक्षि, दुरन्तं दुःखमिश्रितम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—षट्कर्मोपस्थितम्=षट्कर्मों से उत्पन्न, स्वास्थ्यम्=सुख, तृष्णाबीजम्=तृष्णा का कारण, विनश्वरम्=नष्ट हो जाने वाला, पापहेतुः=पाप का कारण, परापेक्षि=दूसरे की अपेक्षा रखने वाला, दुरन्तम्=परिणाम में दुःखजनक, (च=और), दुःखमिश्रितम्=दुःखों से मिला हुआ, (अस्ति=है) ॥१२॥

भावार्थः—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन छह कर्मों से उत्पन्न सुख तृष्णा का कारण, नश्वर, पापजनक, परापेक्ष, परिणाम मे दुःखजनक और दुःखमिश्रित है।

आत्मोत्थमात्मना साध्य—मव्याबाधमनुत्तरम् ।
अनन्तं स्वास्थ्यमानन्द—मतृष्णमपवर्गजम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—आत्मना=आत्मा के द्वारा, साध्यम्=प्राप्त करने योग्य, आत्मोत्थम्=आत्मा से उत्पन्न, अव्याबाधम्=बाधारहित, अतृष्णम्=तृष्णारहित, अनन्तम्=अन्तरहित, अनुत्तरम्=सर्वोत्कृष्ट, अपवर्गजम्=मोक्ष में होने वाला, आनन्दम्=आनन्द, (एव=ही), स्वास्थ्यम्=सच्चा सुख, (अस्ति=है) ॥१३॥

भावार्थः—जो सुख, पर पदार्थों की अपेक्षारहित आत्म मात्र सापेक्ष, निर्बाध, अनुपम, अविनश्वर और तृष्णा से रहित है; वही वास्तविक सुख है। वह मोक्ष होने पर ही प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत परपदार्थों के सयोग से प्राप्त होने वाला सुख सातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला, तृष्णा को ही बढ़ाने वाला और नश्वर है, अत. वह वास्तविक सुख नही, किन्तु दुखरूप ही है ॥१३॥

तदपि स्वपरज्ञाने, याथात्म्यरुचिमात्रके ।
परित्यागे च पूर्णे स्यात्, परमं पदमात्मनः ॥१४॥

अन्वयार्थौ—आत्मनः=आत्मा का, तत्=वह, परमम्=उत्तम, पदम्=मोक्ष, अपि=भी, याथात्म्यरुचिमात्रके=यथार्थ श्रद्धान स्वरूप संम्यग्दर्शन, स्वपरज्ञाने=स्व और परके भेद विज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान, च=और, परित्यागे=पर पदार्थों के त्याग रूप सम्यक् चारित्र के, पूर्णेसति=पूर्ण होने पर, एव=ही, स्यात्=होता है ॥१४॥

भावार्थः—आत्मा का वह उत्तम सुख सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के पूर्ण होने पर ही होता है। इनमें–परपदार्थों से भिन्न आत्मश्रद्धान सम्यग्दर्शन, आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान तथा पर द्रव्यों को छोड़कर आत्म स्वरूप में मग्न होना सम्यक्चारित्र कहलाता है

स्वमपि ज्ञानदृक्सौख्य—सामर्थ्यादिगुणात्मकम् ।
परं पुत्रकलत्रादि, विद्धि गात्रमलं परैः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(हे क्षपक, त्वम्=तू) ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादि-गुणात्मकम्=अनन्तज्ञान; अनन्तदर्शन; अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि गुण स्वरूप वस्तु को, स्वम्=आत्मा, च=तथा, पुत्रकलत्रादि=पुत्र और स्त्री आदि को, परम्=आत्मा से भिन्न पर वस्तु, विद्धि=जान। परैः=अन्य वस्तुओं से, अलम्=वस, गात्रम्=अपनेशरीर को, अपि=भी, परम्=पर वस्तु, विद्धि=जान ॥१५॥

भावार्थः—हे क्षपक! निश्चयनय से प्रत्येक आत्मा सिद्धों के समान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (अनन्तचतुष्टय) स्वरूप है; ऐसा तू निश्चय कर, तथा अपने से भिन्न पुत्र और स्त्री आदिक वस्तुओं को पर वस्तु जान। अधिक क्या कहा जाय? आत्मा से सर्वथा अभिन्न प्रतीत होने वाले इस शरीर को भी पर वस्तु जान ॥१५॥

एवं भिन्नस्वभावोऽयं, देही स्वत्वेन देहकम् ।
वुध्यते पुनरज्ञाना—दतो देहेन वध्यते ॥१६॥

अन्वयार्थौ—एवम्=इस प्रकार, (पुत्रकलत्रशरीरादिभिः=पुत्र, स्त्री, और शरीर आदि से) भिन्नस्वभावः=भिन्नस्वभाव वाला, अयम्=यह, देही=आत्मा, अज्ञानात्=आज्ञान से, देहकम्=शरीर को, (एव=ही) स्वत्वेन=आत्मरूप से, वुध्यते=मानता है। अतः=इसलिये, पुनः=फिर, देहेन=शरीर से, वध्यते=बँधता है ॥१६॥

भावार्थः—पुत्र, स्त्री, और शरीर आदिक परपदार्थों से सर्वथा भिन्न भी यह आत्मा अपनी अज्ञानता से अपने से सम्बद्ध शरीर को ही आत्मा मानता है, इसी अविवेक के कारण

कर्मों से बँधकर फिर से शरीर धारण करता है। यदि यह अपने स्वरूप को शरीर से सर्वथा भिन्न समझ ले; तो फिर इसे इस संसार में अनेकवार शरीर धारण न करना पड़े, अर्थात् कुछ समय बाद इसे मुक्ति की प्राप्ति अवश्य हो जाय ॥१६॥

अज्ञानात्कायहेतुः स्यात्, कर्माज्ञानमिहात्मनाम्।
प्रतीके स्यात्प्रबन्धोऽय-मनादिः सैव संसृतिः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—इह = इस लोक में, आत्मनाम् = संसारी प्राणियों के, अज्ञानात् = अज्ञान से, कर्म = शुभाशुभ कर्म, कायहेतुः = शरीर का कारण, स्यात्=होता है, तथा, प्रतीके = शरीर के होने पर, अज्ञानम्=अज्ञान, स्यात्=होता है। (एवम्=इस प्रकार) अयम् = यह, प्रबन्धः=परिपाटी, अनादिः=अनादिकाल से चली आई, अस्ति = है, सा = वह, एव = ही, संसृतिः=संसार, अस्ति = है ॥१७॥

भावार्थ—इस संसार में ससारी प्राणियों के अज्ञानता से कर्मबन्ध के कारण नवीन २ शरीर की प्राप्ति होती है। और शरीर के प्राप्त होने पर फिर से अज्ञान होता है। इस प्रकार यह परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि काल से चली आ रही है। और इस परम्परा का नाम ही संसार है। ॥१७॥

स्वं स्वत्वेन ततः पश्यन्, परत्वेन च तत्परं।
परित्यागे मतिं कुर्याः, कार्यैरन्यैः किमस्थिरैः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—तत =इसलिये स्वम् = आत्मा को, स्वत्वेन= निजरूप से, तथा, परम् = आत्मा से भिन्न वस्तु को, परत्वेन=पररूप से, पश्यन् = विचारता हुआ, (त्वम् = तुम) परत्यागे=पर वस्तु के त्याग में, मतिम् = बुद्धि को, कुर्याः = प्रवृत्त कर, अन्यैः = दूसरे, अस्थिरैः = नश्वर, कार्यैः=कार्यों से, किम् = क्या प्रयोजन, (अस्ति = है) ॥१८॥

भावार्थ —इसलिये हे क्षपक ! तू ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा को उपादेय और उससे भिन्न परवस्तुओ को हेय जानकर उनको त्याग, क्योकि पर वस्तुओं के सम्बन्ध से आत्मा का कभी भी हित नही हो सकता ॥१८॥

परत्यागकृतो ज्ञेयाः, सानगारा अगारिणः ।
गात्रमात्रधनाः पूर्वे, सर्वसावद्यवर्जिता. ॥१९॥

अन्वयार्थौ—परत्यागकृतः=आत्मा से भिन्न पर वस्तु के त्याग करने वाले, सानगाराः = महाव्रत सहित मुनि, (तथा) अगारिण. = गृहस्थ, ज्ञेया =जानना चाहिये, (तत्र=उनमें), गात्रमात्रधनाः=शरीरमात्र परिग्रह रखने वाले, (च = और), सर्वसावद्यवर्जिता: = समस्तपापरहित व्यक्ति, पूर्वे = प्रथम (मुनि), (कथ्यन्ते = कहलाते हैं) ॥१९॥

भावार्थ – पर वस्तु के त्यागरूप चारित्र के धारण करने वाले दो होते हैं, एक मुनि, दूसरे गृहस्थ। इनमे से शरीर के सिवाय अन्य समस्त परिग्रह तथा स्थूल और सूक्ष्म दोनों पापो के त्यागी महापुरुष मुनि कहलाते हैं ॥१९॥

मूलोत्तरादिकान्वोढु, त्वं न शक्तो हि तद्गुणान् ।
न हि वारणपर्याणं, भर्तु शक्तो वनायुजः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—त्वम् = तू, मूलोत्तरादिकान् = मूलगुण और उत्तरगुण इत्यादि, तद्गुणान् = उन मुनियों के गुणों को, वोढुम् = धारण करने को, शक्तः = समर्थ, न=नहीं, (असि= हो) । नीतिः— हि=क्योंकि, वनायुज. = पारसी देश का घोड़ा, वारणपर्याम् = हाथी के पलान को, भर्तुम्=धारण करने को, शक्त =समर्थ, नास्ति=नहीं होता।

भावार्थ —हे क्षपक ! जैसे अल्पशक्ति का धारक घोड़ा हाथी के बोझ (हौद आदि) को धारण नही कर सकता, उसी

प्रकार इस समय तू भी उन मुनियो के महाव्रतो को धारण करने के लिये समर्थ नहीं है। अतएव तू इस समय गृहस्थधर्म को ही स्वीकार कर ॥२०॥

अतस्त्वमधुना धर्मं, गृहाण गृहमेधिनाम् ।
न ह्यारोढुमधिश्रेणिं, यौगपद्येन पार्यते ॥२१॥

अन्वयार्थौ—अतः=इसलिये, त्वम्=तू, अधुना=इस समय, गृहमेधिनाम्=गृहस्थों के, धर्मम्=धर्म को, गृहाण=स्वीकार कर। नीतिः-हि=क्योंकि, अधिश्रेणिम्=जीने के ऊपर, यौगपद्येन=एक साथ, आरोढुम्=चढ़ने को, (कैश्चित्=किन्हीं के द्वारा) न पार्यते=समर्थ नहीं हुआ जा सकता ॥२१॥

भावार्थः—इसलिये इस समय तू गृहस्थधर्म को ही स्वीकार कर, क्योकि जिस प्रकार कोई साधारण पुरुष नसैनी या जीने पर बीच की सीढ़ियो को छोड़कर एकदम ऊपर नहीं चढ़ सकता; उसी प्रकार तू भी एकदम मुनियों के व्रतो को धारण नहीं कर सकता, अतएव क्रम-प्राप्त गृहस्थधर्म ही स्वीकार कर ॥२१॥

त्रिचतुःपञ्चभिर्युक्ता, गुणशिक्षाणुभिर्व्रतैः ।
तत्त्वधीरुचिसंपन्नाः, सावद्या गृहमेधिनः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—(क्रमशः=क्रम से) त्रिचतुःपञ्चभिः=तीन, चार और पांच, गुणशिक्षाणुभिः व्रतैः=गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अणुव्रतों से, युक्ताः=सहित, तत्त्वधीरुचिसम्पन्नाः=सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन सहित, (तथा) सावद्याः=सूक्ष्मपापसहित व्यक्ति, गृहमेधिनः=गृहस्थ, (भवन्ति=हुआ करते हैं) ॥२२॥

भावार्थः—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित होकर

५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों के धारी तथा स्थूल पंचपाप के त्यागी होते हैं, वे गृहस्थ (श्रावक) कहलाते हैं ॥२२॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं, स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ ।
मद्यमांसमधुत्यागै–स्तेषां, मूलगुणाष्टकम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—मद्यमांसमधुत्यागैः सह = मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग सहित, अहिंसा=हिंसात्याग, सत्यम् = असत्यत्याग, अस्तेयम्=चौर्यत्याग, स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ = परस्त्रीत्याग और स्थूलपरिग्रहत्याग, तेषाम् = उन गृहस्थों के, मूलगुणाष्टकम् = आठ मूलगुणों का समूह, (उक्तम् = कहा गया है) ॥२३॥

भावार्थ—१–मद्यत्याग, २–मांसत्याग, ३–मधुत्याग, ४–हिंसात्याग (अहिंसाणुव्रत), ५–असत्यत्याग (सत्याणुव्रत), ६–चौर्यत्याग (अचौर्याणुव्रत), ७–स्वदारसंतोष (ब्रह्मचर्याणुव्रत), और ८–परिग्रहत्याग (परिग्रहपरिमाणाणुव्रत) ये श्रावक के अष्ट मूलगुण कहलाते हैं ॥२३॥

भोगोपभोगसंहारो—ऽनर्थदण्ड—व्रतान्वितः ।
गुणानुबृंहणाद्ज्ञेयं, दिग्व्रतेन गुणव्रतम् ॥२४॥

नोट—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच पापों का एकदेश (स्थूलरूप से) त्याग करने को 'अणुव्रत' और इन (अणुव्रतों) के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत को 'गुणव्रत' कहते हैं। देशावकाशिक, सामयिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चारों व्रत प्राणी को मुनिव्रतों के अभ्यास की ओर लगाते है, अतः आगम में इन्हें 'शिक्षाव्रत' कहा गया है, व्रतके भेद निम्नप्रकार है—

पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत, चौ शिक्षाव्रत शास्त्र–विधान ।
धन कर श्रावक व्रत के बारह, भेद बताओ तुम बुधिमान ॥

अन्वयार्थौ—गुणानुबृंहणात्=मूलगुणों के वर्धक होने से, दिग्व्रतेन सह=दिग्व्रत के साथ, अनर्थदण्डव्रतान्वितः=अनर्थदण्डव्रतसहित, भोगोपभोगसंहारः = भोगोपभोगपरिमाणव्रत, गुणव्रतम् = गुणव्रत, ज्ञेयम्=जानना चाहिये ।।२४।।

भावार्थ.—१-दिग्व्रत, २-अनर्थदण्डव्रत, ३-और भोगोपभोगसंहार (भोगोपभोगपरिमाणव्रत) ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। ये तीनों अष्टमूल गुणों में गुण (वृद्धि या दृढ़ता) करते हैं; इसलिये इनको गुणव्रत कहते हैं ।।२४।।

सप्रोषधोपवासेन, व्रतं सामायिकेन च ।
देशावकाशिकेन स्याद्, वैयावृत्त्यं तु शिक्षकम् ।।२५।।

अन्वयार्थौ—सप्रोषधोपवासेन = प्रोषधोपवासव्रत सहित, सामायिकेन=सामायिक, च=और, देशावकाशिकेन सह = देशव्रत देशावकाशिकव्रत के साथ, वैयावृत्यम् = वैयाव्रत्य, शिक्षकं व्रतम् = शिक्षाव्रत, (कथ्यते=कहलाता है) ।।२५।।

भावार्थ.—१-देशावकाशिक, २-सामायिक, ३-प्रोषधोपवास और ४-वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं ।।२५।।

परिच्छिन्नदिशि प्राप्तिं, त्यागं निष्फलदुष्कृतेः ।
मितान्नस्त्र्यादिकत्वं च, कृत्यं विद्धि गुणव्रते ।।२६।।

अन्वयार्थौ—परिच्छिन्नदिशि=परिमित दिशाओं में, प्राप्तिम्=गमन को, निष्फलदुष्कृतेः=निष्प्रयोजन पापजनक कार्य के, त्यागम्=त्याग को, च=और, मितान्नस्त्र्यादिकत्वम्=परिमित स्त्री आदि को, (त्वम् = तू), गुणव्रते = गुणव्रत में, कृत्यम्=करने योग्य कार्य, विद्धि = जान ।।२६।।

भावार्थः—दशो दिशाओं की मर्यादा कर उससे बाहर

जाने आने के त्याग को दिग्व्रत कहते हैं। इस व्रत के धारण करने से मर्यादा के बाहर जाने-आने का सम्बन्ध न रहने से मुनियो के समान गृहस्थ के भी पाचो पापों का पूर्णरूप से ही त्याग होजाता है। जिन कामों से—जैसे रास्ते मे चलते समय व्यर्थ जल का ताड़न करना, हरी वनस्पति का तोड़ना इत्यादि-व्यर्थ मे पाप का बन्ध होता है; उनका त्याग करना अनर्थदण्ड-व्रत कहलाता है। भोग (एक वार उपयोग मे आसकने योग्य) और उपभोग (कई वार उपयोग में आसकने योग्य) वस्तुओ का परिमाण कर अधिक की चाह न करना भोगोपभोगसंहार (भोगोपभोगपरिमाण) व्रत कहलाता है ॥२६॥

सञ्चारस्यावधि र्नित्यं, सचिह्ना चात्मभावना।
दानाद्यैरुपवासश्च, पर्वादिष्वन्यतः कृती ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अन्यतः=शेष शिक्षाव्रत में, नित्यम् = हमेशा, सचिह्ना=वाग वाजार आदि के चिह्न सहित संचारस्य=गमन की, अवधि=मर्यादा, आत्मभावना = आत्मा का चिन्तवन, दानाद्यैः सह= दान; पदसम्वाहन, आपत्तिनिवारण आदि सहित, पर्वादिषु = पर्व आदि के दिनों में, उपवासः=उपवास करना, कृती=कर्त्तव्य (विद्धि=जान)

भावार्थ—दिग्व्रत मे जीवनपर्यन्त लिये कृत बड़ी मर्यादा में भी घड़ी घंटा आदि काल के विभाग से कमी करना देशव्रत है। सामायिक के लिये निश्चित समय में पांचो पापो का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर आत्म-चिन्तवन करना सामायिक व्रत है। सदा प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन व्रत की आन्तरिक भावना से आरम्भादि का त्याग कर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारों प्रकार के भोजनो का त्याग प्रोषधोपवास है। गुणी मुनिजन आदि के लिये स्व पर के धर्म की वृद्धि की भावना से लाभादिक की चाह विना यथा-

शक्ति यथायोग्य चतुर्विध दान देना वैयावृत्य कहलाता है॥२७॥

अणुव्रती व्रतैरेतैः, क्वचिद्देशे क्वचित्क्षणे ।
महाव्रती भवेत्तस्माद्, ग्राह्यं धर्ममगारिणाम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—अणुव्रती=अणुव्रतों का धारक श्रावक, एतैः=इन, व्रतैः=व्रतों से, क्वचित्=किसी, देशे=स्थान में, क्वचित्=किसी, क्षणे=समय में, महाव्रती=महाव्रतधारी, भवेत्=होता है, तस्मात्=इसलिये, (आचार्याः=आचार्य), अगारिणाम्=गृहस्थों के, धर्मम्=धर्म को, ग्राह्यम्=धारण करने योग्य, विदुः=कहते हैं ॥२८॥

भावार्थ.—देशव्रती श्रावक इन व्रतों के प्रभाव से कभी योग्य देश और योग्य कालादिक रूप सामग्री पाकर महाव्रती भी बन जाता है। अतएव तुम इस समय देशचारित्र को ही धारण करो। पश्चात् योग्य द्रव्यादि के मिलने पर महाव्रती भी हो सकोगे ॥२८॥

इत्युक्तः प्रत्यगृह्णाच्च, स धर्मं गृहमेधिनाम् ।
क कदा कीदृशो न स्याद्, भाग्ये सति पचेलिमे ॥२९॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, उक्तः=उपदिष्ट, सः=वह किसान, गृहमेधिनाम्=गृहस्थों के, धर्मम्=धर्म को, प्रत्यगृह्णात्=स्वीकार करता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, भाग्ये=सौभाग्य के, पचेलिमे=उदय होने पर, कः=कौन, कदा=कब, कीदृश.=कैसा, न स्यात्=नहीं हो जाता? ॥२९॥

भावार्थ—जीवन्धर स्वामी के इस प्रकार उपदेश देने पर उस किसान ने पूर्वोक्त गृहस्थधर्म स्वीकार कर लिया। ठीक ही है, क्योंकि सौभाग्य के उदय होने पर साधारण पुरुष भी महान् बन जाता है, अतएव तुच्छ गिना जाने वाला वह किसान पुण्य के उदय होने पर यदि देशव्रती श्रावक होगया तो इसमें

कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥२९॥

अत्यादरान्निजाहार्य—ममुष्मै दानविद्ददौ ।
नादाने किन्तु दाने हि, सतां तुष्यति मानसम् ॥३०॥

अन्वयार्थौ—दानवित्=दान का ज्ञाता, जीवन्धर, अत्यादरात्=अत्यन्त आदर से, निजाहार्यम्=अपने आभूषणों को, अमुष्मै=इस किसान के लिये, ददौ=प्रदान करता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, सताम्=महापुरुषों का, मानसम्=मन, दाने=दान देने में, एव=ही, तुष्यति=प्रसन्न रहता है, आदाने=दान लेने में, न=नहीं ॥३०॥

भावार्थः—गृहस्थधर्म धारण कर लेने पर उस किसान के लिये जीवन्धर स्वामी ने अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण प्रदान किये। क्योंकि महापुरुषो का हृदय औरो को दान देने में ही प्रसन्न रहता है, लेने में नही। इसीकारण जीवन्धर उसे अपने आभूषण देकर बहुत प्रसन्न हुये ॥३०॥

अनर्घ्यांकल्पलाभाच्च, धर्मलाभाच्च पिप्रिये ।
तादात्विकसुखप्रीतिः, संसृतौ हि विशेषतः ॥३१॥

अन्वयार्थौ—(सः=वह किसान,) अनर्घ्यांकल्पलाभात्=बहुमूल्य आभूषणों की प्राप्ति से, च=और, धर्मलाभात्=धर्म की प्राप्ति से, पिप्रिये=अधिक प्रसन्न हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, संसृतौ=संसार में, तादात्विकसुखप्राप्तिः=तात्कालिक सुख में प्रेम, विशेषतः=विशेषरूप से, (भवति=होता है) ॥३१॥

भावार्थ—प्राणी को तात्कालिक (कार्य करने के अनन्तर ही प्राप्त होने वाला) सुख विशेष आनन्ददायक होता है, अतएव वह किसान धर्मलाभ के साथ बहुमूल्य आभूषणों को भी प्राप्त कर अधिक आनन्दित हुआ ॥३१॥

तं विसृज्य ततः स्वामी, तस्य स्मरन् विनिर्ययौ ।
प्रत्यक्षे च परोक्षे च, सन्तो हि समवृत्तिकाः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, स्वामी=जीवन्धर, तम्=उस किसान को, (तत्र=वहां, एव=ही), विसृज्य=छोड़कर, तस्य=उसका, स्मरन्=स्मरण रखते हुये, एव=ही, (ततः=वहां से), विनिर्ययौ= चल दिये। नीति.-हि=क्योंकि, सन्त=सज्जन मनुष्य, प्रत्यक्षे=सामने, च=और, परोक्षे=पीछे, समवृत्तिकाः=समान व्यवहार करने वाले, (भवन्ति=होते हैं) ॥३२॥

भावार्थ.—जीवन्धर कुमार वस्त्राभूषण देने के बाद उस किसान को वहां ही छोड़ कर अपने हृदय में उसका स्मरण रखते हुये और भी आगे चले गये। क्योंकि सज्जन मनुष्य सामने और पीछे समान व्यवहार करते हैं। इसीलिये जीवन्धर उसे परोक्ष मे भी न भूले ॥३२॥

अथारण्ये क्वचिच्छ्रान्तो, निषण्णो निरुपद्रवः ।
शरण्यं सर्वजीवानां, पुण्यमेव हि नापरम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, श्रान्त=थके हुये, जीवन्धर, क्वचित्=किसी, अरण्ये=वन में, निरुपद्रवः=उपद्रव रहित, निषण्णः= बैठ गये,। नीतिः-हि=क्योंकि, सर्वजीवानाम्=समस्त प्राणियों का, शरण्यम्=रक्षक, पुण्यम्=पुण्य, एव=ही, (भवति=होता है), अपरम्= और कोई, न=नहीं ॥३३॥

भावार्थ—मार्ग को यात्रा से थके हुये जीवन्धरकुमार किसी वन में ही निर्भय होकर अकेले बैठ गये। ठीक ही है, क्योंकि पुण्यवान् पुरुषो को कहीं भी भय नहीं हुआ करता, तदनुसार उस विस्तृत और भयंकर वन में एकाकी जीवन्धर के भी पुण्य के उदय से कोई उपद्रव नही हुआ ॥३३॥

तत्र चैकाकिनीं रामां, पश्यन्नासीत्पराङ्मुखः ।
अपदोषानुषंगा हि, करुणा कृतिसंभवा ॥३४॥

अन्वयार्थौ—जीवन्धर, तत्र = उस वन में, एकाकिनीम् = अकेली, रामाम् = एक स्त्री को, पश्यन् = देखता हुआ, पराङ्मुखः = विमुख, आसीत्=हो गया। नीतिः-हि=क्योंकि, कृतिसम्भवा=विद्वानों से उत्पन्न, करुणा = दया, अपदोपानुषंगा = दोष की आशंका रहित, (भवति = होती है) ॥३४॥

भावार्थ—उस वन मे जीवन्धर ने किसी जगह एक अकेली स्त्री (विद्याधरी) को देखकर उसकी ओर से अपना मुख फेर लिया। ठीक ही है, क्योंकि विद्वज्जन किसी पर ऐसी अनुचित दया नही करते, जिसमे दोष की आशंका हो। तदनुसार जीवन्धर ने भी विद्याधरी को अकेली देख उसके पास जाकर सुख-दुख की बात पूछना भी अनुचित समझा ॥३४॥

सा तु जाता वृषस्यन्ती वृषस्कन्धस्य वीक्षणात् ।
अप्राप्ते हि रुचिः स्त्रीणां, न तु प्राप्ते कदाचन ॥३५॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, सा = वह विद्याधरी, वृषस्कन्धस्य = बैल के समान पुष्ट कन्धे वाले जीवन्धर के, वीक्षणात् = देखने से, वृषस्यन्ती = कामान्ध, जाता=हो गई। नीतिः-हि=क्योंकि, स्त्रीणाम्= स्त्रियों की, रुचि.=चाह, (प्रायः = बहुधा, अप्राप्ते = अप्राप्त पुरुष में, (एव = ही, स्यात् = होती है), तु = किन्तु, प्राप्ते = प्राप्त पुरुष में, कदाचन = कभी भी, न भवति=नहीं होती ॥३५॥

भावार्थ—किन्तु वह विद्याधरी सुन्दर और हृष्ट पुष्ट जीवन्धर को देखकर उन पर आसक्त हो गई। ठीक ही है, क्योंकि अपने पति के सर्वथा योग्य होने पर भी प्रायः कर स्त्रियों का प्रेम अन्य अप्राप्य पुरुषों मे ही हुआ करता है। तदनुसार

उस विद्याधरी ने भी काम के वशीभूत होकर अपने स्वामी के मौजूद रहते हुये भी जीवन्धर की चाह की ॥३५॥

अश्वस्यन्तीं विभाव्यैना–माकूतज्ञो व्यरज्यत ।
अनुराक्तदज्ञानां, वशिनां हि विरक्तये ॥३६॥

अन्वयार्थौ—आकूतज्ञ.=अन्य के अभिप्राय के जानकार, जीवन्धर, एनाम्=इस विद्याधरी को, अश्वस्यन्तीम् = कामासक्त, विभाव्य=जान कर, विरज्यत=विरक्त हो गये । नीतिः–हि = क्योंकि, अज्ञानाम्=मूर्खों के, अनुरागकृत्=रागजनक, (वस्तु=वस्तु), वशिनाम्= जितेन्द्रियों के, विरक्तये = विराग के लिये, (जायते=होती है) ॥३६॥

भावार्थ.—विना कहे ही और के अभिप्राय के जानकार जीवन्धर इस (विद्याधरी) को कामासक्त जानकर उसकी ओर से विरक्त हो गये। क्योकि जो वस्तु मूर्खों के राग-जनक होती है, वही वस्तु जितेन्द्रिय जनो के वैराग्यवर्द्धक होती है । यही कारण था जो विद्याधरी को कामासक्त देख कर भी जीवन्धर उसमे आसक्त न होकर विरक्त ही हुये ।।३६॥

पृथक्चेदङ्गनिर्माणं, चर्ममांसमलादिकम् ।
सजगुप्सेऽत्र तत्पुञ्जे, मूढात्मा हन्त मुह्यति ॥३७॥

अन्वयार्थौ—चेत्=यदि, अङ्गनिर्माणम्=शरीर की रचना, पृथक्=जुदी जुदी, (क्रियेत=की जाय, तर्हि=तो), चर्ममांसमलादिकम्= चमडा; मांस और मल आदिक, एव=ही, (दृश्येत=दृष्टिगोचर होगा) तत्=तो भी, हन्त=खेद की बात है, (यत् = कि), मूढ़ात्मा=अज्ञानी प्राणी, सजुगुप्से=घृणासहित, तत्पुञ्जे=चमड़े और मांस आदि के ढेर रूप, अत्र=इस शरीर में, मुह्यति=मोहित होता है ।.३७॥

भावार्थ·—यदि शरीर की रचना अलग अलग की जाय, तो इसमें चमड़ा और मांस के सिवाय और कोई अच्छी

वस्तु न दिखेगी। तो भी खेद की बात है कि इस शरीर (चमड़े, मांस और मल आदि के ढेर) में अज्ञानी प्राणी प्रेम करता है ॥३७॥

दुर्गन्धमलमांसादि — व्यतिरिक्तं विवेचने ।
नेक्षते जातु देहेऽस्मिन्, मोहे को हेतुरात्मनाम् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—विवेचने सति=आत्मा के अलग होने पर, अस्मिन्=इस, देहे=शरीर में, दुर्गन्धमलमांसादिव्यतिरिक्तम् = दुर्गन्ध; मल और मांस आदि से भिन्न वस्तु जातु=कभी भी, न ईक्षते = न दिखेगी। (एवम् = ऐसा, सति=होने पर), आत्मनाम्=प्राणियों के, (अत्र=इस शरीर में), मोहे=मोह होने में, कः=कौन, हेतुः=कारण, (अस्ति=है) ? ॥३८॥

भावार्थः—एकमेक होकर मिले हुये आत्मा और शरीर से आत्मा के अलग हो जाने पर इस शरीर में दुर्गन्ध, मल और मांस से भिन्न और कोई सुन्दर वस्तु नहीं दिखेगी। ऐसी हालत में मूर्ख प्राणी इसमें मोह क्यो करता है, यह विचारणीय बात है ? ॥३८॥

अज्ञानमशचे र्बीजं, ज्ञात्वा व्यूहं च देहकम् ।
आत्मात्र सस्पृहो वक्ति, कर्माधीनत्वमात्मनः ॥३९॥

अन्वयार्थौ—देहकम्=शरीर को, अशुचेः=अपवित्रता का, बीजम्=कारण, अज्ञानम्=ज्ञानरहित, च=और, व्यूहम्=विचार रहित, ज्ञात्वा=जानकर, अपि=भी, अत्र=इस शरीर में, सस्पृहः=अनुरागी, आत्मा=आत्मा, आत्मनः=अपनी, कर्माधीनत्वम्=कर्मकृत अधीनता को, (स्वयम्=अपने आप, वक्ति=प्रगट करता है) ॥३९॥

भावार्थः—यह शरीर, अपवित्रता का कारण, ज्ञान-रहित और विचारशक्ति-रहित है, ऐसा जानकर भी उसमें

अनुराग करके वाला आत्मा यही सूचित करता है, कि—मैं कर्मों के आधीन हूं, अन्यथा शरीर में मेरा (आत्मा का) अनुराग ही नहीं होता ॥३९॥

मदीयं मांसलं मांस—ममीमांसेयमङ्गना ।
पश्यन्ती पारवश्यान्धा, ततो याम्यात्मनेऽथवा ॥४०॥

अन्वयार्थौ—इयम् = यह, अगंना = स्त्री मदीयम् = मेरे, मांसलम्=पुष्ट, मांसम्=शरीर को, पश्यन्ती=देखती हुई, अमीमांसा= विवेकशून्य, (सती=होती हुई), पारवश्यान्धा = कामान्ध, जाता = हो गई है। तत =इसलिये, अथवा = तथा, आत्मने=अपने हित के लिये, (इतः=इस वन से, अहम् = मैं), यामि=जाता हूं ॥४०॥

भावार्थ.—विवेकहीन यह विद्याधरी मेरे हृष्ट पुष्ट और सुन्दर शरीर को देखकर आसक्त हो गई है, इसलिये अथवा अपने सदाचार की रक्षा और हित के लिये इस वन से मेरा चला जाना ही उचित है, ऐसा जीवन्धर कुमार ने निश्चय किया ॥४०॥

अङ्गारसदृशी नारी, नवनीतसमा नराः ।
तत्तत्सांनिध्यमात्रेण, द्रवेत्पुंसां हि मानसम् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—नारी = स्त्री, अङ्गारसदृशी=जलते हुये कोयले के समान, (च=और), नराः=मनुष्य, नवनीतसमाः=मक्खन के समान, (भवन्ति = होते हैं), ततः=इसलिये, तत्सम्बन्धमात्रेण = उन स्त्रियों की समीपता मात्र से, पुंसाम्=पुरुषों का, मानसम्=हृदय, द्रवेत्=विचलित हो जाता है ॥४१॥

भावार्थः—नीतिकारों ने, स्त्रियों को अङ्गार समान और पुरुषों को मक्खन समान बतलाया है। जैसे समीप में अङ्गार होने से मक्खन पिघल जाता है, उसीप्रकार समीप में स्त्री के होने से पुरुषों का मन भी विचलित (कामातुर) हो जाता है ॥४१॥

संलापवासहासादि, तद्वर्ज्यं पापभीरुणा ।
बालया वृद्धया मात्रा, दुहित्रा वा व्रतस्थया ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तत्=इसलिये, पापभीरुणा=पाप से भीत व्यक्ति के द्वारा, बालया=जवान कन्या से, वृद्धया=वृद्धा स्त्री से, मात्रा=माता से, दुहित्रा=पुत्री से, वा=और, व्रतस्थया=व्रतपालन करने वाली आर्यिका आदि से, (अपि=भी, एकान्ते = एकान्त में), संलापवासहासादि=बातचीत सहवास और हँसी आदिक, वर्ज्यम्= त्यागा जाना चाहिये ॥४२॥

भावार्थ.—जब कि स्त्री के समीप रहने मात्र से पुरुषों का मन चलायमान (कामातुर) हो जाता है, तब पाप से भीत विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह—जवान कन्या, वृद्धा, माता और पुत्री से ही नहीं किन्तु व्रतधारिणी स्त्री (आर्यिकादि) से भी अनर्थक वार्तालाप, एकान्तनिवास और हँसी मजाक आदि न करे ॥४२॥

इति वैराग्यतर्केण, ततो यातुं प्रचक्रमे ।
भेतव्यं खलु भेतव्य, प्राज्ञैरज्ञोचितात्परम् ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), इति = इस प्रकार, वैराग्यतर्केण= वैराग्यजनक विचार से, ततः=वहां से, यातुम्=प्रस्थान करने के लिये, प्रचक्रमे = तैयार हुये । नीतिः-खलु=क्योंकि, प्राज्ञैः=बुद्धिमानों के द्वारा, अज्ञोचितात्=मूर्ख पुरुषों के करने योग्य कार्य से, परम्=अत्यन्त, भेतव्यं भेतव्यम्=डरते रहना चाहिये ॥४३॥

भावार्थ—मूर्खों के करने योग्य कार्यों से विवेकियो को सदा-दूर रहना चाहिये इसीकारण विवेकी जीवन्धर उस कामिनी की ओर से विरक्त होकर वहां से चलने को तैयार हुये ॥४३॥

विरक्तमेव रक्ता सा, निश्चिकाय विपश्चितम् ।
निसर्गादिङ्गितज्ञान–मङ्गनासु हि जायते ॥४४॥

अन्वयार्थौ—रक्ता=आसक्त, अपि=भी, सा=वह, विद्याधरी, विपश्चितम्=विवेकी जीवन्धर को, (स्वस्याम्=अपने में), विरक्तम्=विरक्त, एव=ही, निश्चिकाय=निश्चय करती हुई। नीति –हि=क्योंकि, इङ्गितज्ञानम्=शरीर की चेष्टा से मन के भावों को जानने वाला ज्ञान, अंगनासु=स्त्रियों में, निसर्गात्=स्वाभाव से, (एव=ही), जायते=होता है ॥४४॥

भावार्थ—उस विद्याधरी ने भी जीवन्धर के द्वारा कुछ कहे विना ही उन्हे अपने से विरक्त निश्चय कर लिया। ठीक ही है, क्योंकि शरीर की चेष्टा से ही अन्य के मन का भाव जानने का ज्ञान स्त्रियों में स्वभाव से ही होता है। इसीलिये विद्याधरी ने जीवन्धर का अभिप्राय स्वयमेव जान लिया ॥४४॥

तस्य स्वान्तं वशीकर्तु, स्वोदन्तमियमूचिषी ।
प्रतारणविधौ स्त्रीणां, बहुद्वारा हि दुर्मति. ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तस्य=उस जीवन्धर के, स्वान्तम्=मन को, वशीकर्तुम्=वश में करने के लिये, इयम्=यह विद्याधरी, स्वोदन्तम्=अपने वृत्तान्त को, ऊचिषी=कहने लगी। नीतिः–हि=क्योंकि, स्त्रीणाम्=स्त्रियों की, दुर्मति.=दुर्बुद्धि, (अन्यस्य=अन्य के), प्रतारणविधौ=ठगने के विषय में, बहुद्वारा=अनेक द्वार वाली, (भवति=होती है) ॥४५॥

भावार्थ—जीवन्धरकुमार के मन को लुभाने के लिये उस विद्याधरी ने उनसे निम्नप्रकार अपना वृत्तान्त सुनाया। क्योंकि स्त्रियां दूसरो को ठगने की अनेक कलायें जाना करती हैं। तदनुसार उस विद्याधरी ने जीवन्धर को ठगने के लिये उनसे अपनी करुण कहानी कहना शुरू की ॥४५॥

विद्धि दीनां महाभाग, मां विद्याधरकन्यकाम् ।
स्यालेनात्र बलान्नीतां, त्यक्तामात्मप्रियाभयात् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—महाभाग=हे भाग्यवान् जीवन्धर, (त्वम्=तुम), माम्=मुझको, स्यालेन=भाई के साले के द्वारा, बलात्=जबर्दस्ती से, नीताम्=लाई हुई, (किन्तु), आत्मप्रियाभयात्=अपनी स्त्री के डर से, अत्र=इस वन में, त्यक्ताम्=छोड़ी हुई, दीनाम्=अनाथ, (च = और), विद्याधरकन्यकाम्=विद्याधर की कन्या, विद्धि=जानो ॥४६॥

भावार्थ—हे भाग्यवान् जीवन्धर ! मै विद्याधर की एक दीन (अनाथ) कन्या हूॅ। मेरे भाई का साला मुझे जबर्दस्ती (चोरी) से हर लाया था, किन्तु अपनी स्त्री के भय से वह मुझे इस जङ्गल में छोड़ गया है ॥४८॥

अनङ्गतिलकां नाम्ना, पुंसां तिलक ! रक्ष माम् ।
अशरण्यशरण्यत्वं, वरेण्ये वर्ततामिति ॥४७॥

अन्वयार्थौ—पुंसां तिलक=हे पुरुषोत्तम, नाम्ना = नाम से, अनङ्गतिलकाम्=अनङ्गतिलका, माम्=मुझको, रक्ष=सहारा दीजिये, (येन=जिससे), वरेण्ये=महापुरुषों में, अशरण्यशरण्यत्वम्=असहायों का सहायक पना, वर्तताम्=रहे ॥४७॥

भावार्थ—हे महापुरुष ! जीवन्धर ! मेरा नाम अनङ्ग-तिलका है, आप मेरी रक्षा कीजिये, जिससे महापुरुषों मे असहायों का सहायकत्व रहे, यह लोक शरणातीत प्रतीत न हो ।

तावदार्तस्वरः कोऽपि, शश्रुव श्रुतशालिना ।
क्व प्रयाता प्रिये प्राणा, मम यान्तीति दुःसहः ॥४८॥

अन्वयार्थौ—तावत्=इतने ही में, प्रिये=हे प्यारी, त्वम्=तुम, क्व=कहां, प्रयाता=चली गई, (त्वद्वियोगे=तेरे वियोग में),

मम=मेरे, प्राणाः=प्राण, यान्ति=निकले जाते हैं । इति=इस प्रकार, दुःसहः=असह्य, कः=कोई, आर्तस्वरः=दुखी मनुष्य का शब्द, श्रुतशालिना=विद्वान् जीवन्धर के द्वारा, शुश्रुवे=सुना गया ॥४८॥

भावार्थ—इतने में ही "हे प्यारी तुम कहां चली गईं, तुम्हारे विना मेरे प्राण निकल रहे हैं", इस प्रकार किसी दुखी मनुष्य का असह्य शब्द जीवन्धर ने सुना ॥४८॥

योषाप्येषा मिषेणास्मा-न्निमेषादिव निर्ययौ ।
मायामयी हि नारीणां, मनोवृत्ति र्निसर्गतः ॥४९॥

अन्वयार्थौ—एषा=यह, योषा=स्त्री, अपि=भी, मिषेण=किसी बहाने से, (अस्मात्=इस स्थान से), निमेषात्=क्षणमात्र में, इव=ही, निर्ययौ=चली गई । नीतिः-हि=क्योंकि, नारीणाम्=स्त्रियों की, मनोवृत्तिः=चित्रवृत्ति, निसर्गतः=स्वभाव से, मायामयी=कपट-युक्त, (वरीवर्तते=होती है) ॥४९॥

भावार्थः—यह स्त्री भी किसी बहाने से क्षणमात्र में ही जीवन्धर के पास से अन्यत्र चली गई । क्योंकि स्त्रियों की चित्त-वृत्ति में छल-कपट स्वभाव से ही होता है । तदनुसार उस विद्याधरी ने भी अन्यत्र जाने के लिये बहाना रूप कपट क्षण-मात्र में कर दिखाया और जीवन्धर जैसे विवेकी को भुलावे में डाल दिया ॥४९॥

आर्तस्वरकरोऽप्याह, दैन्यं मान्यस्य वीक्षणात् ।
शोच्याः कथं न रागान्धा, ये तु वाच्यान्न बिभ्यति ॥५०॥

अन्वयार्थौ—आर्तस्वरकरः=दुःखद्योतकशब्द कहने वाला, सः=वह अभ्यागत व्यक्ति, अपि=भी, मान्यस्य=माननीय जीवन्धर के, वीक्षणात्=देखने से, दैन्यम्=दीनतापूर्वक, आह=कहने लगा । नीतिः-हि=क्योंकि, ये=जो मनुष्य, वाच्यात्=अपवाद से, न बिभ्यति=

नहीं डरते हैं, (ते=वे), रागान्धाः=रागीजन, शोच्याः=शोचनीय, कथम्=कैसे, न सन्ति=नहीं हैं ? ॥५०॥

भावार्थ—जो रागी मनुष्य अपनी निंदा से भी नहीं डरते, उनकी हालत विचित्र और शोचनीय होती है। इसी कारण आये हुये रागी विद्याधर ने भी महापुरुष जीवन्धर से अपनी स्त्री के लज्जाजनक समाचार को सुनाने के अनौचित्य का विचार नही कर उनसे निम्नप्रकार कहना शुरू किया ॥५०॥

उदन्योपद्रुतामत्र, मान्य ! भार्यां पतिव्रताम् ।
पानीयार्थमवस्थाप्य, नाद्राक्षं प्रस्थितागतागत ॥५१॥

अन्वयार्थौ—मान्य=हे माननीय, उदन्योपद्रुताम्=प्यास से व्याकुल, पतिव्रताम्=पतिव्रता, भार्याम्=स्त्री को, अत्र = यहां पर, अवस्थाप्य=बिठाकर, पानीयार्थम्=पानी लाने के लिये, प्रस्थितागतः=जाकर आया हुआ, (अहम्=मैं), अत्र = यहां पर, ताम्=उसको, न अद्राक्षम्=नहीं देखता हूँ ॥५१॥

भावार्थ—हे माननीय जीवन्धर मेरी पतिव्रता धर्मपत्नी प्यासी थी, उसे यहां पर ही बिठाकर मैं पानी लाने के लिये जलाशय को गया था; वहां से वापिस आकर देखता हूं तो वह यहां नही है ॥५१॥

विद्याप्यविद्यमानैव, मम विद्याधरोचिता ।
मर्त्योत्तम भवानत्र, कर्त्तव्यं कथयेदिति ॥५२॥

अन्वयार्थौ—मर्त्योत्तम = हे पुरुषोत्तम ! (तद्वियोगे = उसका वियोग होने पर), मम = मेरी, विद्याधरोचिता = विद्याधरों के योग्य, विद्या=विद्या, अपि=भी, अविद्यमाना=विलीन, एव=ही, जाता=हो गई है, भवान्=आप, अत्र=इस विषय में, कर्त्तव्यम्=करने योग्य उपाय को, कथयेत् = कहिये ॥५२॥

भावार्थ.—हे पुरुषोत्तम जीवन्धर ! उस स्त्री के कारण ही मेरी विद्याधर सम्बन्धी विद्या भी विलीन हो गई है और मुझे कर्त्तव्य-मार्ग भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसलिये विशेष विद्वान् आप इस विषय में मुझे कर्त्तव्य मार्ग बतलाने की कृपा कीजिये।

पुरन्ध्रीष्वतिसंधाना — दभैषीदभयंकरः ।
वचनीयाद्धि भीरुत्वं, महतां महनीयता ॥५३॥

अन्वयार्थौ—अभयंकरः =निर्भय जीवन्धर, पुरन्ध्रीषु = स्त्रियों में, (स्थिताव्=रहने वाली), अतिसन्धानात्=ठग विद्या से, अभैषीत्= डर गये। नीतिः-हि=क्योंकि, वचनीयात् = निन्दाजनक कार्यों से, भीरुत्वम् = भीतपना, महाताम् = महापुरुषों का, महनीयता = बडप्पन, अस्ति=है ।

भावार्थ —निन्दाजनक कार्यों से डरते (दूर) रहना महाजनो का महत्त्व है, इसी कारण जीवन्धर ने उस विद्याधर से उसकी स्त्री की सरारत को जान कर स्त्रियो मे अधिक प्रेम करना आपत्तिजनक निश्चित किया ॥५३॥

नभश्चरं पुनश्चैनं, सविपश्चिदबोधयत् ।
अपश्चिमफलं वक्तुं, निश्चितं हि हितार्थिनः ॥५४॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, विपश्चित्=विद्वान्, सः = वह जीवन्धर, एनम्=इस, नभश्चरम्=विद्याधर को, अबोधयत्=समझाता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, हितार्थिन.=हितैषी जन, निश्चितम्= निश्चित, च=और, अपश्चिमफलम्=उत्कृष्ट फलदायक बात को, एव= ही, वक्तुम्=कहने को, इच्छन्ति=चाहते हैं ॥५४॥

भावार्थः—हितैषी जन निश्चित और उत्तम फलदायक बात ही कहा करते हैं, इसलिये विद्वान् जीवन्धर ने भवदत्त विद्याधर को निम्नप्रकार हितकर और परमार्थ उपदेश दिया।५४।

भवदत्त ! मुधार्तो ऽसि, विद्यावित्तो भवन्नपि ।
न विद्यते हि विद्याया—मगम्यं रम्यवस्तुषु ॥५५॥

अन्वयार्थौ—भवदत्त=हे भवदत्त, (त्वम्=तू), विद्यावित्तः=विद्यारूपी धनवाला, भवन्=होता हुआ, अपि = भी, मुधा = व्यर्थ, आर्तः=दुखी, असि = होता है। नीतिः–हि=क्योंकि, विद्यायाम्=विद्या के होने पर, रम्यवस्तुषु=सुन्दर वस्तुओं में, (किमपि=कुछ भी), अगम्यम्=दुष्प्राप्य, न विद्यते=नहीं होता ॥५५॥

भावार्थः—विद्वानों के दुष्प्राप्य वस्तु भी सरलता से प्राप्त हो जाती है, इसलिये किसी उत्तम वस्तु के वियोग होने पर भी उनके खेद नहीं होता। ऐसी हालत में हे भवदत्त ! विद्याधर ! तू विद्यावान् होकर भी अपनी स्त्री के वियोग मे इतना अधीर क्यो होता है ? ॥५५॥

नभश्चर ! न कश्चित्स्याद्, विपश्चिदविपश्चितोः ।
विनिश्चलशुचो र्भेदो, यतश्चन कुतश्चन ॥५६॥

अन्वयार्थौ—नभश्चर=हे विद्याधर, यतश्चन कुतश्चन = जिस किसी हर्ष विषाद के कारण से, विनिश्चलशुचोः=हर्ष विषाद करने पर विपश्चिदविपश्चितोः = विद्वान् और मूर्ख में, कश्चित्=कोई, भेदः = भेद, न=नहीं, (स्यात्=होगा) ॥५६॥

भावार्थः—हे विद्याधर ! विवेकी जन विपत्ति के आने पर भी धैर्य रखते हैं और विशेष लाभ होने पर भी गर्व नहीं करते, किन्तु मूर्ख जन जरासी विपत्ति से अधीर हो जाते हैं और थोड़े से लाभ में फूल जाते हैं, इसी बात से इन दोनों में अन्तर है। यदि विपत्ति और सम्पत्ति आने पर दोनो समान रूप से अधीर और प्रसन्न होने लगें, तो फिर उन दोनों में कोई अन्तर न रहेगा। ऐसी हालत में विद्वान् भी तू अधीर

होकर अपनी मूर्खता क्यों सूचित करता है ? ।।५६।।

परं सहस्रधीभाजि, स्त्रीवर्गे का पतिव्रता ।
पातिव्रत्यं हि नारीणां, गत्यभावे तु कुत्रचित् ॥५७॥

अन्वयार्थौ—परम्=और, सहस्रधीभाजि = हजारों प्रकार की बुद्धि के धारक, स्त्रीवर्गे = स्त्रीसमूह में, पतिव्रता = पतिव्रता, का=कौन, (स्यात्=होती है), हि=निश्चय से, नारीणाम्=स्त्रियों के, पातिव्रत्यम्= पतिव्रता पन, गत्यभावे=उपाय या अवसर न होने पर, कुत्रचित्=कहीं पर, (एव=ही, भवेत् = होता है) ।।५७।।

भावार्थः—स्त्रियां हजारों ढंग बनाना जानती हैं, उनमे पतिव्रता पन तो अवसर या उपाय के न होने पर ही प्रतिशत (सैकड़े में) दस पांच मे ही सम्भव हो सकता है ॥५७॥

मदमात्सर्यमायेर्ष्या — रागारोषादिभूषिताः ।
असत्याशुद्धिकौटिल्य–शाठ्यमौढ्यधनाः स्त्रियः ॥५८॥

अन्वयार्थौ—स्त्रियः=स्त्रियां, मदमात्सर्यमायेर्ष्यारागरोषादि-भूषिताः=घमंड; डाह, कपट, द्वेष, मोह; क्रोध आदि सहित, (च=और), असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यधना.= झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता सहित, (भवन्ति=होती हैं) ।।५८।।

भावार्थ—स्त्रियों में, घमंड, डाह, कपट, द्वेष, मोह, क्रोध, झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता ये बातें स्वाभाविक होती हैं ।।५८।।

निर्घृणे निर्दये क्रूरे, निर्व्यवस्थे निरंकुशे ।
पापे पापनिमित्ते च, कलत्रे ते कुतः स्पृहा ॥५९॥

अन्वयार्थौ—निर्घृणे=घृणरहित, निर्दये= दयारहित, क्रूरे= दुष्ट, निर्व्यवस्थे=व्यवस्थारहित, निरङ्कुशे = स्वतन्त्र, पापे=पापरूप,

(च=और), पापनिमित्ते=पाप की कारण, कलत्रे=स्त्री के विषय में, ते=तेरी, स्पृहा=प्रीति, विश्वास या इच्छा, कुतः=कैसे, (भवेत्=होती है) ॥५९॥

भावार्थः—हे भवदत्त ! घृणारहित, दयारहित, दुष्ट, व्यवस्थारहित, स्वतन्त्र, पापरूप और पाप की कारण स्त्री के विषय में तुझे प्रेम विश्वास या चाह नहीं करना चाहिये। उसमें विश्वासादि करने से किसी का कुछ भी वास्तविक लाभ नहीं हुआ ॥५९॥

इत्युपादिष्टमेतस्य, हृदये नासजत्तराम् ।
जठरे सारमेयस्य, सर्पिषो न हि सञ्जनम् ॥६०॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, उपादिष्टम्=उपदेश, एतस्य=इस भवदत्त के, हृदये=हृदय में.न असजत्तराम्=कुछ भी नहीं लगा। नीतिः-हि=क्योंकि, सारमेयस्य=कुत्ते के, जठरे=पेट में, सर्पिषः=घी का, सज्जनम्=ठहरना, (न स्यात्=नहीं होता) ॥६०॥

भावार्थः—जैसे कुत्ते के पेट मे घी नहीं ठहरता; उसी प्रकार दुष्टो के हृदय मे सज्जनो का उपदेश भी स्थान नही पाता, तदनुसार इस भवदत्त विद्याधर के हृदय मे भी जीवन्धर स्वामी के पूर्वोक्त उपदेश ने कुछ भी असर नही किया ॥६०॥

स्वामी तु तस्य मौढ्येन, सुतरामन्वकम्पत ।
उत्पथस्थेप्रवुद्धाना–मनुकम्पा हि युज्यते ॥६१॥

अन्वयार्थौ—तु=किन्तु, स्वामी=जीवन्धर, तस्य=उस विद्याधर की, मौढ्येन=मूर्खता से, सुतराम्=अत्यन्त, अन्वकम्पत=दयायुक्त हुये। नीतिः-हि=क्योंकि, उत्पतस्थे=कुमार्ग में चलने वाले मनुष्य पर, प्रवुद्धानाम्=बुद्धिमानों की, अनुकम्पा=दया, युज्यते एव=योग्य ही है ॥६१॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्य कुमार्गगामी मनुष्य पर भी दया करते हैं। इस नोति के अनुसार अपने सदुपदेश की अवहेलना करने पर भी उस विद्याधर की मूर्खता पर जीवन्धर के बहुत दया उत्पन्न हुई ॥६१॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, कमप्यारामभाश्रत् ।
अदृष्टपूर्वदृष्टौ हि, प्रायेणोत्कण्ठते मनः ॥६२॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, जीवन्धर, तस्मात्=उस वन से, विनिर्गत्य = निकल कर, कमपि = किसी, आरामम्=बगीचे को, आश्रयत्=पहुंचे। नीति.–हि=क्योंकि, मन.=मन, अदृष्टपूर्वदृष्टौ= पहले नहीं देखी हुई वस्तु के देखने में, प्रायेण=बहुधा, उत्कण्ठते= उत्कंठित होता है ॥६२॥

भावार्थः—जीवन्धर कुमार उस वन से निकल कर समीपवर्ती किसी बगीचे में गये। क्योंकि पहले नही देखी हुई वस्तु के देखने मे प्रत्येक मनुष्य का मन प्रायः उत्कण्ठित (देखने का उत्सुक) हुआ करता हे। इसीलिये जीवन्धर के भो अदृष्ट बगीचा के देखने की इच्छा हुई ॥६२॥

तत्राम्रफलमाकृष्टुं, धनुषा कोऽपि नाशकत् ।
अशक्तैः कर्तुमारब्धं, सुकरं किं न दुष्करम् ॥६३॥

अन्वयार्थौ—तत्र=उस बगीचे में. कः=कोई राजकुमार, धनुपा=बाण से, आम्रफलम्=एक आम के फल को, आकृष्टुम्= गिराने को, न अशकत्=समर्थ नहीं हुआ। नीतिः–हि = क्योंकि, अशक्तैः=असमर्थों के द्वारा, कुर्तुम्=करने को, आरब्धम्=प्रारम्भ किया गया, सुकरम्=सरल, (अपि=भो, कार्यम्=कार्य), दुष्करम्=कठिन, न स्यात् किम्=नहीं होजाता है क्या? ॥६३॥

भावार्थ—उस बगीचे में कोई राजकुमार बाण से आम

के एक फल को गिराता था; किन्तु वह उस कार्य में सफल नहीं हुआ। क्योंकि असमर्थ जनों को सरल काम भी कठिन हो जाता है, तदनुसार धनुर्विद्या मे अपरिपक्व राजकुमार के भी उपरोक्त सरल काम कठिन हो गया ॥६३॥

स्वामी तु तत्फलं, विद्ध-मादत्त सशिलीमुखम् ।
तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः, साध्यते हि समीहितम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—तु=किन्तु, स्वामी=जीवन्धर, विद्धम्=बाण से छिन्न, तत्=उस फलम्=फल को, सशिलीमुखम्=बाणसहित, आदत्त=ग्रहण करते हुये। नीतिः-हि=क्योंकि, तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः= उत्साह से तत्परतापूर्वक कार्य करने वालों के द्वारा, (स्वस्य=अपना), समीहितम्=इच्छितकार्य, साध्यते=सिद्ध कर लिया जाता है ॥६४॥

भावार्थ—किन्तु जीवन्धरकुमार ने उस फल को एक ही बाण से छेद कर जमीन पर गिरा दिया। क्योंकि उत्साह और तत्परतापूर्वक कार्य करने वाले मनुष्य अपने इच्छित कार्य को सरलता स पूर्ण कर लेते हैं, इसीकारण धनुर्विद्या में निपुण और उत्साही जीवन्धर ने उस फल को सरलता से गिरा दिया ॥६४॥

अपराद्धपृपत्कोऽपि, दृष्ट्वा व्यस्मेष्ट तत्कृतिम् ।
अपदानमशक्तानाम्—मद्भुताय हि जायते ॥६५॥

अन्वयार्थौ—अपराद्धपृषत्कः = लक्ष्यवेध करने में विफल बाण वाला, (सः=वह राजकुमार), अपि=भी, तत्कृतिम्=जीवन्धर की चतुराई को दृष्ट्वा=देखकर, व्यस्मेष्ट=आश्चर्य करने लगा। नीतिः-हि=क्योंकि, अपदानम्=प्रशंसनीय कार्य, अशक्तानाम्=असमर्थों के, अद्भुताय=आश्चर्य के लिये, जायते=होता है ॥६५॥

भावार्थ—औरो के प्रशंसनीय उत्तम कार्य को देखकर असमर्थ जनों के महान् आश्चर्य होता है, तदनुसार लक्ष्यवेध

नहीं कर सकने वाला वह राजकुमार जीवन्धर के द्वारा अनायास किये गये लक्ष्यवेध को देखकर अधिक आश्चर्यान्वित हुआ।

स्वामिनोऽयं स्ववृत्तान्तं, सकातर्यं समभ्यधात्।
सन्निधाने समर्थानां, वराको हि परो जनः ॥६६॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह राजकुमार, स्ववृत्तान्तम् = अपने समाचार को, स्वामिनः = जीवन्धर स्वामी से, सकातर्यम् = दीनता-पूर्वक, समभ्यधात् = कहने लगा। नीतिः—हि = क्योंकि, समर्थानाम् = शक्तिशालियों के, सन्निधाने = सामने, परः = अन्य असमर्थ, जनः = मनुष्य, वराकः = दीन, (भवति = हो जाता है) ॥६६॥

भावार्थ—वह राजकुमार अपने समाचार को जीवन्धर से दीनतापूर्वक कहने लगा। ठीक ही है, क्योंकि शक्तिशालियों के सामने अन्य असमर्थ मनुष्य दीन हो ही जाता है। तदनुसार शक्तिशाली जीवन्धर के सामने वह अभ्यागत राजकुमार भी बहुत कायल हुआ ॥६६॥

कर्त्तव्यं वा न वा प्रोक्तं, मया कार्मुककोविद।
कर्णकट्वपि मद्वाक्य-माकर्णयितुमर्हसि ॥६७॥

अन्वयार्थौ—कार्मुककोविद = हे धनुर्विद्यानिपुण (जीवन्धर), मया = मेरे द्वारा, प्रोक्तम् = कहा जाने वाला वचन, कर्तव्यम् = मानने योग्य, स्यात् = हो, वा = अथवा, न स्यात् = न हो, (तथापि = तो भी), कर्णकटु = कानों के अप्रिय, अपि = भी, मद्वाक्यम् = मेरे वचन को, आकर्णयितुम् = सुनने को, (त्वम् = तुम), अर्हसि = योग्य हो ॥६७॥

भावार्थ—हे धनुर्विद्याप्रवीण! जीवन्धर! मेरा वक्ष्यमाण वचन योग्य हो अथवा अयोग्य तथापि सुनने में कोई हानि नहीं; तदनुसार कार्य करना न करना आपकी इच्छा पर निर्भर है; इसलिये अप्रिय भी मेरे वचन को सुनने की कृपा कीजिये ॥६७॥

एतन्मध्यमदेशस्था, हेमाभा स्यादियं पुरी ।
क्षत्रियो दृढमित्रः स्यात्, तत्प्रिया नलिनाह्वया ॥६८॥

अन्वयार्थौ—एतन्मध्यमदेशस्था=इस मध्यदेश में स्थित, इयम् = यह, हेमाभा = हेमाभा नामक, पुरी = नगरी, स्यात् = है, (तस्याः = उसका), दृढमित्रः = दृढमित्र नामक, क्षत्रियः=क्षत्रियकुलोत्पन्न राजा, (वर्तते = हैं, च = और), नलिनाह्वया=नलिनानामक, तत्प्रिया= उसकी स्त्री, (विद्यते = है) ॥६८॥

भावार्थ—इस मध्यप्रदेश मे हेमाभा नामक नगरी है। उसमे दृढमित्र नामक राजा और नलिना नामक रानी है ॥६८॥

सुमित्राद्यास्तयोः पुत्रा-स्तेष्वप्यन्यतमोऽस्म्यहम् ।
वयवसैव वयं पक्का, विश्वेऽपि न तु विद्यया ॥६९॥

अन्वयार्थौ—तयोः = उन दोनों के, सुमित्राद्याः = सुमित्र आदिक, पुत्राः = पुत्र, (सन्ति=हैं), तेषु=उनमें, अहम् = मैं, अपि=भी, एकः = एक, अस्मि=हूँ, (तथा), विश्वे = समस्त, अपि = ही, वयम् = हम, वयसा = उम्र से, एव=ही, पक्वाः=वड़े, (जाताः = हो गये हैं), तु = किन्तु, विद्यया = विद्या से, न = नहीं ॥६९॥

भावार्थः—उन राजा रानी के सुमित्र और धनमित्र आदिक अनेक पुत्र हैं। उनमें से मैं भी एक हूँ। हम सब उम्र मे तो वड़े हो गये है, किन्तु विद्याहीन हैं ॥६९॥

तातपादोऽयमस्माकं, चापविद्याविशारदम् ।
विचिनोति न चेद्दोष-एषोऽप्यालोक्यतामिति ॥७०॥

अन्वयार्थौ—अस्माकम् = हमारे, अयम् = ये, तातपादः = पूज्य पिता, चापविद्याविशारदम् = धनुर्विद्या में निपुण पुरुष को, विचिनोति = तलाश रहे हैं। चेत् = यदि, दोषः = हानि, न स्यात् = न

होवे, (तर्हि=तो), एषः=ये हमारे पिता, अपि = भी, आलोक्यताम् = दृष्टिगोचर कीजिये ॥७०॥

भावार्थ—हमारे पिता हम लोगों को शिक्षा-सम्पन्न बनाने के हेतु धनुर्विद्या के जानकार एक विद्वान् को खोज (तलाश) रहे हैं, यदि आप अनुचित न समझें तो उनसे मिलने की कृपा कीजिये ॥७०॥

तद्व्याहारे विसंवादो, विदुषोऽप्यस्य नाजनि ।
विधि घंटयतीष्टार्थैः, स्वयमेव हि देहिन ॥७१॥

अन्वयार्थौ—तद्व्याहारे = उस राजकुमार के कथन में, अस्य= इस, विदुषः = विद्वान् जीवन्धर के, अपि = भी, विसंवादः = निषेध, न अजनि = नहीं हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, विधिः=कर्म, देहिनः= प्राणियों को, इष्टार्थैः = इष्ट वस्तुओं से, स्वयम् = खुद, एव = ही, घटयति = सम्बन्ध करा देता है ॥७१॥

भावार्थः—उस राजकुमार के वचन के मानने में जीवन्धर ने भी निषेध नहीं किया, क्योंकि शुभकर्म, प्राणियों को इष्ट वस्तुओं से अपने आप सम्बन्ध करा देता है, तदनुसार जीवन्धर को भी, राजकुमार का वचन मान लेने में कनकमाला की प्राप्ति रूप लाभ होना था, इसीलिये उन्हे भी उसकी बात मान लेने में विसंवाद नहीं हुआ ॥७१॥

पार्थिवं च तत पश्यँ-स्तद्वश्योऽभूच्च संमतेः ।
अनुसारप्रियो न स्यात्, को वा लोके सचेतनः ॥७२॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, (जीवन्धर कुमार), पार्थिवम्= राजा को, पश्यन् = देखते हुये, (तत्कृतायाः=उसके द्वारा किये गये, सम्मतेः = सत्कार से, तद्वश्यः = उसके वशीभूत, अभूत् = होगये। नीति. -हि = क्योंकि, लोके = संसार से, कः=कौन, सचेतनः = जीवित

प्राणी, अनुसारप्रियः = अपने अनुकूल मनुष्य पर प्रेम करने वाला, न स्यात् = नहीं होता ? ॥७२॥

भावार्थः—इस लोक में अपने अनुकूल मनुष्य पर सभी प्राणी प्रेम करते हैं, तदनुसार जब दृढमित्र राजा ने जीवन्धर का सत्कार किया, तब वे भी उसकी अनुकूलता देखकर उस पर बहुत प्रसन्न हुये और सर्वथा उसके वशीभूत (अनुकूल) हो गये ॥७२॥

महीक्षिता क्षणात्तस्य, माहात्म्यमपि वीक्षितम् ।
वपुर्वक्ति हि सुव्यक्त-मनुभावमनक्षरम् ॥७३॥

अन्वयार्थौ—महीक्षिता=राजा ने, अपि=भी, क्षणात्=क्षण मात्र में, तस्य=उस जीवन्धर का, माहात्म्यम्=प्रभाव, वीक्षितम्=देख लिया। नीतिः-हि=क्योंकि, वपुः=शरीर, (मनुष्यस्य = मनुष्य के) अनुभावम्=प्रभाव को, अनक्षरम्=शब्दोच्चारण विना, (एव=ही), सुव्यक्तम्=स्पष्ट, वक्ति=प्रगट कर देता है ॥७३॥

भावार्थः—परिचय कराये विना ही शरीर के देखने मात्र से उस व्यक्ति का प्रभाव प्राय स्पष्ट विदित हो जाता है, इसीलिये दृढमित्र राजा ने भी किसी के द्वारा परिचय कराये विना ही जीवन्धर के शरीर के देखने मात्र से ही उनका प्रभाव निश्चित कर लिया ॥७३॥

सुतविद्यार्थमत्यर्थं, पार्थिवस्तमयाचत ।
आराधनैकसंपाद्या, विद्या न ह्यन्यसाधना ॥७४॥

अन्वयार्थौ—पार्थिव.=राजा, सुतविद्यार्थम्=अपने पुत्रों को विद्या पढ़वाने के लिये, तम्=उन जीवन्धर से, अत्यर्थम्=अत्यन्त, अयाचत=प्रार्थना करता हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, विद्या = विद्या, आराधनैकसम्पाद्या=गुरु की सेवा सुश्रूषा से ही प्राप्त होने वाली,

(विद्यते=होती है), अन्यसाधना=कारणान्तर से प्राप्त होने वाली, न जायते=नहीं है ॥७४॥

भावार्थः—गुरु की सेवा सुश्रूषा करने से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अन्य प्रकार नहीं। इसीलिये दृढमित्र राजा ने अपने राजकुमारों को विद्या पढ़वाने के लिये विद्वान् जीवन्धर से विनयपूर्वक प्रार्थना की ॥७४॥

अभ्यर्थनबलात्तस्य, कुमारो ऽप्यभ्युपागमत् ।
स्वयं देया सती विद्या, प्रार्थनायां तु किं पुनः ॥७५॥

अन्वयार्थौ—कुमारः=जीवन्धर कुमार, अपि=भी, तस्य=उस राजा की, अभ्यर्थनबलात्=प्रार्थना से, (तत्पाठनम्=उन राजकुमारों के पढ़ाने को), अभ्युपागमत्=स्वीकार करता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, सती=उत्तम निर्दोष, विद्या=शिक्षा, स्वयम्=अपने आप, देया=प्रदान करने योग्य, (भवति=होती है), तु=तो, पुनः=फिर, प्रार्थनायाम्=प्रार्थना करने पर, किं वक्तव्यम्=कहना ही क्या है? ॥७५॥

भावार्थः—उत्तम और निर्दोष विद्या दूसरों के लिये विना याचना किये स्वयमेव प्रदान करना चाहिये, फिर कदाचित् कोई प्रार्थना करे तब तो उसे अवश्य ही प्रदान करना (पढ़ाना) चाहिये, इसीकारण जीवन्धर कुमार ने पुत्रों के पढ़ाने के हेतु की गई दृढमित्र राजा की प्रार्थना स्वीकृत की ॥७५॥

पवित्रो ऽपि सुतान्विद्यां, स प्रापयदवञ्चितम् ।
कृतार्थानां हि पारार्थ्य-मैहिकार्थपराङ्मुखम् ॥७६॥

अन्वयार्थौ—पवित्र=निष्कपट, सः=वह जीवन्धरकुमार, अपि=भी, सुतान्=उन राजकुमारों को, विद्याम्=शिक्षा को, अवञ्चितम्=सत्यहृदयपूर्वक, प्रापयत्=देने लगा। नीतिः—हि=क्योंकि, कृतार्थानाम्=परोपकारियों का, पारार्थ्यम्=परोपकार, ऐहिकार्थपरा-

दृमुखम् = इसलोक सम्बन्धी प्रयोजन से रहित, (वरीवर्तते=होता है)।

भावार्थः—जीवन्धर ने भी उन राजकुमारो को निष्कपट (सच्चे) हृदय से शिक्षा दी। ठीक ही है, क्योकि परोपकारियो का परोपकार इस भव के हितार्थ नही होता, किन्तु परभव मे आत्महित के लिये ही होता है, इसीलिये जीवन्धर ने अपने परभव के सुधार का लक्ष्य रखते हुये उन राजकुमारो के पढ़ाने मे निष्कपट भाव रखा ॥७६॥

प्रश्रयेण बभूवुस्ते, प्रत्यक्षाचार्यरूपका. ।
विनयः खलु विद्यानां, दोग्ध्री सुरभिरञ्जसा ॥७७॥

अन्वयार्थौ—ते = वे राजकुमार, (गुरो = गुरु की), प्रश्रयेण = विनय और सेवा सुश्रूषा से, प्रत्यक्षाचार्यरूपकाः = साक्षात् गुरु के समान, बभूवुः = हो गये। नीतिः-खलु = क्योंकि, (गुरो. = गुरु की), अञ्जसा = यथार्थ, विनयः = विनय, विद्यानाम् = विद्याओं की, दोग्ध्री = देने वाली, सुरभिः = कामधेनु के समान, (जायते = होती है) ॥७७॥

भावार्थः—जिस प्रकार कामधेनु इच्छित मनोरथों को पूर्ण करती है, उसीप्रकार गुरु की सच्ची सेवा करने से भी इच्छित विद्याओ की प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये वे राजकुमार भी गुरु जीवन्धर की सच्ची सेवा करने से साक्षात् गुरु के समान विद्वान् हो गये ॥७७॥

वीक्ष्य तानतृपद्भूपो, विद्यानां पारदृश्वनः ।
पुत्रमात्रं मुदे पित्रो-र्विद्यापात्रं तु किं पुनः ॥७८॥

अन्वयार्थौ—भूपः = राजा, तान् = उन पुत्रों को, विद्यानाम् = विद्याओं के, पारदृश्वनः = पारगामी, वीक्ष्य = देखकर, अतृपत् = प्रसन्न हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, पित्रोः = माता पिता के, पुत्रमात्रम् = सामान्य पुत्र, (एव = ही), मुदे = हर्ष के लिये, स्यात् = होता है,

तु = तो, पुनः = फिर, विद्यापात्रम् = विद्वान् पुत्र, किं वक्तव्यः = कहना ही क्या है ? ॥७८॥

भावार्थ—इस ससार में सामान्य पुत्र से ही माता पिता को परम आनन्द होता है, तो फिर पुत्र के विद्वान् होने पर उत्पन्न होने वाले आनन्द का कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो और भी अधिक होगा। इसीलियेदृढमित्र राजा अपने राजकुमारो को विद्वान् देखकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥७८॥

अतिमात्रं पवित्रं च, धात्रिपः समभावयत् ।
असंभावयितु दोषो, विदुषां चेदसंमतिः ॥७९॥

अन्वयार्थौ—धात्रिपः = राजा, पवित्रम् = निष्कपट, (तम् = उस जीवन्धर को) अतिमात्रम् = अधिक, सम्भावयत् = सत्कृत करता हुआ। (यतः = क्योंकि), चेत् = यदि, विदुषाम् = विद्वानों का, असंमतिः = सन्मान का अभाव, (स्यात् = हो, तर्हि = तो), असंभावयितुः = आदर न करने वाले का, (एव = ही), दोषः = अपराध, (मन्यते = माना जाता है) ॥७९॥

भावार्थः—दृढमित्र राजा ने भी निष्कपट भाव से अपने राजकुमारों को शिक्षा देने वाले जीवन्धर का अधिक सत्कार किया। क्योंकि यदि विद्वानों का सत्कार नहीं किया जाय तो सत्कार न करने वाले की ही मूर्खता समझी जाती है, इसी कारण राजा ने उनका सत्कार कर अपना कर्त्तव्य पालन किया।

महोपकारिण किं वा, कुर्यामित्यप्यतर्कयत् ।
विद्याप्रदायिनां लोके, का वा स्यात्प्रत्युपक्रिया ॥८०॥

अन्वयार्थौ—वा = और, (सः = वह, दृढमित्र राजा, अहम् = मै, अस्य = इस) महोपकारिणः = महान् उपकारी का, किम् = क्या प्रत्युपकार, कुर्याम = करूं, इतिय = ह, अपि = भी, अतर्कयत् =

विचारने लगा। नीतिः—त्रा—क्योंकि, लोके=संसार में, विद्याप्रदायिनाम्= शिक्षा देने वाले शिक्षकों का, प्रत्युपक्रिया=प्रत्युपकार, का=क्या, स्यात्=हो सकता है ? किन्तु, कापिन=कोई नहीं ॥८०॥

भावार्थ —दृढमित्र राजा ने "इस महान् उपकारी जीवन्धर का मैं क्या प्रत्युपकार करूं इस प्रकार" विचार भी किया। ठीक ही है, क्योकि इस लोक मे शिक्षा देने वाले शिक्षकों का प्रत्युपकार किसी भी वस्तु से नहीं किया जा सकता, इसलिये वह राजा उनके प्रत्युपकारार्थ विशेष असमंजस मे पड़ गया ॥८०॥

कन्याविश्राणनं तस्मै, करणीयमजीगणत् ।
शक्यमेव हि दातव्यं, सादरैरपि दातृभिः ॥८१॥

अन्वयार्थौ—सः = वह दृढमित्र राजा, तस्मै = उस जीवन्धर कुमार के लिये, कन्याविश्राणनम्=कन्या का देना, करणीयम् = कर्त्तव्य, अजीगणत् = निश्चित करता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, सादरैः = आदर सहित, दातृभिः=दाताओं के द्वारा, अपि=भी, शक्यम्= अपनी शक्ति के अनुसार वस्तु, एव=ही, दातव्यम्=दी जाना चाहिये।

भावार्थः—पात्र के प्रति दाता की कितनी भी श्रद्धा या भक्ति क्यों न हो, फिर भी दाता को पात्र के लिये अपनी शक्ति के अनुसार ही वस्तु देना चाहिये, इसीलिये दृढमित्र राजा ने जीवन्धर के प्रति विशेष श्रद्धा और भक्ति होने पर भी अन्य राज्यादिक न देकर उन्हे अपनी कन्या प्रदान करना ही निश्चित किया ॥८१॥

अभ्युपाजीगमत्पुत्रीं, परिणेतुमसुं पुनः ।
उदाराः खलु मन्यन्ते, तृणायेदं जगत्त्रयम् ॥८२॥

अन्वयार्थौ—पुन. = फिर, (वह राजा), पुत्रीम्=अपनी राजकुमारी को, परिणेतुम्=ब्याहने के लिये, अमुम्=इन जीवन्धर को,

अभ्युपार्जीगमत्=स्वीकारता लेता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, उदाराः=उदार व्यक्ति, इदम्=इस, जगत्त्रयम्=लोकत्रय को, तृणाय=तृण के समान, मन्यन्ते=मानते हैं ॥८२॥

भावार्थः—उस दृढमित्र राजा ने अपनी राजकुमारी को वरण करने के लिये जीवधन्र की स्वीकृति ली। ठीक ही है, क्योंकि उदारपुरुष लोकत्रय को भी तृण के समान तुच्छ गिनते हैं। इसीलिये राजा ने महापुरुष जीवन्धर के लिये स्त्री की प्राप्ति कोई विशेष या गण्य बात ना समझ उसके वरण के हेतु उनकी स्वीकृति ली ॥८२॥

तत कनकमालाख्यां, कन्यां राज्ञा समर्पिताम् ।
पर्यणैषीत्पवित्रो ऽयं, पवित्रामग्निसाक्षिकम् ॥८३॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, पवित्रः = आदरणीय, अयम्=यह जीवन्धर, राज्ञा=दृढ़मित्र राजा के द्वारा, समर्पिताम्=प्रदान की हुई, पवित्राम्=सुन्दर और सदाचारिणी, कनकमालाख्याम्=कनकमाला नामक, कन्याम्=कन्या को, अग्निसक्षिकम्=अग्नि की साक्षिपूर्वक, पर्यणैषीत्=ब्याहता हुआ ॥८३॥

भावार्थः—इसके बाद जीवन्धरकुमार ने दृढ़मित्र राजा के द्वारा समर्पित, सुन्दर और सदाचारिणी कनकमाला कन्या को आर्षोक्त विधि से अग्नि की साक्षिपूर्वक वरण किया ॥८३॥

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ अपूर्वे नीति काव्ये भावार्थ दीपिकाटीकायां कनकमालालम्भो नाम सप्तमो लम्बः समाप्तः। ५४

* अथ अष्टमो लम्बः *

अथ तत्करपीडान्ते ऽसक्तस्वान्तो ऽभवत्सुधीः ।
तीरस्थाः खलु जीवन्ति, न हि रागाब्धिगाहिनः ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, सुधी.=बुद्धिमान्, (जीवन्धर), तत्करपीडान्ते=उस कनकमाला के साथ विवाह होने के बाद, (तस्याम्=उसमें), असक्तस्वान्तः=आसक्तिरहित, अभवत्=हुये। नीतिः-हि=निश्चय से, तीरस्थाः=रागरूपी समुद्र के किनारे पर स्थित मनुष्य, (तु=तो), जीवन्ति=जीवित रहते हैं। (किन्तु) रागाब्धिगाहिनः=राग-रूपी समुद्र के बीच में गोते खाने वाले मनुष्य, न जीवन्ति=जीवित नहीं रहते ॥१॥

भावार्थः—कनकमाला के साथ विवाह हो चुकने पर जीवन्धर स्वामी उसमें अधिक आसक्त नहीं हुये। क्योंकि जैसे समुद्र के किनारे पर रहने वाला मनुष्य तो सकुशल रहता है, किन्तु समुद्र के बीच मे गये हुये मनुष्यो की कुशल नहीं होती, इसी प्रकार अल्पराग करने वाले तो सुख पाते हैं, किन्तु अधिक राग करने वाले नहीं। इसीलिये जीवन्धर ने कनकमाला पर अधिक अनुराग नहीं किया ॥१॥

स्यालानां तत्र वात्सल्या—दवात्सीत्सुचिरं सुधीः ।
वत्सलेषु च मोह. स्याद्, वात्सल्यं हि मनोहरम् ॥२॥

अन्वयार्थौ—सुधीः=बुद्धिमान् जीवन्धर, स्यालानाम्=अपने सालों के, वात्सल्यात्=प्रेम से, तत्र=उस हेमाभा नगरी में, सुचिरम्=बहुत समय तक, अवात्सीत्=रहे। नीतिः—हि=क्योंकि,

वात्सलेषु=प्रेमियों पर, मोहः=प्रेम, स्यात् एव=हो ही जाता है, (यतः=क्योंकि), वात्सल्यम्=प्रेमभाव, मनोहरम्=मन का आकर्षण करने वाला, (भवति=होता है) ॥२॥

भावार्थ—जीवन्धर स्वामी के सालों ने उन पर बहुत प्रेम किया, इसलिये वे उस हेमाभा नगरी में बहुत समय तक रहे। ठीक ही है, क्योकि वात्सल्य एक ऐसा मनोमोहक गुण है कि जिससे प्रेमी जनों पर स्नेह स्वयमेव हो जाया करता है, यही कारण था जो जीवन्धर कुमार अपने सालो के प्रेमसूत्र मे बँधकर बहुत समय तक वहां से नही जा सके ॥२॥

यापितो ऽपि महाकाल—स्तस्य नोद्वेगमातनोत् ।
वत्सलैः सह संवासे, वत्सरो हि क्षणायते ॥३॥

अन्वयार्थौ—तस्य=उस जीवन्धर का, यापित=बीता हुआ, अपि=भी, महाकालः=बहुत समय, तस्य=उस जीवन्धर के, उद्वेगम्=खेद को, न आतनोत्=नहीं करता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, वत्सलै सह=प्रेमियों के साथ, संवासे=रहने पर, वत्सर=वर्ष, अपि=भी, क्षणायते=क्षण के समान हो जाता है ॥३॥

भावार्थ—प्रेमी मित्रो के साथ रहने पर वर्षो जैसा समय भी क्षणमात्र के समान निकल जाता है, इसीलिये अपने प्रेमी सालो के साथ रहते रहते जीवन्धर का बहुत समय बीत गया; फिर भी उन्हें वहां लेशमात्र भी आकुलता नहीं हुई ॥३॥

कदाचित्कापि तत्प्रान्तं, समन्दस्मितमासदत् ।
नैसर्गिकं हि नारीणां, चेत संमोहि चेष्टितम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—कदाचित्=किसी समय, तत्प्रान्तम्=उस जीवन्धर के पास, का=कोई अपरिचित स्त्री, समन्दस्मितम् यथा

स्यात्तथा = कुछ हँसी पूर्वक, आसदत् = आई । नीतिः—हि = क्योंकि, चेतःसंमोहि = चित्त को मोहित करने वाली, चेष्टितम् = चेष्टा, स्त्रीणाम् = स्त्रियों के, नैसर्गिकम् = स्वाभाविक, (एव = ही), विद्यते = रहा करती है ॥४॥

भावार्थ.—एक समय जीवन्धर स्वामी जब एकान्त में बैठे थे, उस समय कोई एक अपरिचित स्त्री कुछ मुसकराती हुई उनके पास आई। ठीक ही है, क्योंकि अन्य के चित्त को मोहित करने की चेष्टा (प्रयास) स्त्रियों के स्वभाव से ही होती है। इसीलिये उस स्त्री ने जीवन्धर के चित्त को लुभाने के लिये मन्द मन्द हँसी का प्रयोग किया ॥४॥

अप्राक्षीत्तां च साकूतां, किमायातेति सादरः ।
विवक्षालिङ्गितं हि स्यात्, प्रष्टुः प्रश्नकुतूहलम् ॥५॥

अन्वयार्थौ—सादरः=आदरसहित, कुमारः=जीवन्धर कुमार, साकूताम् = विशेष अभिप्राय से आई हुई, ताम् = उस स्त्री से, अप्राक्षीत्=पूछने लगे। [यत्=कि, त्वम्=तुम, अत्र=यहां] किम् = क्यों, आयाता=आई हो। नीति.—हि = क्योंकि, प्रष्टुः = पूछने वाले का, प्रश्नकुतूहलम्=प्रश्न के विषय में कौतूहल, विवक्षालिङ्गितम् = कुछ कहने की इच्छा से युक्त, स्यात् = होता है ॥५॥

भावार्थ.—उस स्त्री के समीप आने पर जीवन्धर कुमार ने कुछ विशेप अभिप्राय से उससे अपने यहां आने का कारण आदरपूर्वक पूछा। ठीक ही है, क्योकि प्रश्नकर्त्ता कौतूहल वश जो प्रश्न करता है वह किसी न किसी विशेप प्रयोजन को लिये हुये अवश्य ही हुआ करता है ॥५॥

अत्र चायुधशालायां, चक्रदेवाविशेषतः ।
स्वामिन्स्वामिनमद्राक्ष-मित्यसौ प्रत्यभाषत ॥६॥

अन्वयार्थौ—स्वामिन् = हे जीवन्धरकुमार, अत्र = यहां पर, च=और, आयुधशालायाम् = आयुधशाला में, एकदा = एक समय, एव = ही, स्वामिनम् = आपको, अद्राक्षम्=देख रही हूँ, इति=इस प्रकार, असौ=वह स्त्री, प्रत्यभाषत=उत्तर देती हुई ॥६॥

भावार्थ —उस स्त्री ने जीवन्धरकुमार को उत्तर दिया, कि मैंने यहां और आयुधशाला (शस्त्रागार) में एक ही समय विना किसी विशेषता के आपको देखा है ॥६॥

आतिमात्रं पवित्रो ऽ य —मचित्रीयत तच्छ्रुते. ।
अयुक्तं खलु दृष्टं वा, श्रुतंवा विस्मयावहम् ॥७॥

अन्वयार्थौ—पवित्रः=विशुद्ध, अयम्=यह जीवन्धर, तच्छ्रुतेः= उस स्त्री के उत्तर के सुनने से; अतिमात्रम् = अत्यन्त, अचित्रीयत= आश्चर्य करने लगे। नीतिः-खलु = निश्चय से, दृष्टम् = देखी हुई, वा = और, श्रुतम् = सुनी हुई, अयुक्तम् = अनहोनी बात, विस्मयावहम्= आश्चर्यजनक, (भवति = होती है) ॥७॥

भावार्थः—किसी अनहोनी बात के देखने या सुनने से प्रायः सभी को आश्चर्य होता है। इसीलिये "मैंने यहां और शस्त्रागार मे एक साथ आपको देखा है" इस प्रकार उस स्त्री से कहे गये अनहोने वचन को सुन कर जीवन्धर को भी बड़ा आश्चर्य हुआ ॥७॥

नन्दाढ्यः किमिहायात—इत्ययं पुनरौहत ।
संसारविषये सद्यः, स्वतो हि मनसो गतिः ॥८॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, अयम्=यह जीवन्धर, किम्=क्या, इह=यहां पर, नन्दाढ्य = नन्दाढ्य, आयात = आया है, इति=इस प्रकार, औहत = विचारने लगा। नीतिः-हि=निश्चय से, मनसः=

मन की, गतिः = प्रवृत्ति, संसारविषये = संसार के विषयों में, सद्यः=शीघ्र, च=और, स्वतः=अपने आप, (एव=ही, भवेत्=हो जाती है) ॥८॥

भावार्थः—उस स्त्री के वचन को सुनकर जीवन्धर ने सोचा कि हो न हो यहां नन्दाढ्य अवश्य आया है। ठीक ही है, क्योंकि संसार के विषयों में मन की प्रवृत्ति अपने आप ही हो जाती है। इसीलिये जीवन्धर का विचार अपने भाई नन्दाढ्य के आगमन की ओर अपने आप ही जा पहुँचा ॥८॥

प्रागेव तन्मनोवृत्तेः, प्रययौ तत्र तद्वपुः।
आस्थायां हि विना, यत्नमस्ति वाक्कायचेष्टितम् ॥९॥

अन्वयार्थौ—तद्वपुः=जीवन्धरस्वामी का शरीर, तन्मनोवृत्तेः= उन जीवन्धर की मनोवृत्ति के, प्राक्=पहिले, एव=ही, तत्र=उस आयुधशाला में, एव=ही, प्रययौ=पहुँच गया। नीतिः–हि = निश्चय से, आस्थायाम्=प्रेम के, (सत्याम्=होने पर), यत्नं विना=कोशिश किये विना, (एव=ही), वाक्कायचेष्टितम् = वचन और शरीर का व्यापार, अस्ति = हो जाता है ॥९॥

भावार्थः—नन्दाढ्य के आगमन की सम्भावना का विचार होते ही जीवन्धरकुमार शस्त्रागार में जा पहुँचे। ठीक ही है, क्योकि कभी कभी विश्वास के होने पर कोशिश किये विना ही वचन और शरीर की प्रवृत्ति हो जाती है। इसीलिये विशेष ऊहापोह किये विना ही जीवन्धर स्वयम् वहां पहुँच गये।९।

गत्वा तत्र च नन्दाढ्यं, पश्यन्संमदसादभूत्।
भ्रातुर्विलोकनं प्रीत्यै, विप्रयुक्तस्य किं पुनः ॥१०॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), तत्र=वहां, गत्वा=जाकर, नन्दाढ्यम्=नन्दाढ्य को, पश्यन्=देखता हुआ, संमदसात्=अतिप्रसन्न,

अभूत् = हुये। नीतिः-हि=क्योंकि, भ्रातुः = भाई का, विलोकनम्= देखना, (एव = ही), प्रीत्यै = प्रीति के लिये, (भवति=होता है), पुनः=फिर, (विप्रयुक्तस्य भ्रातुः = बिछुड़े हुये भाई का), विलोकनम्= देखना, किम् = क्या, (वक्तव्यम्=कहना है) ? ॥१०॥

भावार्थः—जब कि सामान्य रूप से भाई का मिलना ही प्रीतिजनक होता है तो फिर बहुत दिन के वियोगी भाई के मिलने पर भी अधिक प्रसन्नता क्यो न होगी ? अतएव बहुत समय से विछुड़े हुये अपने छोटे भाई नन्दाढ्य को देख कर जीवन्धर को भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥१०॥

अनुजो ऽपि तमालोक्य, मुमुचे दुःखसागरात्।
विस्मृतं हि चिरं भुक्तं, दुःखं स्यात्सुखलाभतः ॥११॥

अन्वयार्थौ—अनुजः = छोटा भाई, अपि=भी, तम् = उन जीवन्धर को, आलोक्य = देखकर, दुःखसागरात्=दुःखरूपी समुद्र से, मुमुचे=पार हो गया। नीतिः-हि = क्योंकि, चिरम्=बहुत समय तक, भुक्तम्=भोगा गया, दुःखम्=दुःख सुखलाभतः = सुख को प्राप्ति से, विस्मृतम् = विस्मृत, स्यात्=हो जाता है ॥११॥

भावार्थः—बहुत समय तक भोगा गया दुःख भी सुख के मिलने पर विस्मृत हो जाता है, तदनुसार चिरकाल से विछुड़े हुये अपने बडे भाई जीवन्धर के मिलने से नन्दाढ्य का भी महान् दुःख सुख में परिणत हो गया ॥११॥

कथमाया इति ज्याया—नन्वयुङ्क्त मिथोऽनुजम्।
वञ्चनं चावमानं च, न हि प्राज्ञैः प्रकाश्यते ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(त्वम् = तुम, अत्र = यहां), कथम् = कैसे, आया =आये, इति=इस प्रकार, मिथः = एकान्त में, ज्यायान् = बड़े भाई जीवन्धर, अनुजम्=छोटे भाई नन्दाढ्य से, अन्वयुङ्क्त = पूछने लगे।

नीति'–हि=क्योंकि, प्राज्ञै.=बुद्धिमानों के द्वारा, (स्वस्य = अपना), वञ्चनम्=ठगाया जाना, च=और, अवमानम्=अपमान, न प्रकाश्यते= प्रगट नहीं किया जाता ॥१२॥

भावार्थः—बुद्धिमान् मनुष्य अपनी वॅचना (ठगाये जाने) और अपमान को अन्य से प्रगट नही करते, तदनुसार जीवन्धर ने भी नन्दाढ्य से "तुम यहां पर कैसे आये हो" इत्यादि बातें एकान्त में ही पूछीं; जिससे कि पूर्व की घटना (राज्य से भ्रष्ट होना आदि) किसी अन्य को विदित न हो सके ॥१२॥

सखेदं ध्यातदुःखो ऽ य—माचख्यौ वृत्तिमात्मनः ।
ध्यातेऽपि हि पुरा दुःखे, भृशं दुःखायते जनः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—ध्यातदुखः=पहिले अनुभव किये हुये दुःख को याद करता हुआ, अयम्=यह नन्दाढ्य; (आत्मन.=अपने), वृत्तिम्=समाचार को, (जीवकम्=जीवन्धर से), सखेदम् = खेदसहित, आचख्यौ=कहने लगा । नीतिः–हि = क्योंकि, पुरा=पूर्वकाल में, (भुक्ते=भोगे हुये), दु.खे=दुःख के, ध्याते=स्मरण होने पर, अपि=भी, जनः=मनुष्य, भृशम्=अत्यन्त=दुःखायते=दुखी होता है ॥१३॥

भावार्थः—पूर्वकाल मे भोगे हुये दुःख का स्मरण होने पर मनुष्य अत्यन्त दुखी होने लगता है, तदनुसार वह नन्दाढ्य भी जीवन्धर के प्रश्न से पूर्व में अनुभूत उनके वियोग जनित दुःख का स्मरण होने से खिन्न हुआ और उनसे अपना वृत्तान्त निम्नप्रकार कहने लगा ॥१३॥

पूज्यपाद ! तदास्माकं, पापाद्भवति निर्गते ।
मृतकल्पो ऽ प्यहं मर्तुं, सर्वथा समकल्पयम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—पूज्यपाद=हे पूज्यवर, तदा=उस समय, अस्माकम्=हमारे, पापात्=पाप से, भवति=आपके, निर्गते = चले

आने पर, मृतकल्पः=मरे हुये के समान, अपि=भी, अहम्=मैं, सर्वथा=बिलकुल, मर्तुम्=मरने को, समकल्पयम्=संकल्प कर चुका था ॥१४॥

भावार्थः—हे पूज्यवर! हमारे अशुभकर्म के निमित्त से जब आप राजपुरी से इधर चले आये थे, तब आपके वियोग के दुःख से मैंने अपने मरने का सकल्प कर लिया था ॥१४॥

विद्याविदितवृत्तान्ता, कथंवृत्ता प्रजावती ।
इत्यालोच्यैव संस्थाने, बोधो मे समजायत ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(किन्तु), विद्याविदितवृत्तान्ता=अपनी विद्या के प्रभाव से समस्त समाचार को जानने वाली, प्रजावती = भावज, कथंवृत्ता=किस प्रकार, (अस्ति=है), इति = इस प्रकार, आलोच्य=विचार कर, सस्थाने=योग्य समय में, मे=मेरे, बोधः = सुबुद्धि, समजायत=उत्पन्न हुई ॥१५॥

भावार्थः—किन्तु अपनी 'अवलोकिनी नामक' विद्या के प्रभाव से आपके वियोगादि के सब समाचार को विना कहे स्वयमेव जानने वाली भावज (आपकी धर्मपत्नी गन्धर्वदत्ता) की इस समय क्या हालत होगी? इस बात के जानने को उस समय मेरे सुबुद्धि उत्पन्न हुई ॥१५॥

एवं भाविभवद्दृष्टि—शंभरत्वादहं पुनः ।
प्रजावतीगृहं प्राप्य, सविषादमवास्थिपम् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—एवम्=और, भाविभवद्दृष्टिशंभरत्वात्=भविष्य में होने वाले आपके दर्शन के सुख की आशा से, पुनः=पीछे, (अहम्=मैं), प्रजावतीगृहम्=भावज के घर को, प्राप्य=जाकर. (तत्र=वहां पर,) सविषादम्=खेदपूर्वक, अवास्थिपम्=बैठ गया ॥१६॥

भावार्थः—इस प्रकार भविष्य में आपके शुभदर्शन के सुख की आशा से भी आत्मसमर्पण के हेतु समय टाल कर

में उनकी हालत जानने के लिये भावज गन्धर्वदत्ता के घर जाकर खेदपूर्वक वहां बैठ गया ॥१६॥

स्वामिनि स्वामिहीनानां, कुतः स्त्रीणां सुखासिका ।
इति वक्तुमुपक्रान्ते, हृदयज्ञा तु साभ्यधात् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—स्वामिनि = हे पूज्य भावज, स्वामिहीनाम् = पतिविहीन, स्त्रीणाम् = स्त्रियों के, सुखासिका=सुखपूर्वक स्थिति, कुतः= कैसे, (स्यात् = हो सकती है), इति = इस प्रकार, वक्तुम् = कहने के लिये, उपक्रान्ते = प्रारम्भ करने पर, (एव=ही), हृदयज्ञा=मन की बात, जानने वाली, सा = वह गन्धर्वदत्ता, अभ्यधात्=कहने लगी ॥१७॥

भावार्थः—"हे भावज ! पतिविहीन स्त्री को सदा दुःख का ही अनुभव हुआ करता है-क्षण भर भी सुख नहीं मिलता। इस प्रकार जब मैं उसको सान्त्वना देने के लिये कुछ कहना प्रारम्भ ही करना चाहता था, उसी समय विना कहे ही अपनी विद्या के वल से मेरे मन की बात जान कर भावज निम्नप्रकार कहने लगी ॥१७॥

अङ्ग ! किं खिद्यसे ज्याया—ननुपद्रव एव ते ।
वयमेव महापापा—मध्येदुःखाब्धि पातिताः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—अङ्ग=हे वत्स ! (त्वम्=तुम), किम् = क्यों, खिद्यसे=खेद करते हो, ते=तुम्हारे, ज्यायान् = बड़े भाई, अनुपद्रवः= उपद्रवरहित, एव=ही, (अस्ति = हैं, किन्तु), महापापाः = महापापी, वयम् = हम लोग, एव = ही, मध्येदुःखाब्धि = दुःखरूपी समुद्र में, पातिताः = गिराये गये है ॥१८॥

भावार्थः—हे वत्स ! तुम क्यों खेद करते हो ? तुम्हारे बड़े भाई सर्वथा सुखपूर्वक (प्रसन्न) हैं, हम लोग ही महान् पापी हैं; जो उनके वियोग के असह्य दुःख का अनुभव कर रहे हैं ॥१८॥

प्रतिदेशं प्रतिग्रामं, प्रतिगृह्यैव मह्यते ।
विपच्च संपदे हि स्याद्, भाग्यं यदि पचेलिमम् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—(सः = वे जीवन्धर), प्रतिदेशम् = प्रत्येक देश में, च=और, प्रतिग्रामम् = हरएक ग्राम में, प्रतिगृह्य = अगवानी पूर्वक-स्वागतसहित, एव=ही, मह्यते = पूजे जाते हैं। नीतिः-हि = क्योंकि, यदि = अगर, भाग्यम्=पुण्य, पचेलिमम्=फल देने के सन्मुख, (स्यात्= हो, तर्हि = तो), विपत् = आपत्ति, च = भी, संपदे = सुख के लिये, स्यात्=हो जाती है ॥१९॥

भावार्थः—पुण्य का उदय होने पर विपत्ति भी सम्पत्ति (सुख) रूप परिणत हो जाती है। तदनुसार आपके बड़े भाई का भी इस समय पुण्य का उदय है, इसलिये उनको किसी प्रकार का दुःख नहीं है। वे जिस किसी गांव या देश में जाते हैं; सर्वत्र माने और पूजे जाते हैं ॥१९॥

द्रष्टुमिच्छसि चेद्वत्स, तं जनं तव पूर्वजम् ।
किं नु ताम्यसि गम्यत, क नु पापा हि भामिनी ॥२०॥

अन्वयार्थौ—वत्स = हे प्रिय, चेत् = यदि, (त्वम् = तुम), तव=अपने, तम् = उस, पूर्वजं जनम् = बड़े भाई को, द्रष्टुम् = देखने को, इच्छसि = इच्छा करते हो, (तर्हि = तो), किम् = क्यों, ताम्यसि = दुखी होते हो ?, (त्वया=तेरे द्वारा), गम्येत = जाया जाना चाहिये। पापा = पापिनी, भामिनी = स्त्री, क्व = कहां पर, गच्छेत् = जा सकती है ? ॥२०॥

भावार्थः—हे देवर जी ! तुम्हारे बड़े भाई सर्वथा सुख हैं; फिर भी यदि तुम उनका दर्शन करना चाहते हो तो खेद क्यो करते हो ? मैं अपनी विद्या के बल से उनके पास तुम्हें अभी पहुँचाये देती हूं। तुम तो पुरुष हो, इच्छानुसार सर्वत्र

जा सक्ते हो। पापिनी तो हम लोग ही हैं, जो अकेली कहीं ग्रामान्तर जाने का विचार भी नहीं कर सकती ॥२०॥

इत्युक्त्वा शाययित्वा च, शय्यायां साभिमन्त्रितम्।
मामत्रभवती चात्र, सपत्रं प्राहिणोदिति ॥२१॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, उक्त्वा=कहकर, अत्रभवती= पूज्य भावज, माम् = मुझको, शय्यायाम्=सेज पर, साभिमन्त्रितम् = मन्त्रपूर्वक, शाययित्वा=सुला कर, सपत्रम् = पत्रसहित, अत्र = यहां पर, प्राहिणोत्=भेजती हुई ॥२१॥

भावार्थः—भावज गन्धर्वदत्ता ने इस प्रकार, सान्त्वना देकर और 'रमरतरङ्गिणी' नामक एक शय्या पर, मन्त्रपूर्वक सुला कर एक पत्र के साथ अपनी विद्या के बल से मुझे बात की बात मे यहां पहुँचा दिया है ॥२१॥

अखिद्यत ततः स्वामी, सदयैरनुजोदितैः।
स्नेहपाशो हि जीवाना—मासंसारं न मुञ्चति ॥२२॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, स्वामी = जीवन्धर, सदयैः = करुणाजनक, अनुजोदितैः=छोटे भाई नन्दाढ्य के वचनों से, अखिद्यत = दुखी हुये। नीतिः-हि = क्योंकि, जीवानाम् = प्राणियो का, स्नेह-पाशः = प्रेमबन्धन, आसंसारम् = जब तक ससार रहता है तब तक, (तान् = उन प्राणियों को) न मुञ्चति = नहीं छोड़ता है ॥२२॥

भावार्थ—प्राणी जब तक ससार में वास करता है, तब तक उसका स्त्री आदिक से प्रेमबन्धन नही छूटता, इसीलिये अपने छोटे भाई नन्दाढ्य के करुणाजनक उक्त वचनों को सुन कर जीवन्धर भी कुछ दुखी हुये ॥२२॥

गुणमालाव्यथाशंसि, पत्रं चायमवाचयत्।
चतुराणां स्वकार्योक्तिः, स्वमुखान्न हि वर्तते ॥२३॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर, (गन्धर्वदत्तालिखितम् = गन्धर्वदत्ता के द्वारा लिखे हुये), गुणमालान्यथाशंसि = गुणमाला के विरहसम्बन्धी दुःख के सूचक, पत्रम् = पत्र को, च = भी, अवाचयत् = वांचता हुआ । नीतिः-हि = क्योंकि, चतुराणाम् = बुद्धिमानों के, स्वकार्योक्तिः = अपने काम का कहना, स्वमुखात् = अपने मुख से, न वर्तते = नहीं होता ॥२३॥

भावार्थः—जीवन्धर ने गन्धर्वदत्ता के द्वारा लिखा हुआ पत्र भी पढ़ा, । उसमे लिखा था कि हे स्वामिन् ! गुणमाला निवेदन करती है कि—हमे आपके वियोग का दुःख असह्य हो रहा है, अत' शीघ्र दर्शन दीजिये इत्यादि । ठीक ही है, क्योकि बुद्धिमान् पुरुष अपने अन्तरङ्ग अभिप्राय किसी दूसरे के बहाने से ही प्रगट किया करते हैं—अपनी मुख्यता से नहीं, अतएव गन्धर्वदत्ता ने गुणमाला के आश्रय से वास्तव मे अपना ही दुःख सूचित किया था ॥२३॥

अन्यापदेशसदेशात्, खेचर्यां खेदवानभूत् ।
विद्वेषः पक्षपातश्च, प्रतिपात्रं च भिद्यते ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), अन्यापदेशसंशात् = गुणमाला के बहाने से पत्र में लिखित समाचार से, खेचर्याम् = विद्याधरी गन्धर्वदत्ता के विषय में, खेदवान् = खिन्न, अभूत् = हुये । नीतिः-हि = क्योंकि, विद्वेषः = द्वेषभाव, च = और, पक्षपातः = प्रेम, प्रतिपात्रम् = प्रत्येक वस्तु में, भिद्यते = अलग अलग होता है ॥२४॥

भावार्थ—मनुष्य का द्वेष और प्रेम प्रत्येक वस्तु मे भिन्न भिन्न ही हुआ करता है । इसी कारण गुणमाला के बहाने से पत्र में लिखित पूर्वोक्त सदेश से जीवन्धर को गन्धर्वदत्ता के विषय में ही अधिक खेद हुआ । क्योकि उस पर ही उनका अधिक प्रेम था ॥२४॥

प्रियाशोकश्रुते जातः, शोको ऽप्येतस्य नास्फुरत् ।
न हि प्रसादखेदाभ्यां, विक्रियन्ते विवेकिनः ॥२५॥

अन्वयार्थौ—प्रियाशोकश्रुतेः = गन्धर्वदत्ता के दुःख के सुनने से, एतस्य = इस जीवन्धर के, जातः = उत्पन्न हुआ, शोकः = शोक, अपि = भी, न अस्फुरत् = प्रगट नहीं हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, विवेकिनः = विवेकी जन, प्रसादखेदाभ्याम् = हर्ष और विषाद से, न विक्रियन्ते = विकार को प्राप्त नहीं होते ॥२५॥

भावार्थ.—विवेकी जन हर्ष और विषाद के कारणों से हर्ष तथा विषाद नही करते। इसीकारण विवेकी जीवन्धर ने भी गन्धर्वदत्ता के दुःख के परिज्ञान से उत्पन्न हुये शोक (रंज) को बाह्य में प्रगट नही होने दिया ॥२५॥

वैवाहिकगृहस्थाश्च, ह्यातस्थुरनुजं भृशम् ।
बन्धो बन्धौ च बन्धौ, हि बन्धुता चेदवञ्चिता ॥२६॥

अन्वयार्थौ—वैवाहिकगृहस्थाः = जीवन्धर की श्वसुराल के मनुष्य, अपि = भी, अनुजम् = जीवन्धर के छोटे भाई नंदाढ्य को, भृशम् = अत्यन्त, आतस्थु = घेर गये। नीतिः-हि = क्योंकि, चेत् = यदि, अवञ्चिता = निष्कपट, बन्धुता = बन्धुपना-हितैपिता, (स्यात् = हो, तर्हि = तो), बन्धोः = सम्बन्धी के, बन्धौ = सम्बन्धी में, (अपि = भी), बन्धः = प्रेम, स्यात् = हो जाता है ॥२६॥

भावार्थः—जिस सम्बन्धी पर मनुष्य का अकृत्रिम (निष्कपट) प्रेम होता है, उस सम्बन्धी के सम्बन्धी पर भी उसका प्रेम अवश्य हो जाता है। इसीकारण जीवन्धर पर उनके सम्बन्धियों का जिस प्रकार सच्चा प्रेम था, उसी प्रकार उन्होंने जीवन्धर के सम्बन्धी उनके भाई पर भी अधिक प्रेम किया ॥२६॥

अवस्कन्दाद्गवां गोपा—अथाक्रोशन्नृपाङ्गणे ।
पीडायां तु भृशं जीवा—अपेक्षन्ते हि रक्षकान् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गोपा = बहुत से ग्वाल, गवाम् = अपनी गायों के, अवस्कन्दात् = पकड़े जाने से, (आगत्य = आकर), नृपाङ्गणे = राजभवन के सामने के मैदान में, आक्रोशन् = रोने चिल्लाने लगे । नीतिः—हि = क्योंकि, भृशम् = अत्यन्त, पीडायाम् = दुःख के आने पर, जीवाः = प्राणी, रक्षकान् = रक्षकों को, अपेक्षन्ते एव = तलाशते ही हैं ॥२७॥

भावार्थ —एक समय कुछ ग्वाल चोरो के द्वारा अपनी गायो के पकड़े जाने से राजमहल के सामने के मैदान में आकर रोने चिल्लाने लगे। क्योकि प्राणियों पर जब असह्य आपत्ति आ जाती है; तब वे अपने रक्षकों की याद किया करते हैं। इसीलिये ग्वालों ने अपने सर्वस्व गोधन के हरणरूप महती आपत्ति के आने पर अपने प्रतिपालक राजा की शरण ली ॥२७॥

सानुक्रोशं तदाक्रोशं, क्षमाधीशो न चक्षमे ।
पातापायान्न चेत्पायात्, कुतो लोकव्यवस्थितिः ॥२८॥

अन्वयार्थौ—क्षमाधीशः = दृढमित्र राजा, सानुक्रोशम् = करुणाजनक, तदाक्रोशम् = उन ग्वालों के रुदन को, न क्षमे = सहन नहीं कर सका। (यतः = क्योंकि), चेत् = यदि, (राजा), पातापायात् = अधःपतन से होने वाले विनाश से, न पायात् = रक्षा न करे, (तर्हि = तो) लोकव्यवस्थितिः = संसार की स्थिति, (एव = ही), कुतः = कैसे, (स्यात् = रह सकती है) ॥२८॥

भावार्थः—वह दृढमित्र राजा उन ग्वालों के करुणाजनक रुदन को नहीं सह सका। क्योंकि यदि राजा अपनी प्यारी प्रजा की आपत्ति से रक्षा न करे; तो फिर लोक का व्यवहार

कृतिनः = भाग्यशाली महापुरुष, वीतस्फीतपरिच्छदाः = समृद्धि और परिवार रहित, (अपि=भी), न गण्याः = नहीं समझे जाना चाहिये।

भावार्थः—स्वामी के मित्रो को देखने से अपने जमाई (दामाद) जीवन्धर के विषय में दृढमित्र राजा को महान् आश्चर्य हुआ। ठीक ही है, क्योकि भाग्यशाली मनुष्यों को किसी भी अवस्था मे समृद्धि और परिवार आदि से रहित नहीं समझना चाहिये। प्रकृत मे यद्यपि महापुरुष जीवन्धर का परिवार विशाल और ऐश्वर्य भी अपरमित था, परन्तु इसका परिज्ञान राजा दृढमित्र को पहिले कभी भी नहीं हो सका था। अतएव इस समय जीवन्धर के मित्रों को देख उसके ऐश्वर्य का अनुमान कर उन्हें विशेष आश्चर्य हुआ ॥३२॥

समित्रावरजोऽहृष्य—दतिमात्र—मसौ कृती।
एकेच्छानामतुच्छानां, न ह्यन्यत्संगमात्सुखम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—समित्रावरजः = मित्रों और छोटे भाई सहित, कृती=विद्वान्, असौ=यह जीवन्धर, (अपि=भी), अतिमात्रम्=अत्यन्त, अहृष्यत् = आनन्दित हुआ। नीतिः–हि = क्योंकि, एकेच्छनाम् = समान विचार वाले, अतुच्छानाम् = महाजनों के, संगमात् = सत्संगति से, अन्यत्=भिन्न कोई दूसरा, सुखम्=उत्तम सुख, (न भवति=नहीं होता)।

भावार्थ—समान विचार वाले मित्रों की संगति से महापुरुषों को सर्वाधिक प्रसन्नता होती है, इसी कारण समान अवस्था और विचार वाले भाई और मित्रों के मिलने से जीवन्धर के भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥३३॥

अयथापुरसंमानात्, समशेत सखीनसौ।
विशेते हि विशेषज्ञो, विशेषाकारवीक्षणात् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—असौ=यह जीवन्धर, (मित्रकृतम्=मित्रों के द्वारा किये हुये, स्वस्य=अपने), अयथापुरसंमानात्=अपूर्व सत्कार से, सखीन् प्रति=मित्रों के प्रति, समशेत=सन्देह करने लगे। नीति–हि=क्योंकि, विशेषज्ञ:=विशेष का जानने वाला बुद्धिमान्, विशेषाकारवीक्षणात्=विशेषताओं के देखने से, विशेते=सन्देह करने लगता है।

भावार्थ—मित्रो के द्वारा, अपना अपूर्व आदर किये जाने से जीवन्धर स्वामी "क्या हमारी क्षत्रियता इन्होंने जान ली, अथवा इस आदर में अन्य भी कोई रहस्य है इत्यादि" सन्देह करने लगे। ठीक ही है, क्योंकि विद्वान् मनुष्य नवीन विशेषताओं को देखने से उनमें सन्देह करने लगते हैं। इसी कारण जीवन्धर को अपना विशेष सत्कार देखने से सन्देह हुआ ॥३४॥

रहस्येव वयस्येषु, तन्निदानमचोदयत् ।
एककण्ठेषु जाता हि, बन्धुता ह्यवतिष्ठते ॥३५॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), तन्निदानम्=उस अपूर्व सत्कार के कारण को, रहसि=एकान्त में, एव=ही, वयस्येषु=मित्रमंडली में, अचोदयत्=पूछने लगे। नीतिः–हि=क्योंकि, एककण्ठेषु=समान प्रेमियों में, जाता=उत्पन्न हुई, बन्धुता=मित्रता, हि=निश्चय से, अवतिष्ठते=स्थिर रहती है ॥३५॥

भावार्थः—उस समय जीवन्धर ने एकान्त स्थान में अपनी मित्र-मण्डली में उनके द्वारा किये गये अपने अपूर्व सत्कार का कारण पूछा। ठीक ही है, क्योंकि समान प्रेम करने वालों में ही मित्रता स्थिर रहा करती है। इसी कारण बहुत समय तक परस्पर वियोग रहने पर भी स्वामी और उनके मित्रों की मित्रता में कोई परिवर्तन नही हुआ था ॥३५॥

ही कैसे चल सकेगा ? इसी कारण राजा ने उन ग्वालो की उस असह्य आपत्ति की उपेक्षा न कर चोरो को पकड़ कर गायों के वापिस कराने का सकल्प किया ॥२८॥

स्वामी श्वशुररुद्धोऽपि, गोमोचनकृते ययौ ।
पराभवो न सोढव्यो-ऽशक्तैः शक्तैस्तु किं पुन. ॥२९॥

अन्वयार्थौ—श्वशुररुद्धः = ससुर के द्वारा रोके गये, अपि = भी), स्वामी = जीवन्धर, गोमोचनकृते = गायों को छुड़ाने के लिये, ययौ = गये । नीतिः-हि = क्योंकि, पराभव = तिरस्कार, अशक्तैः = असमर्थ जनों के द्वारा, (अपि = भी), न सोढव्यः = सहन नहीं किया जाता, तु = तो, पुन = फिर, शक्तैः = समर्थ पुरुषों के द्वारा, कि वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥२९॥

भावार्थ—इतने मे ही जीवन्धर स्वामी गायो के हरण का समाचार सुन कर अपने ससुर के रोकने पर भी चोरों से गायें छुड़ाने के लिये चल दिये। ठीक ही है, क्योंकि अपने तिरस्कार को असमर्थ जन भी सहन नही करते, तो फिर समर्थ पुरुष तो सहन करेंगे ही क्यों ? इसी कारण गोहरण करके राज्यशासन की अवहेलना करने और राजा की परवाह न करने रूप अपने ससुर के अपमान को समर्थ जीवन्धर भी नहीं सह सके ॥२९॥

दस्यवोऽपि गवां तत्र, मित्राण्येवाभवन्विभोः ।
एधोगवेषिभि र्भाग्ये, रत्नं चापि हि लभ्यते ॥३०॥

अन्वयार्थौ—तत्र = वहां पर, गवाम् = गायों के, दस्यवः = चोर, अपि = भी, विभोः = जीवन्धर स्वामी के, मित्राणि = मित्र, एव = ही, अभवन् = थे । नीतिः-हि = क्योंकि, भाग्ये सति = भाग्य के होने पर,

एधोगवेषिभिः=लकड़हारों के द्वारा, रत्नम्=रत्न, च=भी, लभ्यते= प्राप्त किया जाता है ॥३०॥

भावार्थः—उस वन मे गायों के चोर भी जीवन्धर स्वामी के मित्र ही थे, जो चोरों के बहाने से इनके पास आये हुये थे। ठीक ही है, क्योंकि सौभाग्य के होने पर कभी लकड़हारे को रत्न भी मिल जाता है। तदनुसार जीवन्धर का भी भाग्य अच्छा था, जिससे चोर (वास्तव मे बनावटी चोर) भी उनके मित्र ही निकले ॥३०॥

समोऽभूत्स्वामिमित्रेषु, स्नेहश्चान्योन्यवीक्षणात् ।
एककोटिगतस्नेहो, जडानां खलु चेष्टितम् ॥३१॥

अन्वयार्थौ—अन्योन्यवीक्षणात्=परस्पर एक दूसरे के देखने से, स्वामिमित्रेषु = जीवन्धर स्वामी और उनके इन मित्रों में, समः = समान, स्नेहः=प्रेम, अभूत्=हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, एककोटिगत-स्नेहः = एकपक्ष में प्रेम का रहना, जडानाम् = मूर्खों का, चेष्टितम्= काम, (अस्ति=है) ॥३१॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी और उनके इन मित्रों में परस्पर एक दूसरे के देखने से एक सरीखा ही प्रेम हुआ। क्योंकि एकाङ्गी प्रीति मूर्ख ही करते हैं, बुद्धिमान् नही। इसीलिये उन विवेकियो का प्रेम दोनो (मित्र और स्वामी) में समान ही रहा; हीनाधिक नही ॥३१॥

जामातरि चमत्कारो, राज्ञोऽभून्मित्रवीक्षणात् ।
कृतिनोऽपि न गण्या, हि वीतस्फीतपरिच्छदाः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—मित्रवीक्षणात्=जीवन्धर के मित्रों के देखने से, जामातरि=अपने दामाद जीवन्धर के विषय में, राज्ञः =दृढमित्र राजा के, चमत्कारः=अत्यन्त आश्चर्य, अभूत्=हुआ। नीति.-हि=क्योंकि,

कृतिनः=भाग्यशाली महापुरुष, वीतस्फीतपरिच्छदाः = समृद्धि और परिवार रहित, (अपि=भी), न गण्याः = नहीं समझे जाना चाहिये।

भावार्थः—स्वामी के मित्रों को देखने से अपने जमाई (दामाद) जीवन्धर के विषय में दृढमित्र राजा को महान् आश्चर्य हुआ। ठीक ही है, क्योकि भाग्यशाली मनुष्यों को किसी भी अवस्था में समृद्धि और परिवार आदि से रहित नहीं समझना चाहिये। प्रकृत मे यद्यपि महापुरुष जीवन्धर का परिवार विशाल और ऐश्वर्य भी अपरमित था, परन्तु इसका परिज्ञान राजा दृढमित्र को पहिले कभी भी नही हो सका था। अतएव इस समय जीवन्धर के मित्रो को देख उसके ऐश्वर्य का अनुमान कर उन्हे विशेष आश्चर्य हुआ ॥३२॥

समित्रावरजो ऽहृष्य—दतिमात्र—मसौ कृती।
एकेच्छानामतुच्छानां, न ह्यन्यत्संगमात्सुखम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—समित्रावरज.=मित्रों और छोटे भाई सहित, कृती=विद्वान्, असौ=यह जीवन्धर, (अपि=भी), अतिमात्रम्=अत्यन्त, अहृष्यत्=आनन्दित हुआ। नीतिः–हि=क्योंकि, एकेच्छनाम्=समान विचार वाले, अतुच्छानाम् = महाजनों के, संगमात्=सत्संगति से, अन्यत्=भिन्न कोई दूसरा, सुखम्=उत्तम सुख, (न भवति=नहीं होता)।

भावार्थ.—समान विचार वाले मित्रों की संगति से महापुरुषों को सर्वाधिक प्रसन्नता होती है, इसी कारण समान अवस्था और विचार वाले भाई और मित्रों के मिलने से जीवन्धर के भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥३३॥

अयथापुरसंमानात्, समशेत सखीनसौ।
विशेते हि विशेषज्ञो, विशेषाकारवीक्षणात् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—असौ=यह जीवन्धर, (मित्रकृतम्=मित्रों के द्वारा किये हुये, स्वस्य=अपने), अयथापुरसंमानात्=अपूर्व सत्कार से, सखीन् प्रति=मित्रों के प्रति, समशेत=सन्देह करने लगे। नीति-हि= क्योंकि, विशेषज्ञः=विशेष का जानने वाला बुद्धिमान्, विशेषाकार-वीक्षणात्=विशेषताओं के देखने से, विशेते=सन्देह करने लगता है।

भावार्थ—मित्रो के द्वारा, अपना अपूर्व आदर किये जाने से जीवन्धर स्वामी "क्या हमारी क्षत्रियता इन्होंने जान ली, अथवा इस आदर में अन्य भी कोई रहस्य है इत्यादि" सन्देह करने लगे। ठीक ही है, क्योकि विद्वान् मनुष्य नवीन विशेषताओं को देखने से उनमें सन्देह करने लगते हैं। इसी कारण जीवन्धर को अपना विशेष सत्कार देखने से सन्देह हुआ ॥३४॥

रहस्येव वयस्येषु, तन्निदानमचोदयत् ।
एककण्ठेषु जाता हि, बन्धुता ह्यवतिष्ठते ॥३५॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), तन्निदानम्=उस अपूर्व सत्कार के कारण को, रहसि=एकान्त में, एव=ही, वयस्येषु=मित्रमंडली में, अचोदयत्=पूछने लगे। नीतिः-हि=क्योंकि, एककण्ठेषु=समान प्रेमियों में, जाता=उत्पन्न हुई, बन्धुता=मित्रता, हि=निश्चय से, अवतिष्ठते=स्थिर रहती है ॥३५॥

भावार्थः—उस समय जीवन्धर ने एकान्त स्थान में अपनी मित्र-मण्डली में उनके द्वारा किये गये अपने अपूर्व सत्कार का कारण पूछा। ठीक ही है, क्योंकि समान प्रेम करने वालों में ही मित्रता स्थिर रहा करती है। इसी कारण बहुत समय तक परस्पर वियोग रहने पर भी स्वामी और उनके मित्रों की मित्रता में कोई परिवर्तन नही हुआ था ॥३५॥

भावार्थः—उस दण्डक वन में चारों ओर मनोहर दृश्यों (देखने योग्य वस्तुओं) को वार वार देख कर घूमते हुये हम लोगों ने वहां किसी एक स्थान पर अपने पुण्योदय से एक पूज्य माता को देखा ॥४०॥

तन्मात्रा दृष्टमात्रेण, कुत्रत्या इति चोदिताः ।
वयमप्युत्तरं वक्तु-मुपक्रम्य, यथाक्रमम् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—तन्मात्रा = उस माता के द्वारा, दृष्टमात्रेण=देखने मात्र से, यूयम्=तुम लोग, कुत्रत्याः=कहां से आये, इति = इस प्रकार, चोदिताः=पूछे गये, वयम् = हम लोग, अपि=भी, यथाक्रमम् = क्रम पूर्वक, उत्तरम्=उत्तर को, वक्तुम्=कहने को, उपक्रम्य = प्रारम्भ करके, (इति = वक्ष्यमाण प्रकार, अवोचाम = कहने लगे) ॥४१॥

भावार्थः—उस पूज्य माता ने हम लोगो को देखते ही जब पूछा कि "तुम लोग कहां से आये हो ।" तब हम लोगों ने भी उन्हें क्रम से निम्नप्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥४१॥

अस्ति राजपुरे कश्चिद्, विबुधानामपश्चिमः ।
विशां च जीवकाख्योऽय-मेतं जीवातुका वयम् ॥४२॥

अन्वयार्थौ—राजपुरे=राजपुरी नगरी में, विबुधानाम्=विद्वानो का, च = और, विशाम् = वैश्यों का, अपश्चिमः=प्रधान, कश्चित्=कोई, अयम् = यह प्रसिद्ध, जीवकाख्यः = जीवन्धरनामक महापुरुष, (अस्ति= है), च = और, वयम्=हम सब, एतम्=इस जीवन्धर को, जीवातुकाः= अनुकरण करने वाले मित्र या नौकर, (स्मः=हैं) ॥४२॥

भावार्थः—हे माता ! राजपुरी नगरी में विद्वानो और वैश्यों में प्रधान एक जीवन्धर नामक महापुरुष है। हम लोग उसी महापुरुष के अनुजीवी (नौकर चाकर) हैं ॥४२॥

काष्ठाङ्गाराह्वयः को ऽपि, कोपादेनमनेनसम् ।
हन्तुं किलेत्यवोचाम, मूर्च्छिता सा च पेतुषी ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(तत्र=उस नगरी में), काष्ठांगाराह्वयः=काष्ठांगार नामक, कः=कोई दुष्ट राजा, अनेनसम्=निरपराध, अपि=भी, एनम्=इस जीवन्धर को, कोपात्=क्रोध से, हन्तुम्=मारने को, किल=वस, इति=इतना ही, (वयम्=हम लोग), अवोचाम=कहने पाये थे, (यत्=कि), सा=वह माता, मूर्च्छिता=मूर्च्छित, (सती=होती हुई), पेतुषी=गिर पड़ी ॥४३॥

भावार्थ—उसी राजपुरी नगरी में एक काष्ठांगार नामक दुष्ट राजा है "उसने क्रोध से किसी समय निरपराध भी इस जीवन्धर को इसके पराक्रम से जल कर मारने के लिये ·· ·····" मेरा इतना अधूरा वाक्य ही सुनकर वह माता मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी ॥४३॥

हन्त हन्त हतो नाय—मम्बेत्यभिहिता मया ।
पिहितासुप्रयाणा सा, प्रालपल्लब्धचेतना ॥४४॥

अन्वयार्थौ—हन्त हन्त=हाय हाय, अम्ब=हे माता, अयम्=ये जीवन्धर, न हतः=मारे नहीं गये, इति=इस प्रकार, मया=मुझसे, अभिहिता=कही गई, (अतएव=इसीलिये), पिहितासुप्रयाणा=रुक गया है प्राणों का निकलना जिसका ऐसी, च=और, लब्धचेतना=सचेत हुई, सा=वह माता, प्रालपत्=विलाप करने लगी ॥४४॥

भावार्थः—जब हम लोगों ने कहा कि "हे माता आप रंज न कीजिये, वे जीवन्धर मारे नही गये हैं" तब वे बड़ी कठिनाई में जीवित रह सकीं, तो भी सचेत होकर विलाप करने लगीं ॥४४॥

मुख्यं सख्यं गतस्तेषा—माचख्यौ पंकजाननः।
सज्जनानां हि शैलीयं, सक्रमारम्भशालिता ॥३६॥

अन्वयार्थौ—तेषां मध्ये=उन मित्रों में, मुख्यम् = प्रधान, सख्यम्=मित्रता को, गतः=प्राप्त, पङ्कजाननः=पद्मास्य नामक मित्र, आचख्यौ=बोला, नीतिः–हि=-क्योंकि, सक्रमारंभशालिता=क्रमपूर्वक कार्य का प्रारम्भ करना, इयम्=यह, सज्जनानाम् = सज्जन पुरुषों की, शैली=पद्धति, (अस्ति=है) ॥३६॥

भावार्थः—क्रमपूर्वक कार्य करना महापुरुषों की शैली (रीति) होती है, इस बात का लक्ष्य रखते हुये जीवन्धर के मित्रों में प्रधान पद्मास्य ने उनको निम्नप्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥३६॥

स्वामिन्स्वामिवियोगेऽपि, युक्ता दग्धासुभिर्वयम्।
अस्तोकभाविभाग्येन, हस्तग्राहं ग्रहादिव ॥३७॥

अन्वयार्थौ—हे स्वामिन्, स्वामिवियोगे=आपका वियोग होने पर, दग्धासुभिः=जले हुये प्राणों से, युक्ताः=सहित, वयम्= हम सब, अस्तोकभाविभाग्येन=भविष्य में होने वाले आपके दर्शनरूप अधिक सौभाग्य से, हस्तग्राहम्=हाथ पकड़ कर, ग्रहात्=रोकने से, इव=ही, (अजीवाम=जीवित रहे) ॥३७॥

भावार्थ—हे स्वामिन्! उस समय आपके चले आने पर हम लोग सर्वथा मृततुल्य हो चुके थे, किन्तु भविष्य मे होने वाले आपके शुभदर्शनरूपी सौभाग्य की आशा से ही जीवित रहे।

साश्वासास्ततो देव्या, दत्तहस्तावलम्बनाः।
प्रास्थिष्महि धुरं प्राप्ता—वयमश्वीयपाणिनाम् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—ततः=फिर, देव्या=देवी गन्धर्वदत्ता के द्वारा,

दत्तहस्तावलम्बनाः = सहारे को प्राप्त, च = और, साश्वासाः = अश्वासन सहित, वयम् = हम सब, अश्वीयपाणिनाम् = घोड़ों के बेचने वालों के, धुरम् = वेष को, प्राप्ताः = प्राप्त होते हुये, (ततः = वहां से), प्रास्थिष्महि = रवाना हुये ॥३८॥

भावार्थः—इसके बाद देवी गन्धर्वदत्ता ने जब अपनी विद्या के बल से आपका शुभ सन्देश सुनाते हुये। हमें आश्वासन और आपका पता दिया, तब हम लोग आपके शुभदर्शन की इच्छा से घोड़े बेचने वालो का वेष बना कर यहां आये हैं ॥३८॥

अतिलङ्घ्य ततोऽध्वान—मध्वश्रमविहानये ।

दण्डकारण्यविख्यातं, तापसाश्रममाश्रिताः ॥३९॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, (वयम् = हम सब, अधिकम् = अधिक), अध्वानम् = मार्ग को, अतिलंघ्य = तय कर, अध्वश्रमविहानये = मार्ग की थकावट दूर करने के लिये, दण्डकारण्यविख्यातम् = दण्डक वन में प्रसिद्ध, (एकम् = एक), तापसाश्रमम् = तपस्वियों के आश्रम को, आश्रिता = पहुंचे ॥३९॥

भावार्थ—हम लोग राजपुरी से रवाना होकर बहुत सा मार्ग तय कर मार्गजन्य थकावट दूर करने के लिये दण्डक वन में प्रसिद्ध तपस्वियों के एक आश्रम मे पहुॅचे ॥३९॥

दर्शदर्शं ततो दृश्यं, विहरन्तोऽत्र विश्वतः ।

अपश्याम काचित्कांचित्, पुण्यतःपुण्यमातरम् ॥४०॥

अन्वयार्थौ—अत्र = यहां पर, दृश्यम् = दर्शनीय वस्तुओं को, दर्शंदर्शम् = देख देखकर, विश्वतः = चारों ओर, विहरन्तः = घूमते हुये, (वयम् = हम लोग), पुण्यतः = पुण्योदय से, काञ्चित् = किसी, पुण्यमातरम् = पवित्र माता को, अपश्याम = देखते हुये ॥४०॥

भावार्थः—उस दण्डक वन में चारों ओर मनोहर दृश्यों (देखने योग्य वस्तुओं) को वार वार देख कर घूमते हुये हम लोगों ने वहां किसी एक स्थान पर अपने पुण्योदय से एक पूज्य माता को देखा ॥४०॥

तन्मात्रा दृष्टमात्रेण, कुत्रत्या इति चोदिता. ।
वयमप्युत्तरं वक्तु–मुपक्रम्य, यथाक्रमम् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—तन्मात्रा = उस माता के द्वारा, दृष्टमात्रेण = देखने मात्र से, यूयम् = तुम लोग, कुत्रत्याः = कहां से आये, इति = इस प्रकार, चोदिताः = पूछे गये, वयम् = हम लोग, अपि = भी, यथाक्रमम् = क्रम पूर्वक, उत्तरम् = उत्तर को, वक्तुम् = कहने को, उपक्रम्य = प्रारम्भ करके, (इति = वक्ष्यमाण प्रकार, अवोचाम = कहने लगे) ॥४१॥

भावार्थः—उस पूज्य माता ने हम लोगो को देखते ही जब पूछा कि "तुम लोग कहां से आये हो।" तब हम लोगों ने भी उन्हें क्रम से निम्नप्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥४१॥

अस्ति राजपुरे कश्चिद्, विबुधानामपश्चिमः ।
विशां च जीवकाख्यो ऽय –मेतं जीवातुका वयम् ॥४२॥

अन्वयार्थौ—राजपुरे = राजपुरी नगरी में, विबुधानाम् = विद्वानों का, च = और, विशाम् = वैश्यों का, अपश्चिमः = प्रधान, कश्चित् = कोई, अयम् = यह प्रसिद्ध, जीवकाख्यः = जीवन्धरनामक महापुरुष, (अस्ति = है), च = और, वयम् = हम सब, एतम् = इस जीवन्धर को, जीवातुकाः = अनुकरण करने वाले मित्र या नौकर, (स्मः = हैं) ॥४२॥

भावार्थः—हे माता! राजपुरी नगरी में विद्वानो और वैश्यों में प्रधान एक जीवन्धर नामक महापुरुष है। हम लोग उसी महापुरुष के अनुजीवी (नौकर चाकर) हैं ॥४२॥

काष्ठाङ्गाराह्वयः को ऽ पि, कोपादेनमनेनसम् ।
हन्तुं किलेत्यवोचाम, मूर्च्छिता सा च पेतुषी ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(तत्र=उस नगरी में), काष्ठांगाराह्वयः=काष्ठांगार नामक, कः=कोई दुष्ट राजा, अनेनसम्=निरपराध, अपि=भी, एनम्=इस जीवन्धर को, कोपात्=क्रोध से, हन्तुम्=मारने को, किल=बस, इति=इतना ही, (वयम्=हम लोग), अवोचाम=कहने पाये थे, (यत्=कि), सा=वह माता, मूर्च्छिता=मूर्च्छित, (सती=होती हुई), पेतुषी=गिर पड़ी ॥४३॥

भावार्थ—उसी राजपुरी नगरी में एक काष्ठांगार नामक दुष्ट राजा है "उसने क्रोध से किसी समय निरपराध भी इस जीवन्धर को इसके पराक्रम से जल कर मारने के लिये ·· ······" मेरा इतना अधूरा वाक्य ही सुनकर वह माता मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी ॥४३॥

हन्त हन्त हतो नाय—मम्बेत्यभिहिता मया ।
पिहितासुप्रयाणा सा, प्रालपल्लब्धचेतना ॥४४॥

अन्वयार्थौ—हन्त हन्त=हाय हाय, अम्ब=हे माता, अयम्=ये जीवन्धर, न हतः=मारे नहीं गये, इति=इस प्रकार, मया=मुझसे, अभिहिता=कही गई, (अतएव=इसीलिये), पिहितासुप्रयाणा=रुक गया है प्राणों का निकलना जिसका ऐसी, च=और, लब्धचेतना=सचेत हुई, सा=वह माता, प्रालपत्=विलाप करने लगी ॥४४॥

भावार्थः—जब हम लोगों ने कहा कि "हे माता आप रंज न कीजिये, वे जीवन्धर मारे नहीं गये हैं" तब वे बड़ी कठिनाई में जीवित रह सकीं, तो भी सचेत होकर विलाप करने लगी ॥४४॥

अम्भोदालीव दम्भोली-ममृतं च मुमोच सा ।
देवी समं प्रलापेन, देवोदन्तमिदन्तया ॥४५॥

अन्वयार्थौ—दम्भोलीम्=विजली को, च=और, अमृतम्=जल को, अम्भोदाली इव=मेघपंक्ति के समान, सा=वह, देवी=माता, प्रलापेन् समम्=विलाप के साथ, इदन्तया=स्पष्टरीति से, देवोदन्तम्=आपके वृत्तान्त को, च=और, अमृतम् = अस्रुजल को, (अपि=भी) मुमोच=छोड़ती हुई ॥४५॥

भावार्थः—जिस प्रकार मेघमाला जलवृष्टि के साथ साथ कभी विजली को भी गिराती है, उसी प्रकार उस पुण्य-मूर्ति देवी ने भी अश्रुजल की धारा छोड़ते हुये आपका चरित सुनाना प्रारम्भ किया ॥४५॥

तन्मुखात्खादिवोत्पन्नां, रत्नवृष्टिं तवोन्नतिम् ।
उपलभ्य वयं लब्धा-ममन्यामहि तन्महीम् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—खात्=आकाश से, उत्पन्नाम्=वरसती हुई, रत्नवृष्टिम् इव=रत्नों की वर्षा के समान, तन्मुखात्=उस माता के मुख से, तव=तुम्हारी, उन्नतिम्=उन्नति को, उपलभ्य=सुन कर, वयम्=हम सब तन्महीम्=अपनी उस पृथिवी को, (पुनः=फिर) से, लब्धाम्=प्राप्त की हुई, अमन्यामहि=मानते हुये ॥४६॥

भावार्थः—उस माता के श्रीमुख से उन्नति-सूचक आपके आद्योपान्त वृत्तान्त को सुनकर उसे आकाश से बरसती हुई रत्नवृष्टि के समान आदरणीय मानते हुये हम लोगों ने उसी समय निश्चय कर लिया कि अपना राज्य आपको निश्चय से ही वापिस मिल जावेगा ॥४६॥

देववैभवसंकीर्त्यां, ततो देवीं पुनः पुन ।
आश्वास्यापृच्छ्य तद्देशा-दिमं देशं गता इति॥४७॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, वयम्=हम सब, देववैभव-संकीर्त्या=आपके वैभव के वर्णन से, ताम्=उस, देवीम्=माता को, पुनः पुन=वार वार, आश्वास्य=धैर्य बँधाकर, (च=और), आपृच्छ्य=पूछ कर, तद्देशात्=उस स्थान से, इमम्=इस, देशम्=स्थान को, गताः=प्राप्त हुये हैं ॥४७॥

भावार्थ—इसके बाद हम लोगों ने आपके वैभव का वर्णन कर उस माता को धैर्य बँधाया और फिर उससे पूछ कर वहां से प्रस्थान कर यहां आये है ॥४७॥

मातु र्जीवन्मृतिज्ञानात् , तत्त्वज्ञः सोऽप्यखिद्यत ।
जीवानां जननीस्नेहो, न ह्यन्यैः प्रतिहन्यते ॥४८॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञः=तत्त्वज्ञानी, सः=वह जीवन्धर, अपि=भी, मातुः=माता के, जीवन्मृतिज्ञानात्=जीते हुये भी मरने के ज्ञान से, अखिद्यत=खिन्न हुआ। नीतिः-हि=निश्चय से, जीवानाम्=प्राणियों का, जननीस्नेहः=मातृविषयिक स्नेह, अन्यैः=दूसरों से, न प्रतिहन्यते=नष्ट नहीं किया जा सकता ॥४८॥

भावार्थ—जीवन्धर को अपनी माता के जीवित रहने का ज्ञान न था—उन्हे निश्चय था कि वे स्वर्गस्थ हो चुकी हैं। इसलिये वे, अपने मित्रों से उनके जीवित रहने का समाचार जान कर अपने अज्ञान पर वहुत दुखी हुये। ठीक ही है, क्योंकि प्राणियों का मातृविषयिक प्रेम अटल होता है–किसी से भी नष्ट नही किया जा सकता। तदनुसार उस समय जीवन्धर का भी मातृप्रेम उमड़ उठा, इसीलिये वे अपने पूर्व (मृत्यु-विषयिक) ज्ञान पर खेद करने लगे, कि हाय मैंने जीवित रहते हुये भी अपनी माता को मृत क्यो समझा ? इत्यादि !! ॥४८॥

अत्वरिष्ट च तां द्रष्टुं, कौरवो गुरुगौरवः ।
अम्मामदृष्टपूर्वां च, द्रष्टुं को नाम नेच्छति ॥४९॥

अन्वयार्थौ—गुरुगौरवः=गुरुजनों में पूज्यबुद्धि रखने वाले, कौरवः=कुरुवंशी जीवन्धर, ताम्=पूर्व में नहीं देखी हुई उस माता को, द्रष्टुम्=देखने के लिये, च=भी, अत्वरिष्ट=अतिशीघ्रता करने लगे। नीतिः-हि=क्योंकि, अदृष्टपूर्वाम्=पूर्व में नहीं देखी हुई, च=भी, अम्बाम्=माता को, द्रष्टुम्=देखने के लिये, कः नाम=कौन विचारशील, न इच्छति=इच्छा नहीं किया करता है? अपि तु सर्वेजना इच्छन्ति=किन्तु सभी जन इच्छा करते हैं ॥४९॥

भावार्थः—उस समय जीवन्धरकुमार को अपनी माता का समाचार मिलने पर केवल स्नेह ही जागृत नहीं हुआ, किन्तु वे उसके दर्शन करने के लिये उत्सुक होकर अतिशीघ्रता भी करने लगे। ठीक ही है; क्योंकि विवेकी जन हमेशा ही अपनी पुण्य जननी के दर्शन के लिये उत्सुक रहा करते हैं; फिर यदि उसे पूर्व में कभी न देखा हो; तब तो उनकी उस उत्सुकता का कहना ही क्या है? यही कारण था जो जीवन्धरकुमार अपनी उस पवित्र माता को देखने के लिये एकदम उत्कण्ठित होकर शीघ्रता करने लगे। क्योंकि वे जन्म के पश्चात् उसे देखने ही नहीं पाये थे कि उन्हें उससे अलग हो जाना पड़ा था ॥४९॥

व्यस्मारि मातरि स्नेहा-न्मान्येनान्यदशेषतः।
रागद्वेषादि तेनैव, बलिष्ठेन हि बाध्यते ॥५०॥

अन्वयार्थौ—मान्यनेन=माननीय जीवन्धर ने, मातरि=माता के विषय में, स्नेहात्=स्नेह से, अन्यत्=अन्य सब कार्य, अशेषतः=बिलकुल, व्यस्मारि=भुला दिया। नीतिः-हि=क्योंकि, बलिष्ठेन=अतिशय बलवान्, तेन=उस स्नेह से, (एव=ही), रागद्वेषादि=राग और द्वेष आदिक, बाध्यते=बाधे जाते हैं ॥५०॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार को माता के विषय में इतना

अधिक स्नेह हुआ कि जिससे वे और बाकी सब कुछ कार्य या बात भूल गये। ठीक ही है, क्योंकि किसी वस्तु में अतिशय अनुराग से अन्य अनिष्ट-वस्तुओ मे द्वेष और इष्ट-वस्तुओं में प्रेम उतने समय को शिथिल होजाता है, इसी कारण जीवन्धर भी अतिशय मातृ-प्रेम से अन्य परिचित और आवश्यक वस्तुओं, मनुष्यों तथा कार्यों को भूल गये। उस समय उनके एक मातृ-दर्शन की ही तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई ॥५०॥

अन्वजिज्ञपदात्मीयां, गतिं भार्यां परानपि ।
आवश्यकेऽपि बन्धूनां, प्रातिकूल्य हि शल्यकृत् ॥५१॥

अन्वयर्थौ—(जीवन्धरकुमार), आत्मीयाम्=अपने, गतिम्= गमन करने के समाचार को, भार्याम्=अपनी स्त्री को, (च=और), परान्=अन्यजनों को, अपि=भी, अन्वजिज्ञपत्=सूचित करते हुये। नीतिः—हि=क्योंकि, आवश्यके=आवश्यक कार्य में, अपि=भी, बन्धूनाम्=बन्धुजनों की, प्रातिकूल्यम्=प्रतिकूलता, शल्यकृत्=असह्य दुःखजनक, (जायते=हो जाती है) ॥५१॥

भावार्थ.—जीवन्धर कुमार ने अपने गमन करने का समाचार अपनी धर्मपत्नी कनकमाला तथा अन्य सब सम्बन्धियों से भी कह दिया, क्योकि आवश्यक कार्य में भी बन्धुजनो की प्रतिकूलता (नाराजी) कभी कभी असह्य दुःखजनक हो जाती है, इसीलिये जीवन्धर ने अपने गमन के विषय में अपने प्रेमी जनों की भी सम्मति ले ली ॥५१॥

अनुनीयानुगान्बन्धून्, प्रसभं प्रययौ ततः ।
अनुनयो हि माहात्म्यं, महतामुपबृंहयेत् ॥५२॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), अनुगान्=साथ चलने वाले बन्धून्=अपने साले आदि को, अनुनीय=विनयपूर्वक वापिस करके,

ततः = उस हेमाभा नगरी से, प्रसभम् = शीघ्र, प्रययौ = रवाना हो गये। नीतिः–हि = क्योंकि, अनुनयः = विनीतभाव–विनयप्रदर्शन, महताम् = महापुरुषों के, माहात्म्यम् = महत्त्व को, एव = ही, उपबृंहयेत् = बढ़ाता है।

भावार्थः—उन जीवन्धरकुमार ने पहुँचाने के लिये अपने पीछे चलने वाले साले आदि सम्बन्धि—जनों को यथा–योग्य विनय के साथ वापिस कर उस हेमाभापुरी से शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया। ठीक ही है, क्योंकि विनीत–भाव से महा–पुरुषो की महिमा और भी अधिक बढ़ जाती है। तदनुसार इस नम्रता से जीवन्धर की महिमा पहिले से भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हुई-लोग उनकी अधिक अधिक प्रशंसा करने लगे ॥५२॥

प्रसवित्रीं ततः प्रेक्ष्य, प्रेमान्धो ऽभूदवन्ध्यधीः
तत्त्वज्ञानतिरोभावे, रागादि हि निरंकुशम् ॥५३॥

अन्वयार्थो—ततः = इसके बाद, अवन्ध्यधीः = प्रयोजनसिद्धि कारक (सफल) बुद्धि वाले जीवन्धर, (तत्र = उस दण्डकवन में, गत्वा = पहुँच कर स्वस्य = अपनी), प्रसवित्रीम् = माता को, वीक्ष्य = देखकर, प्रेमान्धः = प्रेमान्ध, अभूत् = हो गये। नीतिः–हि = क्योंकि, तत्त्वज्ञानतिरोभावे = विवेक के छिप जाने पर, रागादि = रागद्वेष आदिक, निरंकुशम् = रुकावट रहित, (उत्पद्यते = उत्पन्न हो जाता है) ॥५३॥

भावार्थः—उस दण्डकवन मे पहुंच कर जीवन्धर स्वामी ने जब अपनी माता को देखा, तब वे मातृस्नेह से अत्यन्त विह्वल हो उठे। ठीक ही है, क्योंकि विवेकशक्ति के छिप जाने पर रागादिक भाव भी स्वतन्त्रता से उत्पन्न हो ही जाते हैं। इसीलिये अदृष्टपूर्व माता के दर्शन से उत्पन्न हुये प्रेमभाव से विवेक-बुद्धि के लुप्त हो जाने पर जीवन्धर के भी रागभाव की वृद्धि हो गई ॥५३॥

जातजातक्षणत्यागा—ज्जातं दुर्जातमक्षिणोत् ।
सुतवीक्षणतो माता, सुतप्राणा हि मातरः ॥५४॥

अन्वयार्थौ—माता = जीवन्धर की माता, जातजातक्षण-त्यागात् = पुत्र को जन्म समय में ही त्याग देने से, जातम् = उत्पन्न हुये, दुर्जातम्=दुःख को, सुतवीक्षणतः = अपने सुपुत्र के दर्शनमात्र से, अक्षिणोत्=भूल गई। नीतिः–हि=क्योंकि, मातरः=मातायें, सुतप्राणाः= पुत्र ही हैं प्राण जिन्हों के ऐसी, (भवन्ति = होती हैं) ॥५४॥

भावार्थः—पुत्र की रक्षा का अन्य उपाय न होने से पैदा होते ही उसे विजया रानी ने सुतान्वेषी गन्धोत्कट के लिये श्मशान में ही छोड़ दिया था। इसीलिये उसे जन्म से पुत्र-वियोग का जो रंज था उसे वह जीवन्धर के देखने से ही एकदम भूल गई। ठीक ही है, क्योंकि माताओं को अपने बच्चे प्राण सरीखे प्यारे होते हैं, इसीलिये जीवन्धर की माता को भी उनका दर्शन प्राणप्राप्ति के समान आनन्ददायक हुआ ॥५४॥

सूनो वीक्षणतस्तप्ता, क्षोणीशं तमियेष सा ।
लाभं लाभमभीच्छा स्या—न्नहि तृप्तिः कदाचन ॥५५॥

अन्वयार्थौ—सूनोः = पुत्र के, वीक्षणतः = देखने से, तप्ता सती=सन्ताप को प्राप्त होती हुई, सा = वह माता, तम् = उस पुत्र को; क्षोणीशम् = राजा होना, इयेष = चाहने लगी। नीतिः–हि = क्योंकि, लाभं लाभम् अभि = एक वस्तु के प्राप्त हो जाने पर दूसरी वस्तु की प्राप्ति के प्रति, इच्छा = चाह, स्यात् = होती है, तृप्तिः = सन्तोष, कदाचन = कभी भी, न स्यात्=नहीं होता ॥५५॥

भावार्थः—इस ससार मे मनुष्य को एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी की और दूसरी की भी प्राप्ति होने पर तीसरी की इच्छा हुआ करती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाओ की वृद्धि

बराबर होती ही रहती है, सन्तोष तो कभी भी नहीं होता। तदनुसार जीवन्धर की माता के भी अपने चिरवियुक्त सुपुत्र के देखने की इच्छा बहुत समय से थी। सौभाग्य से जीवन्धर के मिलने पर जब उसकी इच्छा पूर्ण हुई तब उसे, जीवन्धर को देख और उसके राजपुत्रत्व एवं वर्तमान अवस्था (इधर उधर भटकते फिरने) पर विचार कर सन्तोष की जगह भारी सन्ताप हुआ। इसीलिये वह अब इसे (जीवन्धर को) अपने पिता के पद (राजसिंहासन) पर प्रतिष्ठित होने की भी इच्छा करने लगी।

कच्चित्पितुः पदं ते स्या—दङ्ग ! त्रेत्यचोदयत् ।
सामग्रीविकलं कार्यं, न हि लोके विलोकितम् ॥५६॥

अन्वयार्थौ—अङ्ग पुत्र=हे पुत्र, ते=तेरे, पितुः=पिता का, पदम्=स्थान, स्यात्=होगा, कच्चित्=क्या ?, इति=इस प्रकार, (सा=वह माता, तम्=उन जीवन्धर से) अचोदयत्=पूछने लगी। नीतिः-हि=क्योंकि, लोके=संसार में, सामग्रीविकलम्=उत्पादक सामग्री के विना, कार्यम्=कार्य न विलोकितम्=नहीं देखा गया है।

भावार्थ.—माता विजया ने अपने प्रिय पुत्र जीवन्धर से पूछा कि हे वत्स ! तू कभी अपने पिता के राजपद को भी प्राप्त करेगा कि नही ? क्योंकि इस समय उसके प्राप्त करने को सामग्री, पर्याप्तधन और सैन्य वगैरह के न होने से मुझे उसकी प्राप्ति में सन्देह हो रहा है। क्योंकि लोक मे सर्वत्र आवश्यक सामग्री के होने पर ही कार्य सफल होते देखे जाते हैं, सामग्री के विना नही ॥५६॥

अम्ब किं बत खेदेन, बाढं स्यादिति सोऽभ्यधात् ।
मुग्धेष्वातिविदग्धानां, युक्तं हि बलकीर्तनम् ॥५७॥

अन्वयार्थौ—अम्ब=हे माता, बत=व्यर्थ, खेदेन=खेद करने से, किम्=क्या लाभ, (अस्ति=है) ? (यतः=क्योंकि, (मे=मेरे लिये, पितुः पदम्=पिता जी का पद), बाढम्=निश्चय से ही, स्यात्=होगा, इति=इस प्रकार, सः=वह जीवन्धर, अपि=भी, अभ्यधात्=उत्तर देता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, अतिविदग्धानाम्=चतुर जनों का, मुग्धे=मूर्खों में, बलकीर्तनम्=अपने बल की प्रशंसा करना, युक्तम्=योग्य, (एव=ही, स्यात्=होता है) ॥५७॥

भावार्थ—जीवन्धर ने भी कहा कि माता जी आप चिन्ता न कीजिये। मेरे पिता का पद (राज्य) मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा। यद्यपि जीवन्धर का इस प्रकार अभिमान-पूर्ण उत्तर देना उनके स्वभाव के विरुद्ध था, परन्तु क्या किया जाय ? इसके सिवाय विजया जननी को सान्त्वना देने के लिये उनके सामने और अन्य उपाय भो तो नहीं था। नीतिकारो का भी यही कहना है कि बुद्धिमानों को चाहिये कि वे भोले मनुष्यो को समझाने के लिये उनके सामने अपने बलादि गुणो की प्रशसा अवश्य करें। इस तरह जीवन्धर का उपर्युक्त उत्तर सामयिक और नीति के भी अनुरूप हुआ ॥५७॥

पुत्रवाक्येन हस्तस्थां, मेने माता च मेदिनीम् ।
मुग्धाः श्रुतविनिश्चेया, न हि युक्तिवितर्किणः ॥५८॥

अन्वयार्थौ—माता=माता विजया, च=भी, पुत्रवाक्येन=पुत्र के उपर्युक्त वचन से, मेदिनीम्=पृथिवी को, (स्वस्याः=अपने), हस्तस्थाम्=हाथ में आई हुई, (एव=ही,) मेने=मानती हुई। नीतिः-हि=क्योंकि, मुग्धाः=भोले प्राणी, श्रुतविनिश्चेयाः=सुनने से ही बात का निश्चय करने वाले, (भवन्ति=होते हैं), युक्तिवितर्किणः=युक्ति द्वारा विचार करने वाले, न=नहीं ॥५८॥

भावार्थ—पुत्र के उपर्युक्त वचन को सुन कर माता विजया को निश्चय हो गया; कि हमारा राज्य हमें अवश्य वापिस मिल जावेगा। ठीक ही है, क्योंकि भोले प्राणी किसी बात को सुन कर ही वैसा निश्चय कर बैठते हैं—उस पर विशेष ऊहापोह (विचार) नहीं करते। इसी कारण भोली विजया ने जीवन्धर के कथन-मात्र से ही राज्य के वापिस मिलने का निश्चय कर लिया ॥५८॥

अपायस्थानमस्तोकं, दूरक्षं व्याहरद्विभोः ।
अमित्रो हि कलत्रं च, क्षत्रियाणां किमन्यतः ॥५९॥

अन्वयार्थौ—(वह माता), विभोः = जीवन्धर स्वामी के, दूरक्षम् = दुःख से रक्षा होने योग्य, अस्तोकम् = बहुत, अपायस्थानम् = विनाश के कारणों को व्याहरत् = कह बैठी। नीतिः-हि = क्योंकि, क्षत्रियाणाम् = क्षत्रियों की, कलत्रम् = स्त्री, (अपि = भी), अमित्रः = शत्रु के समान। (भवति = हुआ करती है), अन्यतः = औरों का, (पुनः = फिर) किम् = कहना ही क्या है ? ॥५९॥

भावार्थ—वास्तव में पिता के पद का स्मरण करा कर विजया देवी ने जीवन्धर स्वामी को एक बड़े भारी सकट में डाल दिया था। परन्तु क्या करे ? यह तो क्षत्रिय जाति का स्वाभाविक ही कार्य (धर्म) है। औरों की तो कहे ही क्या, किन्तु क्षत्रियों की तो प्राणप्रिय स्त्रियां भी शत्रु के समान कठोर बन कर उन्हें न्यायसंगत युद्ध आदि के सम्मुख किया करती हैं। तदनुसार विजयादेवी ने राज्यपद की याद दिला कर जीवन्धर को युद्ध की ओर लगा कर क्षत्रियोचित कार्य ही किया था ॥५९॥

कर्तव्यं च ततो मात्रा, मन्त्रितं तेन मन्त्रिणा ।
विचार्यैवेतरैः कार्यं, कार्यं स्यात्कार्यवेदिभिः ॥६०॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, मन्त्रिणा = विचारदक्ष, तेन = उस जीवन्धर ने, मात्रा सह = माता के साथ, (स्वस्य = अपना), कर्त्तव्यम् = करने योग्य कार्य, मन्त्रितम् = विचारा। नीति –हि = क्योंकि, कार्यवेदेभिः = कार्यकुशल जनों के द्वारा, इतरैः सह = दूसरों के साथ, विचार्य, = विचार कर, एव = ही, कार्यम् = कार्य, कार्यम् = किया जाना चाहिये ॥६०॥

भावार्थ—कार्यकुशल मनुष्य दूसरे अनुभवी मनुष्यों के साथ करणीय कार्य के विषय में लाभालाभ का विचार कर ही किसी कार्य मे हाथ लगाया करते हैं। इसीलिये विवेकी जीवन्धर ने भी राज्यप्राप्ति के विषय मे अपनी वृद्ध माता के साथ कर्त्तव्य कार्य का विचार किया ॥६०॥

प्राहिणोत्प्रसवित्रीं तां, मातुलोपान्तिके कृती।
न हि मातुः सजीवेन, सोढव्या स्याद्दुरासिका ॥६१॥

अन्वयार्थौ—(पश्चात्), कृती = विवेकी, (जीवन्धर), ताम् = उस, प्रसवित्रीम् = माता को, मातुलोपान्तिके = मामा के पास, प्राहिणोत् = पहुँचा आये। नीतिः–हि = क्योंकि, मातुः = अपनी माता की, दुरासिका = दुःखित हालत, सजीवेन = सचेतन प्राणी के द्वारा, सोढव्या = सह्य, न भवति = नहीं होती है? ॥६१॥

भावार्थ—कोई भी सचेतन प्राणी अपनी माता की दुःखित हालत सहन नहीं कर सकता, अतएव जीवन्धर ने भी अपनी माता रानी विजया का तपस्वियों के आश्रम में रहना दुःखमय समझ उसे अपने मामा के यहां भेज दिया ॥६१॥

ततः सपरितोषोऽयं, परिव्राजक—पार्श्वतः।
निकषा स्वपुरं प्राप्य, तदारामे निषण्णवान् ॥६२॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, सपरितोषः = सन्तोषसहित,

अयम्= यह जीवन्धर, परिव्राजकपार्श्वतः = सन्यासियों के पास से, स्वपुरं निकषा = अपने नगर के पास, प्राप्य = पहुँच कर, तदारामे = उसके बगीचे में, निषण्णवान्=ठहर गये ॥६२॥

भावार्थ —जीवन्धरकुमार अपनी माता को मामा के यहाँ पहुंचा कर दण्डकवन मे स्थित उस तपस्वियों के आश्रम से शीघ्र रवाना होकर राजपुरी को गये और उसके निकटवर्ती किसी एक बगीचे मे ठहर गये ॥६२॥

तत्र मित्राण्यवस्थाप्य, व्यहरत्परितः पुरीम् ।
विशृंखला न हि क्वापि, तिष्ठन्तीन्द्रियदन्तिनः ॥६३॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), मित्राणि=मित्रों को, तत्र=वहां पर, (एव=ही), अवस्थाप्य=ठहरा कर, पुरीं परितः = नगरी में चारों तरफ, व्यहरत्=घूमने लगे। नीतिः-हि = क्योंकि, विशृङ्खलाः=बन्धनरहित, इन्द्रियदन्तिनः=इन्द्रियरूपी हाथी, क्व=किसी एक स्थान पर, अपि=ही, न तिष्ठन्ति=स्थिर नहीं रहते ॥६३॥

भावार्थ —जीवन्धर कुमार अपने मित्रो को उस बगीचे मे ही ठहरा कर आप स्वय उस नगरी में इच्छानुसार इधर उधर घूमने लगे। ठीक ही है, क्योंकि-जैसे बन्धनरहित हाथी स्वतन्त्रता से इधर उधर घूमा करता है, उसी प्रकार इन्द्रियो का भी यदि दमन न किया जाय तो वे भी प्राणी को विषयों की ओर प्रवृत्त किया करती हैं। इसीलिये जीवन्धर स्वामी भी इन्द्रियों के वश हो राजपुरी में इधर उधर घूमने लगे ॥६३॥

ततो राजपुरीं वीक्ष्य, सुतरामतृपत्सुधीः ।
ममत्वधीकृतो मोहः, सविशेषो हि देहिनाम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, सुधीः=बुद्धिमान् जीवन्धर, राजपुरीम्=राजपुरी नगरी को, वीक्ष्य = देखकर, सुतराम्=अत्यन्त,

अतृपत् = सन्तुष्ट हुये । नीतिः-हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, ममत्वधीकृतः=ममताबुद्धि से उत्पन्न हुआ, मोह = मोह, सविशेषः= अत्यधिक, (भवति=होता है) ॥६४॥

भावार्थः—"यह वस्तु मेरी है" ऐसी ममता-बुद्धि जिस वस्तु में होती है, उसमें प्राणियों का प्रेम अत्यधिक होता है, इसीलिये जीवन्धरकुमार अपनी जन्मभूमि राजपुरी को देख कर बहुत प्रसन्न हुये ॥६४॥

क्रीडन्ती कापि हर्म्याग्रात्, पातयामास कन्दुकम् ।
संपदामापदां चाप्ति-र्व्याजेनैव हि केनचित् ॥६५॥

अन्वयार्थौ—तत्र=उस नगरी में का = कोई, (अपरिचित कन्या) क्रीडन्ती=खेलती हुई, हर्म्याग्रात्=महल के छज्जे से, कन्दुकम्= गेंद को, पातयामास = गिराती हुई । नीतिः-हि = क्योंकि, सम्पदाम्= सम्पत्तियों को, च = और, आपदाम=आपत्तियों की, आप्तिः = प्राप्ति, केनचित् = किसी, व्याजेन=बहाने से, एव = ही, (भवति=होती है) ॥६५॥

भावार्थ—उस नगरी में खेलती हुई एक अपरिचित युवती कन्या ने अपने महल की छत से नीचे जीवन्धर के सामने एक गेंद गिरा दी । ठीक ही है, क्योंकि सपत्ति या आपत्ति की प्राप्ति किसी न किसी बहाने से ही होती है, तदनुसार जीवन्धर स्वामी को भी कन्यारत्न की प्राप्ति होनी थी, इसीलिये उसकी प्राप्ति में गेंद का नीचे गिरना निमित्तकारण बन गया ॥६५॥

उद्वक्त्रस्तद्वतीं सूत्यां, दृष्ट्वामुह्यदवाह्यधीः ।
वशिनां हि मनोवृत्तिः, स्थान एव हि जायते ॥६६॥

अन्वयार्थौ—अबाह्यधीः = एकाग्रबुद्धि वाले जीवन्धर, उद्वक्त्रः सन् = ऊपर को मुख किये हुये, तद्वतीम् = उस गेंद की स्वामिनी, सूत्याम्=जवान, (ताम्=उस कन्या को), वीक्ष्य = देख कर, अमुह्यत् =

मोहित हो गये। नीतिः-हि = क्योंकि, वशिनाम् = जितेन्द्रिय पुरुषों की, मनोवृत्तिः = मन की प्रवृत्ति, स्थाने = योग्य स्थान में, एव = ही, जायते = होती है ॥६६॥

भावार्थ.—बुद्धिमान् जीवन्धरकुमार ने एकाग्रता से ऊपर की ओर मुख करके उस युवती कन्या को देखा तो वे उस पर मोहित हो गये। ठीक ही है, क्योकि जितेन्द्रिय पुरुषों का मन योग्य वस्तु मे ही झुकता है, इसीलिये जितेन्द्रिय जीवन्धर का भी मन उस कन्या रत्न पर मोहित होकर योग्य विषय मे ही प्रवृत्त हुआ।

तन्मोहादयमध्यास्त, तत्सौधाग्रवितर्दिकाम् ।
अञ्जसा कृतपुण्यानां, न हि वाञ्छापि वञ्चिता ॥६७॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर, तन्मोहात् = उस कन्या के मोह से, तत्सौधाग्रवितर्दिकाम् = उस मकान के आगे के छज्जे पर, अध्यास्त = चढ़ गये। नीतिः-हि = क्योंकि, अञ्जसा = वास्तव में, कृतपुण्यानाम् = पुण्यवानों की, वाञ्छा = इच्छा, अपि = भी, वञ्चिता = निष्फल, न भवति = नहीं होती ॥६७॥

भावार्थ —जीवन्धरकुमार उस कन्या पर मोहित होकर उस मकान के छज्जे परी चढ़ गये। ठीक ही है, क्योकि पुण्यवान् पुरुषों की इच्छा कभी विफल नही होती। इसी कारण पुण्य-शाली जीवन्धर की भी इच्छा विफल न होकर सफलता के ही सम्मुख हुई ॥६७॥

वैश्येशः कोऽपि तं पश्यन्, व्याजह्रे विकसन्मुखः ।
चिरकाङ्क्षितसम्प्राप्त्या, प्रसीदन्ति हि देहिनः ॥६८॥

अन्वयार्थौ—कः = कोई, वैश्येशः = वैश्य श्रेष्ठ, तम् = उस जीवन्धर को, पश्यन् = देखता हुआ, विकसन्मुखः सन् = प्रसन्नमुख होता हुआ, व्याजह्रे = बोला। नीतिः-हि = क्योंकि, देहिनः = प्राणी, चिरकांक्षित-

संप्रात्या = बहुत समय से चाही हुई वस्तु के मिल जाने से, प्रसीदन्ति= प्रसन्न होते हैं ॥६८॥

भावार्थः—बहुत समय से चाहे गये पदार्थ के प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक प्राणी को प्रसन्नता हुआ करती है। इसीलिये अपनी कन्या के लिये चिरकाल से प्रतीक्षित सुयोग्य वर की अनायास ही प्राप्ति हो जाने पर उस सेठ को भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥६८॥

भद्र ! सागरदत्तो ऽहं, भवत्येष ममालयः ।
विमला कमलोद्भूता, सुता सूत्या च साभवत् ॥६९॥

अन्वयार्थौ—भद्र=हे सज्जन, अहम् = मैं, (नाम्ना=नाम से), सागरदत्त =सागरदत्त, (अस्मि=हूँ), एषः=यह, मम = मेरा, आलयः= मकान, अस्ति=है, (च=और, मम=मेरे), कमलोद्भूता=कमला से पैदा हुई, विमला = विमला नामक, सुता=सुपुत्री, अस्ति=है, सा=वह, च=भी, सूत्या=जवान, अभवत् = हो गई है ॥६९॥

भावार्थः—महोदय ! मेरा नाम सागरदत्त है, तथा यह मेरा महल है। मेरी स्त्री का नाम कमला है और उससे उत्पन्न हुई एक विमला नामक कन्या है। वह भी अब विवाह योग्य हो गई है ॥६९॥

रत्नजालमविक्रीतं, विक्रीयेत यदागमे ।
भाविज्ञास्तं पतिं तस्याः, समुत्पत्तावजीगणन् ॥७०॥

अन्वयार्थौ—(मम = मेरा), अविक्रीतम् = नहीं बिका हुआ, रत्नजालम् = रत्नसमूह, यदागमे= जिस मनुष्य के आने पर, [illegible] = बिक जावेगा, तम्=उसी मनुष्य को, तस्याः=उस कन्या की, सु

उत्पत्ति के समय में, भाविज्ञाः=ज्योतिषी, तस्याः=उस कन्या का, पतिम्=स्वामी, अजीगणन्=बतलाते थे ॥७०॥

भावार्थ—जिस समय यह कन्या उत्पन्न हुई थी, उस समय इसके ग्रहों का मिलान कर ज्योतिषियों ने बतलाया था, कि बहुत समय से नहीं बिके हुये तुम्हारे बहुमूल्य रत्न जिस पुण्यात्मा के आने पर अनायास बिक जावेंगे वही इस कन्या का स्वामी होगा ॥७०॥

भवत्यत्र प्रविष्टे च, दृष्टमेतदलं परैः ।
भाग्याधिक! भवानेव, योग्यः परिणयेदिति ॥७१॥

अन्वयार्थौ—च=और, भाग्याधिक=हे महाभाग्य, अत्र=यहां पर, भवति=आपके, प्रविष्टे सति=आने पर, एतत्=यह (रत्नविक्रय), दृष्टम्=देखा जा चुका है, अतएव, परैः=औरों से, अलम्=क्या, योग्यः=सुयोग्य, भवान्=आप, एव=ही, (एनाम्=इस सुपुत्री को), परिणयेत्=वरण कीजिये ॥७१॥

भावार्थः—हे महाभाग्य! बहुत समय से योग्य खरीददार के न आने और पूरी कीमत के न मिलने से अभी तक नहीं बिका हुआ हमारा वह बहुमूल्य रत्नसमूह यहां आपके पधारने पर बिक गया है, इसलिये अब मैं अन्य वर को न खोज कर ज्योतिषियो के कथन के अनुसार अपनी सुपुत्री आपको ही प्रदान करता हूं, आप इसे वरण कीजिये ॥७१॥

तन्निर्बन्धादयं चाभू—दनुमन्ता तथाविधौ ।
वाञ्छितार्थेऽपि कातर्यं, वशिनां न हि दृश्यते ॥७२॥

अन्वयार्थौ—अयम्=यह जीवन्धर, तन्निर्बन्धात्=उस सेठ के आग्रह से, तथाविधौ=उस कार्य में, अनुमन्ता=अनुमतिदाता, अभूत्=हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, वाञ्छितार्थे=इच्छित पदार्थ में,

अपि = भी, वशिनाम्=जितेन्द्रियों की, कातर्यम्=अधीरता, न दृश्यते= नहीं देखी जाती ॥७२॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय मनुष्य इच्छित पदार्थ को पाने में भी विशेष उतावली नही करते, इसीलिये जीवन्धर यद्यपि उस कन्या को स्वय चाहते थे, तो भी वे उसके पाने में विशेष अधीर नही हुये। किन्तु सागरदत्त सेठ ने जब उनसे इसके लिये विशेष आग्रह किया तब इन्होंने भी उस कन्या को वरण करना स्वीकृत किया ॥७२॥

अथ सागरदत्तेन, दत्तां सत्यंधरात्मजः ।
व्यवहाद्विमलां कन्यां, हव्यवाहसमक्षकम् ॥७३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सत्यन्धरात्मजः=सत्यन्धर के सुपुत्र जीवन्धर, सागरदत्तेन = सागरदत्त के द्वारा, दत्ताम् = दी हुई, विमलाम्=विमला नामक, कन्याम् = कन्या को, हव्यवाहसमक्षकम्= अग्नि की साक्षिपूर्वक, व्यवहत्=वरण करते हुये ॥७३॥

भावार्थ—स्वीकृति देने के बाद जीवन्धर स्वामी ने सागरदत्त वैश्य के द्वारा दी गई उस विमला नामक कन्या को विधिपूर्वक अग्नित्रय के समक्ष वरण किया ॥७३॥

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ अपूर्वे नीतिकाव्ये भावार्थदीपिकाटीकायां विमलालम्भो नाम अष्टमो लम्ब समाप्त । ✓X

* अथ नवमो लम्बः *

अथ व्यूढामतिस्निग्धां, गाढस्नेहोऽन्वभूदिमाम् ।
वाञ्छिता यदि वाञ्छेयुः, ससारैव हि संसृतिः ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, गाढस्नेहः=अतिशय प्रेमी जीवन्धर, व्यूढाम्=व्याही हुई, अतिस्निग्धाम्=बहुत स्नेह से युक्त, इमाम्=इस विमला को, अन्वभूत्=अनुभव करने लगे। नीतिः–हि= क्योंकि, यदि=अगर, वाछिताः=इच्छित वस्तुएँ, वाञ्छेयुः=चाहने लगें, (तर्हि=तो), संसृतिः = संसार, ससारा=सारभूत, एव = ही, (स्यात्=हो जाता है) ॥१॥

भावार्थः—यदि अपने द्वारा इच्छित वस्तु स्वय अपने को चाहने लगे, तो बांछक का अहोभाग्य समझना चाहिये, तदनुसार जिस प्रकार जीवन्धर विमला को अधिक चाहते थे उसी प्रकार विमला भी उन्हें अधिक चाहती थी, अतएव दोनो का समय बड़े आनन्द से बीतने लगा ॥१॥

ततोऽनुनीय तां हित्वा, स मित्रैः समगच्छत ।
अन्यरोधि न हि क्वापि, वर्तते वशिनां मनः ॥२॥

अन्वयार्थौ—तत =फिर, स = वे जीवन्धरकुमार, ताम्= उस विमला को, अनुनीय=समझा कर (च=और, तत्र=वहां ही), हित्वा=छोड़कर, मित्रैः=मित्रों से, समगच्छत=आमिले। नीतिः– हि=क्योंकि, वशिनाम्=जितेन्द्रिय पुरुषों का, मनः=मन, क्व=कहीं पर, अपि=भी, अन्यरोधि=दूसरों से रुकने वाला, न वर्तते= नहीं होता है ॥२॥

भावार्थः—जितेन्द्रिय पुरुषो के मन को कोई आकृष्ट या वशीभूत नहीं कर सकता, तदनुसार विमला भी जीवन्धर को अपने मोह में नही फँसा सकी। वे उसे समझा बुझा कर और वही पर छोड़ कर अपने मित्रों से वापिस आ मिले ॥२॥

वरचिह्नं तमालोक्य, बह्वमन्यंत बान्धवाः ।
ऐहिकातिशयप्रीति—रतिमात्रा हि देहिनाम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—बान्धवा =जीवन्धरस्वामी के मित्र, तम् = उन जीवन्धर को, वरचिह्नम् = वर के चिह्नों सहित, आलोक्य = देखकर, बहु = बहुत, अमन्यन्त = आदर करने लगे। नीतिः—हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, ऐहिकातिशयप्रीतिः = इस लोक सम्बन्धी उत्कर्षों में प्रेम, अतिमात्रा=अत्यन्त, (भवति=होता है) ॥३॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी को वर के चिह्नों से विभूषित देख कर उनके मित्रो ने उनका बहुत आदर सत्कार किया। ठीक ही है, क्योंकि इस लोक सम्बन्धी उत्कर्ष के होने पर प्राणियों का प्रेम वृद्धिगत हो ही जाता है, अतएव ऐसे समय में स्वामी के मित्रों का प्रेम बढ़ना उचित ही था ॥३॥

अब्रवीदस्य सोत्प्रासं, बुद्धिषेणो विदूषकः ।
बहुद्वारा हि जीवानां, पराराधन—दीनता ॥४॥

अन्वयार्थौ—(ततः = पीछे, अस्य = इन जीवन्धर का), बुद्धिषेणः=बुद्धिषेण नामक, विदूषकः=विदूषक, सोत्प्रासम्=हँसी पूर्वक, अब्रवीत् = बोला। नीतिः—हि = क्योंकि, जीवानाम् = प्राणियों के, पराराधनदीनता=औरों की सेवा से प्रगट होने वाली दीनता, बहुद्वारा= बहुत प्रकार, भवति=होती है ॥४॥

भावार्थ—पश्चात् जीवन्धर स्वामी के बुद्धिषेण नामक विदूषक ने उनसे मजाक करते हुये निम्नप्रकार कहा। ठीक ही

है, क्योकि ससारी प्राणी आजीविका के निमित्त तरह तरह के साधनों (उपायो) से काम लिया करते है। तदनुसार बुद्धिषेण भी जीवन्धर के पास विदूषक के रूप मे रहकर अपनी आजीविका सम्पन्न किया करता था ॥४॥

सुलभाः खलु दौभाग्या—दन्योपेक्षितकन्यकाः ।
व्यूढायां सुरमञ्जर्यां, पौरोभाग्यं भवेदिति ॥५॥

अन्वयार्थौ—दौर्भाग्यात्=भाग्यहीनता के कारण, अन्योपेक्षितकन्यका =दूसरों के द्वारा विवाह करने से उपेक्षा की गई कन्याएँ, खलु= निश्चय से, सुलभाः=आसानी से प्राप्त करने योग्य, (भवन्ति= होती है)। किन्तु, सुरमञ्जर्याम्=सुरमंजरी के, व्यूढायाम् = व्याहने पर, पौरोभाग्यम्= महाभाग्य, भवेत्= होगा ॥५॥

भावार्थः—विदूपक ने कहा कि जिन कन्याओ के साथ उनकी भाग्य-हीनता के कारण दूसरे महापुरुप विवाह नहीं करना चाहते; उनके साथ तो चाहे जो विवाह कर सकता है। किन्तु पुरुषमात्र का दर्शन तक न करने वाली सुरमंजरी के साथ विवाह करने पर आप विशेप भाग्यवान् कहला सकेंगे ॥५॥

तद्वाक्यादयमुद्वोढु—मवाञ्छीत्तां च मानिनीम् ।
हेतुच्छलोपलम्भेन, जृम्भते हि दुराग्रहः ॥६॥

अन्वयार्थौ—अयम्=यह जीवन्धर, (अपि=भी), तद्वाक्यात्= उस विदूषक के वचन से, ताम्=उस, मानिनीम् = मान करने वाली सुरमंजरी को, उद्वोढुम्= व्याहने के लिये, अवाञ्छीत्= इच्छा करने लगा। नीतिः-हि=क्योंकि, हेतुच्छलोपलम्भेन=बहाने के मिल जाने से, दुराग्रहः = हठ, जृम्भते = बढ़ता है ॥६॥

भावार्थः—उस विदूपक के वचन को सुन कर जीवन्धर

ने भी उस मानिनी सुरमजरी से विवाह करने का निश्चय किया, क्योंकि किसी बहाने के मिल जाने से मनुष्य का दुराग्रह अधिक बढ़ जाता है। तदनुसार विदूषक के वचन से जीवन्धर का दुराग्रह बढ़ना उचित ही था ॥६॥

तत्राप्यौपयिकं भूयो, यक्षमन्त्रं व्यचीचरत् ।
अनापायादुपायाद्धि, वांछितासि मनीषिणाम् ॥७॥

अन्वयार्थौ—भूय = फिर, अयम् = यह जीवन्धरकुमार, इस विषय में, अपि = भी, औपयिकम् = योग्य उपायात्मक, यक्षमन्त्रम् = यक्ष के द्वारा प्रदत्त मंत्र को, व्यचीचरत् = स्मरण करता हुआ। नीतिः–हि = निश्चय से, मनीषिणाम् = बुद्धिमानों के, वांछितासि = इच्छित वस्तु की प्राप्ति, अनपायात् = प्रतिबन्धरहित, उपायात् = उपाय से, (भवति = होती है) ॥७॥

भावार्थ—जीवन्धर ने सुरमंजरी के साथ विवाह करने के लिये निमित्तभूत यक्षेन्द्र द्वारा प्रदत्त 'कामरूप' मत्र का स्मरण किया। ठीक ही है, क्योंकि अमोघ उपायों से ही इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है। इसीलिये जीवन्धर ने अपनी इष्टसिद्धि के हेतु मत्ररूप अमोघ उपाय का आश्रय लिया ॥७॥

वार्धकं तत्र चोपाय—मुपायज्ञोऽयमौहत ।
करुणामात्रपात्रं हि, बाला वृद्धाश्च देहिनाम् ॥८॥

अन्वयार्थौ—च = और, उपायज्ञः = उपाय का जानकार, अयम् = यह जीवन्धर, तत्र = उस विषय में, वार्धकम् = बूढ़े के भेष को, उपायम् = उपायस्वरूप, औहत = सोचता हुआ। नीतिः–हि = क्योंकि, बालाः = बालक, च = और, वृद्धाः = वृद्धजन, देहिनाम् = प्राणियों के, करुणामात्रपात्रम् = दया के पात्र, (भवन्ति = होते हैं) ॥८॥

भावार्थ—बालक और वृद्ध पर प्रायः सभी जन दया

करते हैं। अतएव जीवन्धर ने सुरमजरी को व्याहने के लिये वृद्ध भेप को ही अमोघ उपाय निश्चित किया ॥८॥

वार्धकं तत्क्षणे चास्य, मनुमाहात्म्यतोऽभवत् ।
अनवद्या सती विद्या, फलमूकाऽपि किम्भवेत् ॥९॥

अन्वयार्थौ—मनुमाहात्म्यतः=मंत्र के प्रभाव से, तत्क्षणे=उसी समय, अस्य=इस जीवन्धर के, वार्धकम्=बुड्ढे का रूप, च=भी, अभवत्=हो गया। नीतिः-हि=क्योंकि, अनवद्या=निर्दोष, सती=समीचीन, विद्या=विद्या, अपि=भी, किम्=क्या, फलमूका=फलरहित, भवेत्=होती है ? अपि तु न भवेत्=किन्तु नहीं होती ॥९॥

भावार्थ—'कामरूप' मत्र के प्रभाव से तत्काल ही जीवन्धर का वृद्ध के समान रूप बन गया। ठीक ही है, क्योकि समीचीन विद्या कभी निष्फल नहीं होती। तदनुसार मन्त्रविद्या के बल से जीवन्धर ने भी वृद्ध का भेप तत्काल बना लिया ॥९॥

विजहार पुनश्चायं, वर्षीयान्परितः पुरीम् ।
अन्यैरशंकनीया हि, वृत्ति नीतिज्ञगोचरा ॥१०॥

अन्वयार्थौ—पुनः=पश्चात्, अयम्=यह, वर्षीयान्=अधिक बूढ़ा, पुरीम् परितः=नगरी के चारों ओर, विजहार=घूमने लगा। नीतिः-हि=क्योंकि, नीतिज्ञगोचरा=नीतिज्ञ जनों के द्वारा की गई, वृत्ति=प्रवृत्ति, अन्यैः=दूसरों से, अशंकनीया=शंका करने के अयोग्य, (भवति=होती है) ॥१०॥

भावार्थः—वह बनावटी वृद्ध उस नगरी के चारों तरफ इच्छानुसार घूमने लगा, पर उसके वास्तविक रहस्य का किसी को भी पता नहीं चल सका। ठीक ही है, क्योंकि नीति के जानकारो के व्यवहार में अन्य जन किसी प्रकार की आशका

नही कर सकते हैं, तदनुसार जीवन्धर के बनावटी भेष (वृद्धत्व) को कोई भी नही पहिचान सका ॥१०॥

प्रवयोविप्रवेशं तं, वीक्षमाणा विवेकिनः ।
विषयेषु व्यरज्यन्त, वार्धकं हि विरक्तये ॥११॥

अन्वयार्थौ—प्रवयोविप्रवेषम्=अतिवृद्ध ब्राह्मण के वेष के धारक, तम्=उस मनुष्य को, वीक्षमाणा =देखने वाले, विवेकिनः= विवेकी जन, विषयेषु=इन्द्रियों के विषयों में, व्यरज्यन्त=विरक्त हुये। नीतिः-हि=क्योंकि, वार्धकम्=बुढापा, विरक्तये=वैराग्य पैदा करने के लिये, (भवति= होता है) ॥११॥

भावार्थः—उस ब्राह्मण के वृद्ध पने को देख कर विवेकी दर्शकगण निम्नप्रकार विचार कर इन्द्रियों के विषयो से विरक्त होने लगे। ठीक ही है, क्योंकि बुढ़ापे की हालत को देख कर वैराग्य होता ही है, इसलिये दर्शकगण को उसके वृद्धपने से वैराग्य होना स्वाभाविक बात थी ॥११॥

मक्षिकापक्षतोऽप्यच्छे, मांसाच्छादनचर्मणि ।
लावण्यं भ्रांतिरित्येत—न्मूढेभ्यो वक्ति वार्धकम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—मक्षिकापक्षतः=मक्खियों के पखे से, अपि=भी, अच्छे=स्वच्छ और पतले, मांसाच्छादनचर्मणि=मांस को ढकने वाले चमड़े में, लावण्यम् = सुन्दरता मानना, भ्रान्ति = भ्रम या मूर्खता, (अस्ति=है). एतत=इस बात को, वार्धकम् = बुढ़ापा, मूढेभ्यः=मूर्ख जनों के लिये, वक्ति=सूचित करता है ॥१२॥

भावार्थ—शरीर पर मांस मज्जा और हड्डी आदि को ढकने वाला, मक्खी के पंखे से भी पतला स्वच्छ चमडा लगा हुआ है; जिससे यह शरीर सुन्दर मालूम होता है, किन्तु वृद्धावस्था के आने पर जब वह चमड़ा सिकुड़ जाता है, तब सारी सुन्दरता

नष्ट हो जाती है, मानो वृद्धावस्था विवेकियो को यही सूचित करती है कि शरीर को सुन्दर मानना भ्रम ही है ॥१२॥

प्रतिक्षणविनाशीद—मायुः कायमहो जडाः ।
नैव बुध्यामहे किं तु, कालमेव क्षयात्मकम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अहो=आश्चर्य है, यत्=कि, जडाः=अविवेकी, (वयम्=हम लोग), इदम्=इस, आयु;=आयु को, च=और, कायम्=शरीर को, प्रतिक्षणविनाशि=क्षण क्षण में नष्ट होने वाला, नैव=नहीं, बुध्यामहे=जानते हैं, परन्तु, कालम्=काल को, एव=ही, क्षयात्मकम्=विनश्वर, बुध्यामहे=मानते हैं ॥१३।

भावार्थ—प्रत्येक संसारी जीव की आयु और शरीर क्षण क्षण में नष्ट और परिवर्तित होता जाता है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि हम इस बात को न समझ कर केवल समय को ही क्षणनश्वर मानते हैं। लेकिन वास्तव मे समय (काल) नहीं बीतता है, वह तो अनन्त है। किन्तु उस समय की सहायता से हमारी आयु और शरीर ही क्षण क्षण में नष्ट हो रहे हैं ॥१३॥

हन्त लोको वयस्यन्ते, किमन्यैरपि मातरम् ।
मन्यते न तृणायापि, मृतिः श्लाघ्या हि वार्धकात् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—हन्त=खेद की बात है, (यत्=कि), लोकः=मनुष्य, अन्ते=अंतिम वृद्ध, वयसि=अवस्था में, अन्यैः=और से, किम्=क्या ? मातरम्=माता को, अपि=भी, तृणाय=तृण के समान, अपि=भी, न मन्यते=नहीं मानता । नीतिः-हि=निश्चय से, वार्धकात्=बुढ़ापे से, मृतिः=मर जाना, एव=ही, श्लाघ्या=प्रशंसनीय, (अस्ति=है) ॥१४॥

भावार्थ—बुढ़ापा बडी बला है, इस बुढ़ापे मे और की तो बात ही क्या ? मनुष्य अपने को जीवन देने और

पालने पोषण करने वाली अपनी माता का भी आदर नहीं करते। इसलिये बुढ़ापे से तो मर जाना ही अच्छा है ॥१४॥

इत्याद्यूहं च हास्यं च, जनयन्प्राज्ञबालयोः।
अगारं सुरमंजर्याः, वर्षीयान्पुनरासदत् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(सः = वह), वर्षीयान् = बूढ़ा, प्राज्ञबालयोः = बुद्धिमानों और बालकों के, इत्यादि = पूर्वोक्त, ऊहम् = विचार को, च = और, हास्यम् = हसी को, जनयन् = पैदा करता हुआ, सुरमञ्जर्याः = सुरमंजरी के, अगारम् = घर को, आसदत् = प्राप्त हुआ ॥१५॥

भावार्थ—वह बूढ़ा ब्राह्मण बुद्धिमानो के पूर्वोक्त विचार और बालको के हँसी उत्पन्न करता हुआ सुरमजरी के घर पर जा पहुचा ॥१५॥

पृष्टो दौवारिकस्त्रीभि—राचष्ट फलमागतेः।
कुमारीतीर्थमात्मार्थ, न ह्यसत्यं सतां वचः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—दौवारिकस्त्रीभिः = द्वार पर नियुक्त की गई स्त्रियों के द्वारा, पृष्ट = पूछा गया, सः = वह बूढा, आगतेः = अपने आगमन के, फलम् = कार्य को, आत्मार्थम् = अपने लिये, कुमारीतीर्थम् = कन्यारूप तीर्थ, आचष्ट = बतलाता हुआ। नीतिः- हि = क्योंकि, सताम् = सज्जनों का, वचः = वचन, असत्यम् = झूठ, न भवति = नहीं होता ॥१६॥

भावार्थः—सुरमजरी के यहां द्वार पर पहरा देने वाली स्त्रियो ने उस बूढ़े से पूछा कि आप यहां पर क्यों आये हैं, तब बूढ़े ने उत्तर दिया कि मैं यहां कुमारीतीर्थ (सुरमंजरी रूप पुण्यक्षेत्र) को प्राप्त करने के लिये आया हूं। यह उत्तर वाक्य 'कुमारीतीर्थ' शब्द का वास्तविक रहस्य न जानने से उन स्त्रियो को असम्बद्धसा प्रतीत हुआ तथापि सर्वथा सत्य था ॥१६॥

अहसन्नथ तद्वाक्या—दङ्गना अप्यसंगतात् ।
अविवेकिजनानां हि, सतां वाक्यमसंगतम् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, अङ्गनाः=द्वारपालिनी स्त्रियां, अपि=भी, असंगतात्=असवद्ध, तद्वाक्यात्=उस बूढ़े की बात से, अहसन्=हँसने लगी। नीतिः-हि = क्योंकि, सताम् = सज्जनों का, वाक्यम्=वचन, अविवेकिजनानाम् = अविवेकी जनों के, असङ्गतम्= असवद्ध, प्रतिभासते=मालूम होता है ॥१७॥

भावार्थ—सुरमजरी के द्वार पर नियुक्त सभी स्त्रियां बूढ़े का उत्तर सुनते ही खिलखिला कर हसने लगी, क्योकि उन स्त्रियों ने 'कुमारीतीर्थ' शब्द से किसी तीर्थविशेष का ही नाम समझा था, परन्तु इस नाम से प्रसिद्ध कोई भी तीर्थस्थान वहां कर निकटवर्ती न था। अतएव उपर्युक्त वाक्य को असम्बद्ध या अप्रकृत समझ कर उन स्त्रियो का हँसना स्वाभाविक ही था। नीतिकार कहते हैं कि महापुरुषों के वाक्यों को भले प्रकार न समझने के कारण मूर्खजन उन वचनों को प्रायः असम्बद्ध समझा करते है ॥१७॥

अरुद्ध कृपया ताभि—रगाहिष्ट च तद्गृहम् ।
सर्वथा दग्धबीजाभा, कुतो जीवन्ति निर्घृणाः ॥१८॥

अन्वयार्थो—ताभिः=उन स्त्रियों के द्वारा, कृपया=दया से, अरुद्धः = नहीं रोका गया, सः=वह बूढ़ा तद्गृहम्=उस सुरमजरी के घर में, अगाहिष्ट=घुस गया। नीतिः-हि = क्योंकि, सर्वथा=बिलकुल, निर्घृणाः=दयारहित, अतएव, दग्धबीजाभाः=जले हुये बीज के समान, जीवाः=प्राणी, कुतः=कैसे ? जीवन्ति=जी सकते हैं ॥१८॥

भावार्थ—जब उन स्त्रियो ने उस बूढ़े को भीतर जाने से न रोका, तब वह सुरमंजरी के घर के भीतर चला गया। ठीक

ही है, क्योंकि जैसे जले हुये बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार दयारहित मनुष्य भी कुछ उत्तम कार्य नहीं कर सकते। ऐसे लोग जीते हुये भी मृततुल्य समझे जाते हैं, अतएव उन स्त्रियों ने उस बूढ़े पर दया कर अपने कर्त्तव्य का पालन ही किया ॥१८॥

अभ्यधुः सुरमंजर्याः, सुन्दर्यः सभया इदम्।
सभयस्नेहसामर्थ्याः, स्वाम्यधीना हि किंकराः ॥१९॥

अन्वयार्थौ—सुन्दर्यः = द्वारपालिनी स्त्रियां, सभयाःसत्यः = भयभीत होती हुईं, इदम् = इस वृत्तान्त को, सुरमंजर्याः = सुरमंजरी के, (समक्षम् = सामने), अभ्यधुः = प्रगट करती हुईं। नीतिः—हि = क्योंकि, स्वाम्यधीनाः = मालिक के आधीन प्रवृत्ति करने वाले, किंकराः = नौकर, सभयस्नेहसामर्थ्याः = भय और स्नेह सहित सामर्थ्य रखने वाले, (भवन्ति = होते हैं) ॥१९॥

भावार्थ.—सुरमंजरी के यहां द्वार की रक्षा करने वाली स्त्रियों ने उसके पास जाकर कुछ डरते हुये उस बुड्ढे के इस वृत्तान्त को उससे कह दिया। ठीक ही है, क्योंकि सर्वदा मालिक की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने वाले नौकर लोगों का सामर्थ्य कभी भय से अथवा कभी स्नेह से परिपूर्ण ही प्रायः देखने में आता है। तदनुसार उपर्युक्त स्त्रियों को जब यह प्रतीत हुआ कि, संभवतः यह कार्य सुरमंजरी की इच्छा के अनुरूप न होकर प्रतिकूल ही हुआ है, तब उन पराधीन स्त्रियों की कार्य-शक्ति में भय का संचार हुआ ॥१९॥

पुरुषद्वेषिणी सापि, वर्षीयांसं न्यशामयत्।
भवितव्यानुकूलं हि, सकलं कर्म देहिनाम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—पुरुषद्वेषिणी = पुरुष के दर्शन मात्र से द्वेष

रखने वाली, सा = वह सुरमंजरी, अपि = भी, वर्षीयांसम् = उस बूढ़े को, न्यशामयत् = ठहराती हुई। नीतिः- हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, सकलम् = समस्त, कर्म = कार्य, भवितव्यानुकूलम् = होनहार के अनुसार, (भवति = होता है) ॥२०॥

भावार्थ—वह सुरमंजरी यद्यपि पुरुष मात्र को देखती भी नहीं थी तो भी उसने अपने मकान मे उस बुड्ढे के आने पर जरा भी क्रोध नही किया और उसका आदर किया। ठीक ही है, क्योंकि प्राणियों के समस्त कार्य भवितव्य के अनुसार ही होते हैं इसलिये इन दोनो के भविष्य मे होने वाले प्रेम बन्धन में भी किसी प्रकार की प्रतिकूलता न हुई ॥२०॥

बुभुक्षितं तमालक्ष्य, भोजयामास सा सती।
अन्तस्तत्त्वस्य याथात्म्ये, न हि वेषो नियामक ॥२१॥

अन्वयार्थौ—सा = वह, सती = उत्तम कन्या, तम् = उस वृद्ध को, बुभुक्षितम् = भूखा, आलक्ष्य = समझ कर, भोजयामास = भोजन कराती हुई। नीतिः—हि = निश्चय से, वेषः = बाहिरी भेष, अन्तस्तत्त्वस्य = भीतरी स्वरूप की, याथात्म्ये = यथार्थता के विषय में, नियामकः = निश्चायक, न भवति = नहीं होता ॥२१॥

भावार्थ—कन्या सुरमंजरी ने उस वूढ़े को भूखा जान कर भोजन कराया। ठीक ही है, क्योंकि बाहिरी भेष से भीतरी स्वरूप का परिज्ञान नही हो सकता। तदनुसार सुरमजरी भी उस समय जीवन्धर के कृत्रिम वृद्ध ब्राह्मण के भेप को देख कर यह पता नही चला सकी थी, कि "यह वृद्ध वास्तव में ब्राह्मण नहीं है; किन्तु जीवन्धर है" इसीलिये उसने निःसकोच भाव से उन्हे भोजन भी कराया ॥२१॥

भुक्त्वाथ वार्धकेनेव, सुष्वाप तल्पिमे कृती।
योग्यकालप्रतीक्षा हि, प्रेक्षापूर्वविधायिनः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, कृती = कार्यकुशल वह बूढा, भुक्त्वा=भोजन करके, वार्धकेन=बुढ़ापे के कारण, इव =ही, तल्पिमे = शय्या पर, सुष्वाप = सो गया। नीतिः-हि = क्योंकि, प्रेक्षापूर्वविधायिनः = विचारपूर्वक कार्य करने वाले मनुष्य, योग्यकाल-प्रतीक्षाः = कार्य के अनुकूल समय की बाट जोहने वाले, भवन्ति = होते हैं ॥२२॥

भावार्थः—भोजन करके वह वृद्ध अपनी थकावट को प्रगट करने के लिये शय्या पर सो गया। ठीक ही है, क्योंकि विचारशील मनुष्य मौके को देख कर ही कार्यारम्भ करते हैं, तदनुसार उस वृद्ध ने अभी अपने मन्तव्य का प्रकाशन करना समयोचित नही समझ कर उसे गुप्त ही रखा ॥२२॥

भुवनमोहनं गान—मगासीदथ गानवित्।
परस्परातिशायी हि, मोह पंचेन्द्रियोद्भव ॥२३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गानवित् = गान विद्या का जानकार (वह बूढ़ा), भुवनमोहनम् = जगत् को मोहित करने वाले, गानम् = गान को, अगासीत् = गाने लगा। नीति–हि = क्योंकि, पंचेन्द्रियोद्भवः = पांचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ, मोहः=मोह, परस्परातिशायी = एक दूसरे में अधिकाधिक, (भवति = होता है) ॥२३॥

भावार्थः—शयन के पश्चात् वृद्ध वेषधारी उन जीवन्धर स्वामी ने लोगो के चित्त को मोहित करने वाला सुन्दर गान प्रारंभ किया। ठीक ही है, क्योंकि प्राणियों को प्रायः पाँचों इन्द्रियों के विषयो में एक दूसरे की अपेक्षा अधिकता लिये हुये मोह हुआ करता है। तदनुसार उक्त वृद्ध को भी गान-विद्या में औरो की अपेक्षा अधिक मोह था ॥२३॥

गानकौशलतः सैनं, शक्ति-मन्तममन्यत ।
विशेषज्ञा हि बुध्यन्ते, सदसन्तौ कुतश्चन ॥२४॥

अन्वयार्थौ—सा = वह सुरमंजरी, गानकौशलतः = गाने की चतुराई से, एनम् = इस बुड्ढे को, शक्तिमन्तम् = सर्व कार्यों में निपुण, अमन्यत = समझती हुई। नीति—हि = क्योंकि, विशेषज्ञाः = बुद्धिमान् मनुष्य, कुतश्चन = किसी न किसी कारण से, सदसन्तौ = निपुण और मूर्ख को, बुध्यन्ते = निश्चित कर लेते हैं ॥२४॥

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य विशेष परिचय के विना ही अन्य मनुष्य की विद्वत्ता या मूर्खता का परिज्ञान कर लेते हैं। तदनुसार विदुषी सुरमंजरी ने भी गान की चतुराई से उस बूढ़े की कार्यान्तर में भी निपुणता निश्चित कर ली ॥२४॥

ततः स्वकार्यमप्यस्मात्, सादराभूत्परीक्षितुम् ।
स्वकार्येषु हि तात्पर्यं स्वभावादेव देहिनाम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसलिये, सा = वह सुरमंजरी, अस्मात् = इस बूढ़े से, स्वकार्यम् = अपने कार्य को, अपि = भी, परीक्षतुम् = परीक्षा करने के लिये, सादरा = आदर युक्त, अभूत् = हुई। नीति—हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, स्वकार्येषु = अपने कार्यों में तात्पर्यम् = तत्परता, स्वभावात् = स्वभाव से, एव = ही, (भवति = होती है) ॥२५॥

भावार्थ—उस अश्रुतपूर्व गान के सुनने से जब सुरमंजरी को यह निश्चय हो गया; कि अवश्य ही यह कोई विशेष शक्तिशाली पुरुष है, तब उसने मन ही मन सोचा कि यदि इस महापुरुष से अपनी अभीष्ट-सिद्धि के विषय में कोई प्रश्न किया जाय, तो सम्भव है कि मेरा भी अभीष्ट-कार्य सिद्ध हो जाय। ठीक ही है, क्योंकि प्राणियो के अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि में तत्परता प्रायः स्वभाव से ही हुआ करती है ॥२५॥

गानवच्छक्तिरन्यत्र, किमस्तीत्यन्वयुङ्क्त सा ।
याञ्चायां फलमूकायां, न हि जीवन्ति मानिनः ॥२६॥

अन्वयार्थौ—सा=वह सुरमंजरी, किम्=क्या, गानवत्=गाने के समान, अन्यत्र=और दूसरे कार्यों में, अपि=भी, ते=तुम्हारी, शक्तिः=शक्ति, अस्ति=है, इति=इस प्रकार, (तम्=उस बूढ़े से), अन्वयुंक्तः=पूछती हुई । नीतिः—हि=क्योंकि याञ्चायाम्=याचना के, फलमूकायाम्=निष्फल होने पर, मानिनः=मानीजन, न जीवन्ति=नहीं जीते हैं ॥२६॥

भावार्थः—अपनी याचना के निष्फल होने पर प्राणियो को गहरी हार्दिक चोट पहुंचती है, अतएव प्रार्थनीय मनुष्य से याचना करने के पूर्व अपनी याचना की पूर्ति हो सकने का निश्चय कर लेना सर्वथा आवश्यक है, यही विचार कर सुरमजरी ने उस बूढ़े से पूछा कि "आप गान की निपुणता के समान कार्यान्तरों मे भी निपुणता रखते हैं क्या ?" ॥२६॥

वाढमस्ति समस्ते ऽपी—त्यब्रवीत्प्रौढनैपुणः ।
उक्तिचातुर्यतो दार्ढ्य-मुक्तार्थे हि विशेषत ॥२७॥

अन्वयार्थौ—वाढम् = हाँ, समस्ते=समस्त विषयों में, (मे=मेरे), शक्तिः=निपुणता, अस्ति = है, इति=इस प्रकार, प्रौढनैपुणः=अतिशय निपुण सः = वह वृद्ध, अब्रवीत् = बोला । नीति.—हि=क्योंकि, उक्तिचातुर्यतः = कहने की चतुराई से, उक्तार्थे = कहे हुये पदार्थ के विषय में, विशेषतः = विशेषरूप से, दार्ढ्यम् = दृढ़ता, (भवति=होती है) ॥२७॥

भावार्थ.—सुरमजरी के प्रश्न के उत्तर मे उस वृद्ध ने उत्तर दिया, कि हा; मैं सभी विषयों में यथोचित योग्यता रखता हूँ। यद्यपि सुरमजरी के प्रश्न पर वृद्ध महाशय भी कुछ प्रश्न

उपस्थित कर सकते थे, परन्तु ऐसा करने से अभीष्ट कार्य में बाधा आने की सम्भावना थी, अतएव उन्होने हां रूप सामान्य ही उत्तर दिया। ठीक ही है, क्योकि कहने की चतुरता से पूर्व निश्चित कार्य मे विशेष दृढ़ता हो जाती है, तदनुसार वृद्ध महाशय के चतुरता-पूर्ण उस उत्तर से सुरमञ्जरी को भी उसकी शक्ति का दृढ़ निश्चय हो गया ॥२७॥

अभीप्सितवरप्राप्ता — वुपायं साप्ययाचत ।
रागान्धे हि न जागर्ति, याञ्चादैन्यावितर्कणम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—सा = वह सुरमंजरी, अपि = भी, अभीप्सितवरप्राप्तौ = इच्छित वर की प्राप्ति के विषय में, उपायम् = उपाय को, अयाचत = याचना करने लगी। नीति'—हि = क्योंकि, रागान्धे = प्रेम से अन्ध प्राणी में, याञ्चादैन्यवितर्कणम् = याचना सम्बन्धी दीनता का विचार, न जागर्ति = नहीं होता ॥२८॥

भावार्थः—पश्चात् उस सुरमंजरी ने उस वृद्ध से मेरे इच्छित वर की प्राप्ति कब, कहां और किस प्रकार होगी इत्यादि पूछा। क्योकि प्रेमान्ध जन याचना आदि से प्रगट होने वाली दीनता आदि की भी प्राय; परवाह नहीं करते। तदनुसार सुरमंजरी ने भी उस वूढ़े से ऐसा पूछते हुये लज्जा और अविवेक को ताक में रखते हुये जरा भी संकोच नहीं किया ॥२८॥

कामं कामप्रदं सो ऽ यं, कामदेवमुपादिशत् ।
मनीषितानुकूलं हि, प्रीणयेत्प्राणिनां मनः ॥२९॥

अन्वयार्थौ—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, वृद्धः = बुड्ढा, कामदेवम् = कामदेव को, कामम् = अतिशय रूप, कामप्रदम् = इच्छाओं का पूर्ण करने वाला, उपादिशत् = बतलाता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, मनीषितानुकूलम् = मनोरथ के अनुकूल उपाय का दिखाना, एव = ही,

प्राणिनाम् = जीवों के, मन = मन को, प्रीणयेत् = प्रसन्न करता है ।

भावार्थ.—उस बूढ़े ने उत्तर दिया कि *'कामदेव' की उपासना करने से तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा । नीतिकार कहते हैं, कि इच्छानुकूल उपाय के प्रदर्शन से ही मनुष्यों का चित्त प्रसन्न होता है, तदनुसार उस बूढ़े ने सुरमंजरी को उसकी इच्छानुसार उपाय प्रदर्शित कर प्रसन्न किया ॥२६॥

मनीषितं च हस्तस्थं, मेने सा सुरमञ्जरी ।
मनोरथेन तृप्तानां, मूललब्धौ तु किम्पुनः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—सा = वह सुरमंजरी, मनीषितम् = मनोरथ को, हस्तस्थम् = हाथ में आया हुआ, मेने = मानती हुई । नीतिः–हि = निश्चय से, मनोरथेन = विचारमात्र से, तृप्तानाम् = सन्तुष्ट होने वाले प्राणियों के, मूललब्धौ = मूल वस्तु के मिल जाने पर, पुनः = तो फिर, किम् = कहना ही क्या है ? ॥३०॥

भावार्थः—वह सुरमजरी वृद्ध के द्वारा दिये गये आश्वासन से ही अपने मनोरथ को हस्तगत मानने लगी । नीतिकार का कहना है, कि जो प्राणी नानाप्रकार की मानसिक उमंगों से ही खुश होते हैं, उन्हें कदाचित् इच्छित वस्तु ही मिल जावे तब तो उनकी खुशी का पारावार नहीं रहता ॥३०॥

अनैषीत्तमसौ पश्चात्, कामकोष्ठं यथेप्सितम् ।
विचाररूढकृत्यानां, व्यभिचारः कुतो भवेत् ॥३१॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके बाद, असौ = यह बूढा, ताम् = उस सुरमंजरी को, यथेप्सितम् = पूर्व निश्चित, कामकोष्ठम् = *कामदेव के मन्दिर को, अनैषीत् = ले गया । नीतिः–हि = क्योंकि, विचाररूढ-

* जैनसिद्धान्ते तु—कामस्य काममन्दिरस्य वा सत्ताया अपि स्वीकरणं नास्ति । तत्र कामः = विषयाभिलाष, नातस्तन्मन्दिरमर्हति ।

कृत्यानाम् = विचारपूर्वककार्य करने वालों के, (कार्यसिद्धौ = कार्य की सिद्धि में), व्यभिचारः = प्रतिबन्ध, कुत. = कैसे, भवेत् = हो सकता है ? ॥२१॥

भावार्थ —उपाय निश्चित होने के बाद वह बूढ़ा उस सुरमंजरी को किसी काम-मन्दिर मे ले गया। ठीक ही है, क्योंकि विचारपूर्वक कार्य करने वालो की इच्छापूर्ति होने में कोई रुकावट नही होती। तदनुसार उस बूढ़े ने भी बड़े विचार के साथ उस सुरमंजरी को ऐसा उपाय बतलाया जिससे उसके कार्य की सिद्धि मे जरा भी संदेह नही रहा ॥२१॥

कामं सा प्रार्थयामास, जीवकस्वामिकाम्यया।
'जन्मान्तरानुबन्धौ हि, रागद्वेषौ न नश्यत' ॥२२॥

अन्वयार्थौ—तत्र=उस काममन्दिर में, सा=वह सुरमंजरी, जीवकस्वामिकाम्यया=जीवन्धर स्वामी की चाह से, कामम्=कामदेव से, प्रार्थयामास = प्रार्थना करने लगी। नीतिः–हि = निश्चय से, जन्मान्तरानुबन्धौ=जन्म जन्मान्तर से सम्बद्ध, रागद्वेषौ = राग और द्वेष, न नश्यतः=नष्ट नहीं होते है ॥२२॥

भावार्थः—उस काम-मन्दिर में पहुंच कर सुरमंजरी ने प्रार्थना की, कि हे देव ! आपके प्रसाद से मुझे जीवन्धर पति की प्राप्ति हो। ठीक ही है, क्योंकि जो राग और द्वेष जन्मान्तर से प्राणी के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं, वे प्रायः सहसा नष्ट नही किये जा सकते। तदनुसार सुरमंजरी को भी जीवन्धर के साथ जो अतिशय अनुराग था वह उसके पूर्वजन्म से सम्बन्ध रखता था, अत वह सुरमंजरी के अन्त करण से दूर नही हुआ था ॥२२॥

लब्धो वर इति प्रोक्तं, बुद्धिपेणेन सा सती।
मनोभुवो वचो मेने, 'स्त्रीणां मौढ्यं हि भूषणम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—तदा = तब, सा = वह, सती = उत्तम कन्या सुरमंजरी, त्वया = तूने, वरः = वर, लब्धः=पा लिया, इति = इस प्रकार, बुद्धिषेणेन = बुद्धिषेणनामक विदूषक के द्वारा, प्रोक्तम् = कहे हुये वचन को, मनोभुवः=कामदेव का, वचः=वचन, मेने=समझी। नीतिः–हि=क्योंकि, मौढ्यम्=मूर्खता, स्त्रीणाम्=स्त्रियों का, भूषणम्= भूषण, एव=ही, (अस्ति=है) ॥३३॥

भावार्थः—उस समय जीवन्धर स्वामी का इष्टमित्र बुद्धिषेण नामक विदूषक पहिले से ही काम–मन्दिर मे जाकर छिप गया था। जब सुरमजरी ने वर की प्रार्थना की तब छिपे हुये विदूषक ने कहा कि तुझे वर प्राप्त हो चुका है—अर्थात् तुम्हारा वर यही है जो तुम्हारे साथ है। तब उस भोली सुरमजरी ने भी उस विदूषक के वचन को कामदेव का ही कहा हुआ मान कर 'मूर्खता स्त्रियो का भूषण है,' इस नीति को चरितार्थ किया ॥३३॥

कुमारं दर्शिताकारं, दृष्ट्वा जिह्राय तत्क्षणे ।
मृतकल्पा हि कल्पन्ते, निर्लज्जा निष्कृपा इव ॥३४॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, सा=वह सुरमंजरी, तत्क्षणे=उसी समय, कुमारम्=जीवन्धरकुमार को, दर्शिताकारम्=असली आकार सहित, दृष्ट्वा=देखकर, जिह्राय=लज्जित हो गई। नीतिः–हि= क्योंकि, निर्लज्जा = लज्जारहित प्राणी, निष्कृपाः इव=निर्दय प्राणी की तरह, मृतकल्पाः=मरे हुये के समान, कल्पन्ते=माने जाते हैं ॥३४॥

भावार्थः—उस वचन के सुनते ही जीवन्धर ने अपना भेष बदल लिया। तब उसे जीवन्धर स्वामी जान कर वह सुरमजरी बहुत लज्जित हुई। ठीक ही है, क्योंकि निर्लज्ज मनुष्य दयाहीन जन की तरह मृतक के समान माने जाते हैं। अतएव कुल की मर्यादा को रखने वाली उस सुरमजरी का लज्जित होना उचित ही था ॥३४॥

पतिकृत्येन पत्नीं तां, सुतरां सोऽप्यतोषयत् ।
संसारोऽपि हि सारः स्याद्, दम्पत्योरेककण्ठयोः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—सः = वह जीवन्धर, अपि = भी, पतिकृत्येन = पति के कर्त्तव्य द्वारा, ताम् = उस, पत्नीम् = स्त्री को, सुतराम् = अत्यन्त, अतोषयत् = संतुष्ट करता हुआ। नीतिः—हि = निश्चय से, दम्पत्योः = स्त्री पुरुष के, एककण्ठयोः = एक मन होने पर, संसारः = संसार, अपि = भी, सारः = सारभूत, स्यात् = हो जाता है ॥३५॥

भावार्थः—जीवन्धर ने भी अपना अनुकूल प्रेम प्रगट कर उस सुरमजरी को प्रसन्न किया, अर्थात् सम्बन्धार्थ अपनी अनुकूलता प्रगट की। ठीक ही है, क्योंकि यदि पति पत्नी का एक मन हो तो संसार भी सारभूत मालूम होने लगता है। अतएव सम्बन्ध होने के पूर्व प्रकृत वर वधू ने अपने मन का मिलान किया ॥३५॥

ततः कुवेरदत्तेन, दत्तां तां सुरमञ्जरीम् ।
सुमतेरात्मजां सोऽय—मुपयेमे यथाविधि ॥३६॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह जीवन्धर, कुवेरदत्तेन = कुवेरदत्त के द्वारा, दत्ताम् = दी गई, सुमतेः = सुमति की, आत्मजाम् = सुपुत्री, ताम् = उस, सुरमजरीम् = सुरमंजरी को, यथाविधि = विधिपूर्वक, उपयेमे = व्याहता हुआ ॥३६॥

भावार्थः—दोनों का मन मिल जाने पर कुवेरदत्त के द्वारा प्रदत्त सुमति की सुपुत्री सुरमंजरी को जीवन्धरकुमार ने विधिपूर्वक वरण किया ॥३६॥

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ अपूर्वे नीतिकाव्ये भावार्थदीपिकाटीकायां सुरमंजरीलम्भो नाम नवमो लम्बः समाप्तः ।

अथ दशमो लम्बः

अथ पाणिगृहीतीं तां, बहु मेने बहुप्रियः ।
'बहुयत्नोपलब्धे हि, प्रेमबन्धो विशिष्यते ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, बहुप्रियः = अनेक स्त्रियों के स्वामी (जीवन्धर), पाणिगृहीतीम् = व्याही हुई, ताम् = उस सुरमञ्जरी को, बहु = अधिक, मेने = मानने लगे । नीति-हि = क्योंकि, बहुयत्नोपलब्धे = बहुत प्रयत्न से प्राप्त की हुई, (वस्तुनि = वस्तु में), प्रेमबन्धः = प्रेम का सम्बन्ध, विशिष्यते = विशेषरूप से होता है ॥१॥

भावार्थः—जो वस्तु अधिक कठिनाई से प्राप्त की जाती है; उस पर मनुष्य का प्रायः स्वभाव से ही अधिक प्रेम हो जाता है, यही कारण है कि—जीवन्धर ने सुरमंजरी को बहुत परिश्रम से पाया था, इसीलिये उनकी प्रीति भी उस पर अधिक हुई ॥१॥

कृच्छ्रेणाराध्य तां भूयो, मित्राणां पार्श्वमाश्रितः ।
'स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं, कुलजानां कुतो भवेत् ॥२॥

अन्वयार्थौ—भूयः = फिर (जीवन्धर), ताम् = उस सुरमञ्जरी को, कृच्छ्रेण = बहुत कठिनाई से, आराध्य = समझा कर, मित्राणाम् = मित्रों के, पार्श्वम् = पास, आश्रितः = आये । नीति -हि = क्योंकि, कुलजानाम् = कुलीन स्त्रियों के, स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वम् = अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्ति, कुतः = कैसे, भवेत् = हो सकती है ॥२॥

भावार्थ—कुलीन स्त्रियां अपने स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल प्रवृत्ति कभी नहीं करतीं, इसीलिये जीवन्धर स्वामी

जब सुरमञ्जरी के पास से जाने के लिये तैयार हुये; तब यद्यपि उसे बहुत रंज हुआ तो भी वह जीवन्धर स्वामी के समझाने से शान्त हो गई। इसके बाद जीवन्धर वहां से वापिस होकर अपने मित्रो के पास आगये ॥२॥

सचित्रीयैस्तदा मित्रैः, पित्रोरन्तिकमाययौ।
आत्मदुर्लभमन्येन, सुलभं हि विलोचनम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर), तदा=उस सुरमञ्जरी से विवाह करने के बाद, सचित्रीयैः=आश्चर्य सहित, मित्रैः सह=मित्रों के साथ, पित्रोः=माता पिता के, अन्तिकम्=पास, आययौ=आये। नीतिः-हि=क्योंकि, आत्मदुर्लभम्=अपने लिये कठिन, किन्तु=परन्तु, अन्येन=दूसरे से, सुलभम्=सुलभ, (वस्तु=पदार्थ), विलोचनम्=आश्चर्यजनक, भवति=होता है।

भावार्थः—जिस वस्तु का पाना अपने लिये कठिन होता है, वही वस्तु यदि दूसरे को आसानी से मिल जाय; तो मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। इसी कारण अपने लिये अप्राप्य सुरमञ्जरी का जीवन्धर के द्वारा वरण कर लेने से जीवन्धर के मित्रों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पश्चात् जीवन्धरकुमार उन मित्रो के साथ अपने माता पिता (सुनन्दा और गन्धोत्कट) के पास आये ॥३॥

पित्रोरप्यातिमात्रोऽभूत्, पुत्रस्नेहोऽस्य वीक्षणात्।
कस्यानन्दकरो न स्यात्, कृतान्तास्यादपागतः ॥४॥

अन्वयार्थौ—अस्य=इस जीवन्धरकुमार के, वीक्षणात्=देखने से, पित्रोः=माता पिता के, अपि=भी, अतिमात्रः=अधिक, पुत्रस्नेहः=पुत्रप्रेम, अभूत्=उत्पन्न हुआ। नीति-हि=क्योंकि, कृतान्तास्यात्=काल के मुख से, अपागतः=बचा हुआ, पुत्रः=पुत्र, कस्य=किस के, आनन्दकरः=प्यारा, न भवेत्=नहीं होता ॥४॥

भावार्थ—इस लोक में मनुष्य को जब पुत्रमात्र ही आनन्ददायक होता है, तो फिर काल के मुह से बचे हुये पुत्र के देखने से होने वाले आनन्द का तो कहना ही क्या है? इसी कारण दुष्ट काष्ठाङ्गार के चगुल से बचे हुये सुपुत्र जीवन्धर के देखने से सुनन्दा और गन्धोत्कट के भी अपार आनन्द हुआ ॥४॥

ततो गन्धर्वदत्ता च, गुणमाला च वल्लभे ।
उल्लाघतां क्रमान्नीते, नीतिरेषा हि संसृतौ ॥५॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, (तेन=उस जीवन्धर के द्वारा), गन्धर्वदत्ता=गन्धर्वदत्ता, च=और, गुणमाला=गुणमाला, (इमे=ये), वल्लभे=दोनों स्त्रियां, च = भी, क्रमात्=क्रम से, उल्लाघताम्=प्रसन्नता को, नीते=प्राप्त की गईं। हि = क्योंकि, संसृतौ=संसार में, एषा=यह, नीतिः=नीति, एव=ही, (अस्ति=है) ॥५॥

भावार्थः—माता-पिता से मिलने के बाद उन जीवन्धर ने क्रम से अपनी प्राण-वल्लभा गन्धर्वदत्ता और गुणमाला से मिल कर उन्हे भी सन्तुष्ट किया। क्योकि यथायोग्य गुणों के अनुसार क्रम रखना संसार की नीति ही है। तदनुसार नीतिज्ञ जीवन्धर ने भी सर्व प्रथम अपने महान् उपकारक माता-पिता का दर्शन कर पश्चात् मुख्य-पत्नी गन्धर्वदत्ता और गुणमाला को भी दर्शन देकर उन्हें भी यथोचित प्रेमालाप से आनन्दित किया ॥५॥

अथ गन्धोत्कटेनायं, मन्त्रयित्वा ततो ययौ ।
विधित्सिते ह्यनुत्पन्ने, विरमन्ति न पण्डिताः ॥६॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, अयम् = यह जीवन्धर, गन्धोत्कटेन सह=गन्धोत्कट के साथ, मंत्रयित्वा=सलाह कर, ततः=

उस राजपुरी से, ययौ = चला गया। नीतिः–हि = क्योंकि, पंडिताः = बुद्धिमान् मनुष्य, विधित्सिते = करने के लिये इच्छित, (कार्ये = कार्य के), अनुत्पन्ने = अपूर्ण रहने पर, न विरमन्ति = विश्राम नहीं लेते ॥६॥

भावार्थः—कुछ समय बाद जीवन्धरकुमार राज्य को वापिस लेने के विषय में गन्धोत्कट के साथ सलाह कर उस राजपुरी नगरी से चल दिये। ठीक ही है, क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य अपने इच्छित कार्य के पूर्ण न होने तक कभी विश्राम नहीं लेते, इसीलिये बुद्धिमान् जीवन्धर भी अपने उद्दिष्ट कार्य की सिद्धि के निमित्त शीघ्र ही उस राजपुरी नगरी से प्रस्थान कर अन्यत्र चल दिये ॥६॥

विदेहाख्ये ततो देशे, धरण्यास्तिलकोपमाम् ।
तिलकान्तधरण्याख्यां, राजधानीमशिश्रयत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, (जीवन्धर), विदेहाख्ये = विदेहनामक, देशे = देश में, धरण्याः = पृथिवी के, तिलकोपमाम् = तिलक के समान उत्तम, तिलकान्तधरण्याख्याम् = धरणीतिलकानामक, राजधानीम् = राजधानी को, अशिश्रयत् = प्राप्त हुये ॥७॥

भावार्थ—जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी से रवाना होकर विदेह-देश की धरणीतिलका नामक राजधानी में जा पहुँचे ॥७॥

महितो मातुलेनात्र, विदेहाधिपभूभुजा ।
भागिनेयो महाभागो, मह्यां केन न मह्यते ॥८॥

अन्वयार्थौ—अत्र = इस राजधानी में, (सः = वह जीवन्धर, स्वस्य = अपने) मातुलेन = मामा, विदेहाधिपभूभुजा = विदेह देश के राजा गोविन्दराज के द्वारा, महितः = सत्कृत किया गया। नीतिः—हि = क्योंकि, महाभागः = भाग्यशाली, भागिनेयः = भानजा, मह्याम् =

भूतल पर, केन = किसके द्वारा, न मह्यते = नहीं पूजा जाता ? (किन्तु, सर्वैः = सब के द्वारा, एव = ही, मह्यते = पूजा जाता है) ॥८॥

भावार्थ — लोक में अपने भानजे (बहिन के पुत्र) का सभी विशेष आदर करते हैं, तदनुसार जीवन्धर के मामा विदेहदेश के राजा गोविन्दराज ने भी अपने भानजे जीवन्धर का विशेष आदर किया ॥८॥

आसीद्गोविन्दराजोऽपि, तद्राज्यस्थापनोद्यतः ।
स्वयं परिणतो दन्ती, प्रेरितोऽन्येन किं पुनः ॥९॥

अन्वयार्थौ — गोविन्दराजः = गोविन्दराज, अपि = भी, तद्राज्यस्थापनोद्यतः = जीवन्धर के राज्य के वापिस कराने में प्रयत्नशील, आसीत् = थे। नीतिः-हि = क्योंकि, दन्ती = हाथी, स्वयम् = खुद, (एव = ही), परिणतः = उन्मत्त होकर तिरछे दांतों से प्रहार करने वाला, (भवति = हुआ करता है), पुनः = फिर, अन्येन = दूसरे से, प्रेरितः = चिढ़ाया हुआ, (स्यात् = हो, तर्हि = तो), किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥९॥

भावार्थ — जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी स्वभाव से ही सूंड और तिरछे दांतों से प्रहार करता हुआ वृक्ष आदि के उखाड़ने में तत्पर रहा करता है और फिर यदि किसी से वह चिढ़ा दिया जाय तो उसका क्रोध और भी बढ़ जाता है, इसीलिये वह कभी कभी सघन जंगल के जंगल उखाड़ कर फेंक देता है। उसीप्रकार जो महाराज गोविन्दराज राज्य को पुनः स्थापित करने के लिये स्वयं प्रयत्न शील थे, वे अब जीवन्धर से इस ओर प्रेरित किये जाने पर तो कमर कस कर ही तयार हो गये।

मन्त्रिभिर्मन्त्रशालायां, मन्त्रयामास मन्त्रवित् ।
न ह्यमन्त्रे विनिश्चेयं, निश्चिते च न मन्त्रणम् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—मंत्रवित् = विचारशील (गोविन्दराज), मंत्र-शालायाम्=मंत्रशाला में, मंत्रिभिः सह = मंत्रियों के साथ, मन्त्रयामास= विचार करने लगा। नीतिः-हि=क्योंकि, अमन्त्रम्=विचार किये बिना, (किम्=कोई, अपि=भी, कार्यम्=कार्य), न विनिश्चेयम्=निश्चित नहीं करना चाहिये, तथा निश्चिते=निश्चित हो जाने पर, मंत्रणम्= सलाह, (अपि=भी), न कार्यम्=नहीं करना चाहिये ॥१०॥

भावार्थः—जब तक किसी कार्य मे पर्याप्त विमर्श (विचार) न कर लिया जाय तब तक उस कार्य के करने का निश्चय नहीं करना चाहिये। साथ ही जिस कार्य के करने का समुचित तर्क-वितर्क पूर्वक निश्चय कर लिया गया हो, उस पर बार बार विचार भी न करना चाहिये, क्योकि ऐसा करने से करणीय कार्य के विषय मे उत्तरोत्तर सन्देह बढ़ता जाता है और इस प्रकार अन्त मे वह कार्य प्रायः नष्ट भी हो जाता है। तदनुसार चतुर राजनीतिज्ञ शासक महाराज गोविन्दराज ने 'दुष्ट काष्ठाङ्गार से किस प्रकार अपना राज्य वापिस लिया जाय ?' इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह के साथ एकान्त में विचार किया ॥१०॥

काष्ठाङ्गारस्य संदेशं, सचिवैः शुश्रुवानयम् ।
ज्ञात्वा हि हृदयं शत्रोः, प्रारब्धव्या प्रतिक्रिया ॥११॥

अन्वयार्थौ—अयम्=यह गोविन्दराज, (तत्र=उस मंत्रशाला में), सचिवैः=मंत्रियों के द्वारा, काष्ठाङ्गारस्य=काष्ठाङ्गार के, संदेशम्= वक्ष्यमाण संदेश को, शुश्रुवान् = सुनता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, शत्रोः=शत्रु के, हृदयम्=विचार को, ज्ञात्वा = जानकर, (एव=ही), प्रतिक्रिया=प्रतीकार, प्रारब्धव्या=प्रारम्भ करना चाहिये ॥११॥

भावार्थः—अपने शत्रु के हृदय के विचार को जान कर ही बुद्धिमान् मनुष्य को उसके प्रतीकार का उपाय प्रारम्भ

करना चाहिये, इसीलिये राजा गोविन्दराज ने अपने मंत्रियों से काष्ठाङ्गार के द्वारा भेजे गये निम्नसन्देश को भी सुना ॥११॥

अघेनाहमपख्यातिं, राजघ्ने मदहस्तिनि ।
लब्धवानवबुध्येत, मिथ्येयं तत्त्ववेदिना ॥१२॥

अन्वयार्थौ—राजघ्ने=राजा के घातक, मदहस्तिनि सति = एक मदोन्मत्त हाथी के होने पर, (अपि=भी), अघेन=अशुभ कर्म के उदय से, अहम्=मैं, अपख्यातिम्=अपयश को, लब्धवान्=प्राप्त हुआ, (अस्मि=हूं), (अतएव=इसलिये), तत्त्वेदिना=यथार्थ बात के जानकार आप के द्वारा, इयम्=यह बात, मिथ्या=झूठ, अवबुध्येत = समझना चाहिये ॥१२॥

भावार्थः—काष्ठाङ्गार के द्वारा प्रेषित पत्र में लिखा था, कि "वास्तव में महाराज सत्यन्धर को बगीचे मे क्रीडा करते हुये एक मदोन्मत्त हाथी ने मारा है, किन्तु पापकर्म के उदय से राजा के मारने के कलक का टीका मेरे माथे लगा है। महाराज ! आप वस्तुस्थिति के जानकार हैं, अत· निवेदन है; कि आप जैसे तत्त्वज्ञ पुरुष इस (राजद्रोह विषयिक) समाचार को अवश्य ही गलत समझें" इत्यादि ॥१२॥

निःशल्योऽहं भवाम्येष—भवत्यत्र समागते ।
दुर्जनेऽपि हि सौजन्यं, सुजनैर्यदि संगमः ॥१३॥

अन्वयार्थो—अत्र=यहां, भवति=आपके, समागते=आने पर, एषः = यह अपकीर्ति प्राप्त, अहम्=मैं, निःशल्यः=निश्चिन्त, भवामि=हो जाऊँगा। नीतिः-हि=क्योंकि, यदि=अगर, सुजनैःसह= सज्जनों के साथ, समागम=समागम, (स्यात्=हो, तर्हि=तो), दुर्जने=दुर्जन मनुष्य में, अपि=भी, सौजन्यम्=सज्जनता, (समायाति= आ जाता है) ॥१३॥

भावार्थः—महापुरुषों की संगति से महान् पाप या अपयश भी शीघ्र नष्ट हो जाता है, इसलिये आप हमारे यहां पधारने की कृपा करें; जिससे मेरा राजघातक पने का अपयश शीघ्र दूर हो जाय ॥१३॥

इत्युक्त्या निश्चितोऽराति—रतिसंधित्सुरञ्जसा ।
असतां हि विनम्रत्वं, धनुषामिव भीषणम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, उक्त्या = संदेश से, तैः = उन गोविन्दराज आदि के द्वारा, अरातिः=शत्रु काष्ठाङ्गार, अञ्जसा = निश्चय से, अतिसंधित्सुः = धोका देने का इच्छुक, निश्चितः=निश्चित किया गया। नीतिः-हि = क्योंकि, असताम्=दुर्जनों का, विनम्रत्वम् = नम्र होना, धनुषाम् = धनुषों की, विनम्रत्वम् इव = नम्रता के समान, भीषणम् = भयंकर, (भवति=होता है) ॥१४॥

भावार्थः—जिस प्रकार लक्ष्यवेध करने में तत्पर होने से धनुष की नम्रता खतरनाक होती है, उसी प्रकार दुर्जनों की नम्रता भी परिणाम में भयकर होने से खतरनाक होती है। इसीलिये विचाररूढ़ गोविन्दराज आदि ने काष्ठाङ्गार की नम्रता-प्रदर्शन से उसे शीघ्र धोखा देने का इच्छुक ही निश्चित किया ॥१४॥

विप्रलम्भोत्सुके शत्रौ, कार्यान्धोऽयमतप्यत ।
दुर्जनाग्रे हि सौजन्यं, कर्दमे पतितं पयः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—कार्यान्धः=अपने कार्य में लीन, अयम् = यह (गोविन्दराज), विप्रलम्भोत्सुके = घोखा देने में उत्सुक, शत्रौ = शत्रु काष्ठाङ्गार पर, अतप्यत = बहुत क्रोधित हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, दुर्जनाग्रे = दुष्ट के सामने, सौजन्यम् = सज्जनता, कर्दमे = कीचड़ में, पतितम् = गिरे हुये, पयः इव = दूध के समान, (जायते = होती है ॥१५॥

भावार्थः—दुष्ट के सामने सज्जनता प्रगट करना कीचड़ में दूध डालने के समान व्यर्थ है, ऐसा निश्चय कर गोविन्दराज ने दुष्ट काष्ठाङ्गार के साथ सन्धि न कर युद्ध करना ही उचित समझा ॥१५॥

आहूतास्तेन साकूतं, गच्छामस्तच्छलाद्वयम् ।
इत्युच्चैर्निश्चिकायासौ, वकायन्ते हि जिष्णवः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—तेन = उस काष्ठाङ्गार के द्वारा, साकूतम्=किसी दुष्ट अभिप्राय पूर्वक, आहूताः = बुलाये गये, वयम् = हम लोग, तच्छलात्= इसी निमित्त से, (तत्र = वहां), गच्छाम = चलें, इति = इस प्रकार, असौ = यह गोविन्दराज, उच्चै = अटल, निश्चिकाय = निश्चय करता हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, जिष्णवः = विजय पाने के इच्छुक जन, वकायन्ते=वगुले के समान आचरण करते हैं ॥१६॥

भावार्थ—दुष्ट काष्ठाङ्गार के द्वारा साभिप्रयाय बुलाये जाने पर महाराज गोविन्दराज ने भी इसी छल से राजपुरी जाने का निश्चय कर लिया। ठीक ही है, क्योकि जय-लक्ष्मी के इच्छुक राजा लोगो की प्रवृत्ति ठीक उस बगुले जैसी हुआ करती है, जो बाह्य में ध्यानस्थ एवं शान्त मुद्रा को धारण करता हुआ भी अन्तरङ्ग अभिप्राय केवल मछली की ओर ही रखा करता है। प्रकृत में महाराज गोविन्दराज ने भी इसी प्रकार अन्तरग में काष्टांगार को मार कर जीवन्धर को राज्यतिलक करने का अभिप्राय रख कर भी बाह्य में काष्ठांगार के बुलाने पर सिर्फ मित्रतावश ही राजपुरी जाने का प्रयोजन प्रसिद्ध किया ॥१६॥

काष्ठाङ्गारेण संजातं, सख्यं प्रख्यापयन्नसौ ।
डिण्डिमं ताडयामास, गते वार्ता हि पूर्वगा ॥१७॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गारेण सह=काष्ठाङ्गार के साथ संजातम्=हुई, सख्यम्=मित्रता को प्राख्यापयन्=घोषित करता हुआ, असौ=यह गोविन्दराज डिण्डिमम्=ढिंढोरे को, ताड़यामास=पिटवाता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, वार्ता=वात, गतेः=गमन के, पूर्वगा=पहिले पहुँचने वाली, (भवति=होती है) ॥१७॥

भावार्थ—राजा गोविन्दराज ने ढ़िढ़ोरा पिटवा कर यह घोषणा भी करा दी, कि काष्ठाङ्गार के साथ हमारी मित्रता हो गई है। ठीक ही है, क्योकि समाचार की गति बडी तेज है, यह मनुष्य के पहुंचने से पहिले ही दूर दूर तक पहुंच जाया करता है। इसीलिये गोविन्दराज ने अपने पहुचाने के पूर्व ही अपनी मित्रता के समाचार को काष्ठाङ्गार के पास पहुंचाने का यह उपाय किया ॥१७॥

चातुरङ्गवलं पश्चा—च्चतुरोऽयं न्यशामयत् ।
आलोच्यात्मारिकृत्यानां, प्रावल्यं हि मतो विधिः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=इसके बाद, चतुरः=चतुर, अयम्=यह गोविन्दराज, चातुरङ्गबलम्=चार प्रकार की सेना को, न्यशामयत=तैयार करता हुआ। नीति-हि=क्योंकि, आत्मारिकृत्यानाम्=अपने शत्रु के कार्यों की, प्रावल्यम्=प्रबलता को, आलोच्य=विचार कर, (एव=ही), विधिः=कार्य करना, मतः=उचित माना गया है ॥१८॥

भावार्थः—अपना शत्रु सेना और धन आदिक की अपेक्षा अपने से हीन ही क्यो न हो, फिर भी उसे अपनी अपेक्षा वड़ा और सवल मानने पर ही लाभ हो सकता है। इसीलिये गोविन्दराज ने काष्ठाङ्गार को अपने से वड़ा और वली मान कर उससे विजय पाने के लिये चतुरङ्गसेना तैयार की ॥१८॥

प्रतस्थे चाथ सल्लग्ने, पात्रदानादिपूर्वकम् ।
दानपूजातपः शील–शालिनां किं न सिध्यति ॥१९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके वाद, (गोविन्दराज), सल्लग्ने = शुभ लग्न में पात्रदानादिपूर्वकम् = पात्रदान और पूजा आदि मांगलिक कार्यपूर्वक, (ततः = उस धरणीतिलका नगरी से), प्रतस्थे = रवाना हुये। नीतिः-हि = क्योंकि, दानपूजातप.शीलशालिनाम् = दान; पूजा; तप और शील आदि से विभूषित मनुष्यों का, किम् = क्या, न सिध्यति = सिद्ध नहीं होता ॥१९॥

भावार्थः—निश्चित शुभ मुहूर्त में राजा गोविन्दराज पात्रदान आदि माङ्गलिक कार्य कर काष्ठांगार के पास राजपुरी की ओर रवाना हो गये। ठीक ही है, क्योकि, दान, पूजा तप और शील से विभूषित जनों के सभी काम नियम से सिद्ध हो जाते हैं, इसीलिये गोविन्दराज ने अपने प्रस्थान के पूर्व उक्त मांगलिक कार्य किये ॥१९॥

अथ राजपुरीं प्राप्य, राजा कैश्चित्प्रयाणकैः ।
निकषा तत्पुरीं क्वापि, निषसाद महाबलः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके वाद, महाबलः = विशाल सेना वाला, राजा = राजा गोविन्दराज, कैश्चित् = कुछ, प्रयाणकैः = पड़ाओं से, राजपुरीम् = राजपुरी नगरी को, प्राप्य = पहुँच कर, तत्पुरीं निकषा = उस नगरी के पास, क्व = कहीं पर, निषसाद = ठहर गये ॥२०॥

भावार्थः—राजा गोविन्दराज रास्ते में अनेक पड़ाओं से मार्ग तय कर राजपुरी नगरी को पहुँचे और उसके समीप किसी सुरम्य स्थान में ठहर गये ॥२०॥

प्राभृतं प्राहिणोत्तस्य, काष्ठाङ्गारो मुधा मुहुः।
हन्त कापटिका लोके, बुधायन्ते हि मायया ॥२१॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गारः=काष्ठाङ्गार, तस्य=उस गोविन्दर के, (समीपे = पास), मुधा = व्यर्थ, (एव = ही), मुहुः = वार व प्राभृतम् = भेंट को, प्राहिणोत् = भेजता हुआ, नीतिः—हि = निश्चय हन्त = खेद की बात है, (यत्=कि) लोके=संसार में कापटिकाः=कप मनुष्य मायया = छलकपट से, बुधायन्ते = विद्वानों के सम व्यवहार करते हैं ॥२१॥

भावार्थ.—कपटी जन माया के वशीभूत होकर ब सरल व्यवहार करते हैं, इसीलिये वे भोले मनुष्यों के विश्वा पात्र भी बन जाते हैं। तदनुसार गोविन्दराज का विश्वा पात्र बनने के विचार से काष्टाङ्गार ने भी उनके पास बारब भेंट (डालिया) भेज कर अपनी मिथ्या सरलता प्रगट की ॥२

प्रतिप्राभृतमेतस्मै, प्राहैषीत्स्वामिमातुलः।
आ समीहितनिष्पत्ते-राराध्याः खलु वैरिणः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—स्वामिमातुलः = जीवन्धर स्वामी के माम अपि = भी, एतस्मै = इस काष्ठाङ्गार के लिये, प्रतिप्राभृतम् = भेंट बदले भेंट, प्राहैषीत् = भेजता हुआ। नीतिः—खलु = क्योंकि वैरिणः = शत्रु, आसमीहितनिष्पत्तेः = अपने मनोरथ की सिद्धि पर्यन्त आराध्याः=प्रसन्न करने योग्य, (वरीवर्तन्ते = होते हैं) ॥२२॥

भावार्थः—जब तक अपना मतलब पूर्ण न हो तब त अपने शत्रु को भी प्रसन्न रखना आवश्यक होता है, अतए राजा गोविन्दराज ने भी अपने मतलब को हल करने के लि शत्रु काष्ठाङ्गार को भी प्रसन्न करना उचित समझा। इसीलि उसने भी काष्ठागांर के पास बदले में अनेक बार भें (डालियां) भेजीं ॥२२॥

कन्याशुल्कतया लोके, यन्त्रभेदमघोषयत् ।
उपायप्रष्ठरूढा हि, कार्यनिष्ठानिरङ्कुशाः ॥२३॥

अन्वयार्थौ—(गोविन्दराज), लोके=संसार में, कन्याशुल्कतया=कन्या के मूल्यरूप से, यन्त्रभेदम्=चन्द्रक यन्त्र के भेदन को, अघोषयत्=घोषणा कराता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, उपायप्रष्ठरूढाः=उत्तम उपायों से प्रसिद्ध मनुष्य, कार्यनिष्ठानिरंकुशाः = कार्य को पूर्ण करने में रुकावट रहित, (भवन्ति=होते हैं) ॥२३॥

भावार्थ.—राजपुरी पहुँच कर गोविन्दराज ने देश देशान्तरों में यह घोषणा करा दी, कि जो व्यक्ति चन्द्रक-यन्त्र का भेदन करेगा, उसे मैं अपनी कन्या व्याह दूंगा। ठीक ही है, क्योंकि उत्तम उपायों को जानकार मनुष्यों के कार्य पूर्ण होने में किसी प्रकार का प्रतिवन्ध (रुकावट) नहीं होता, तदनुसार उपाय के जानकार गोविन्दराज को भी अपने कार्य की सिद्धि के लिये यह सुगम उपाय सूझ पड़ा, जो परिणाम में सफल ही हुआ ॥२३॥

धनुर्धराश्च संभूता — स्त्रैवर्णिककुलोद्भवाः ।
आमोहो देहिनामास्था—मस्थानेऽपि हि पातयेत् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(ततः=इसके बाद) त्रैवर्णिककुलोद्भवाः=तीनों वर्णों के कुल में उत्पन्न, धनुर्धराः=धनुर्धारी, (तत्र=वहां पर), संभूताः=इकट्ठ हो गये। नीति.-हि=क्योंकि, आमोहः=थोड़ा भी मोह, देहिनाम्=प्राणियों की, आस्थाम्=प्रवृत्ति या बुद्धि को, अस्थाने=अयोग्य स्थान या कार्य में, अपि=भी, पातयेत्=गिरा देती है ॥२४॥

भावार्थः—थोड़े से भी मोह के होने से मनुष्य अपने हिताहित का विचार नहीं कर पाता, यह बात आगम-प्रसिद्ध और अनेक दृष्टान्तों से अनुभव की हुई है। परन्तु खेद है कि

ऐसा होने पर भी प्राणी अवसर पाकर उस मोह के वशीभूत हो ही जाता है। तदनुसार कन्या की प्राप्ति के मोह से अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने भावी अनादर की चिन्ता न कर उसको वरने की चाह से स्वयवर मण्डप मे आडटे ॥२४॥

ततश्चन्द्रकयन्त्रस्थ — वराहत्रय — भेदने ।
न शेकुश्चापिनः सर्वे, क विद्या पारगामिनी ॥२५॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, सर्वे=समस्त, चापिनः= धनुर्धारी, चन्द्रकयंत्रस्थवराहत्रयभेदने = चन्द्रकयंत्र पर बने हुये तीन सूकरों को वेधने के विषय में, न शेकुः = समर्थ नहीं हुये। नीतिः- हि=क्योंकि, पारगामिनी = परिपूर्ण, विद्या = शिक्षा, क=कहां, (वरीवर्तते=होती हैं ?) ॥२५॥

भावार्थ—परिपूर्ण विद्या सभी में नही होती - विरले में ही हुआ करती है। इसीलिये वहां पर आये हुये स्वल्प-शस्त्र-शिक्षा-सम्पन्न बहुत से धनुधारियो में एक भी व्यक्ति उस चन्द्रक यंत्र पर बने हुये शूकरत्रय को भेदन करने मे समर्थ नही हुआ।

अलातचक्रतः शीघ्रं, चक्रमारुह्य हेलया ।
विव्याध विजयासूनु-र्भानुः किं न तमोहरः ॥२६॥

अन्वयार्थौ—(किन्तु) विजयासूनुः=विजया रानी के सुपुत्र जीवन्धर, हेलया=खिलवाड से, (एव=ही), अलातचक्रतः = अग्निसहित अङ्गारयन्त्र मे, शीघ्रम्=शीघ्र, चक्रम् = उस चन्द्रयंत्र पर, आरुह्य= चढ़ कर, वराहत्रयम् = तीनों सूकरों को, विव्याध = भेदता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, भानुः=सूर्य, तमोहर =अन्धकार का नाशक, न भवति किम्=नहीं होता है क्या ? (किन्तु भवत्येव) ॥२६॥

भावार्थः—जैसे, जिस अन्धकार को अन्य तारे आदि नष्ट नहीं कर सकते, उसे सूर्य तो नष्ट कर ही देता है, उसी

प्रकार जिस वराहत्रय को अन्य धनुर्धारी न भेद सके थे, उसे जीवन्धर ने विना किसी परिश्रम के खिलवाड़ से ही उस चन्द्रक यन्त्र पर चढ़ कर शीघ्रता से एक बाण द्वारा भेद डाला ॥२६॥

अथ गोविन्दराजो ऽपि, राज्ञामित्थमचीकथत् ।
सात्यंधरिरयं हीति, स्थाने हि कृतिनां गिर' ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, गोविन्दराजः=गोविन्दराज, अपि=भी, अयम्=यह, सात्यन्धरि.=सत्यन्धर महाराज का पुत्र, अस्ति=है, इति इत्थम्=इस प्रकार, राज्ञाम्=अन्य राजाओं से, अचीकथत्=कहता हुआ । नीतिः-हि=क्योंकि, कृतिनाम्=बुद्धिमानों के, गिर.=वचन, स्थाने=योग्य स्थान या समय में, एव=ही, (निःसरन्ति=निकलते हैं) ॥२७॥

भावार्थः—बुद्धिमान् मनुष्य सर्वथा उचित स्थान और समय को देख कर ही विशेष बातो को प्रगट किया करते हैं, इसीलिये राजा गोविन्दराज ने भी जीवन्धर के विजय-लाभ के सर्वथा योग्य समय को देख कर उपस्थित सभी राजाओ के समक्ष यह प्रगट कर दिया, कि चन्द्रक यन्त्र में स्थित वराहत्रय का भेदन करने वाला महापुरुष स्वर्गीय महाराज सत्यन्धर का सुपुत्र जीवन्धर है ॥२७॥

राजानो ऽप्येवमस्माभि——रस्मारीत्यभ्यनन्दिषुः ।
आचष्टे हि नरेन्द्रत्व-मालीढादिषु पाटवम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—(तदा=तब), एवम्=इसी प्रकार, अस्माभिः=हम लोगों के द्वारा, अपि=भी, अस्मारि=सम्भावना की गई थी, इति=इस प्रकार, राजानः=अन्य राजा लोग, (अपि=भी) अभ्यनन्दिषुः=तारीफ करने लगे । नीतिः-हि=क्योंकि, आलीढादिषु=आलीढ़, प्रत्यालीढ़; समपाद; वैशाख और मण्डल धनुर्धारियों के इन

अवस्थान भेदों (पैतरों) में, पाटवम्=चातुर्य, (अस्य=इस जीवन्धर के); नरेन्द्रत्वम्=क्षत्रिय पुत्रत्व को, आचष्टे=सूचित करता है ॥२८॥

भावार्थः—महाराज गोविन्दराज द्वारा जीवन्धर का उपर्युक्त परिचय दिये जाने पर सभामण्डप मे स्थित अन्य राजा लोग भी इसकी विशेष प्रशसा करते हुये बोले, कि हे राजन्! इसकी पैतरे वदलने आदि की चतुरता को देखकर हम लोगो ने भी इसके क्षत्रिय-पुत्रत्व का अनुमान कर लिया था। क्योकि अतिशीघ्रता के कारण साधारण पुरुषों की दृष्टि में भी न आने योग्य धनुष की डोरी का चढ़ाना; उस पर वाण का रखना और शीघ्रता से छोड़ना-इत्यादि बातें क्षत्रिय-पुत्र के विना अन्य से प्राय: असम्भव ही होती हैं ॥२८॥

काष्ठाङ्गारः कुमारस्य, वीक्षणात्क्षीणमानसः ।
तच्छ्रुते मृतकल्पोऽय-मनल्पाधिरचिन्तयत् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—कुमारस्य=जीवन्धरकुमार के, वीक्षणात्=देखने से, क्षीणमानस=मन में खेद को प्राप्त हुआ, अयम्=यह, काष्ठाङ्गारः=काष्ठाङ्गार, तच्छ्रुतेः=गोविन्दराज की बात के सुनने से, मृतकल्पः=मरे हुये के समान, अनल्पाधिः=अत्यन्त मानसिक दुःख से दुःखी, (सन्=होता हुआ, एवम्=निम्नप्रकार) अचिन्तयत्=विचार करने लगा ॥२९॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार के दर्शनमात्र से ही जिस काष्ठाङ्गार का मन शङ्कित हो गया था, वह अब गोविन्दराज के द्वारा जीवन्धर के राजपुत्रत्व का परिचय पाकर तो मरे हुये के समान असह्य हार्दिक-पीड़ा का अनुभव करता हुआ निम्न-प्रकार विचार करने लगा ॥२९॥

सात्यंधरौ च सत्यस्मिन्, सद्यो हन्त वयं हताः ।
वीरेण हि मही भोग्या, योग्यतायां च किं पुनः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हन्त = हाय, अस्मिन् = चन्द्रकयन्त्रभेदेक इस कुमार के, सात्यन्धरौ=सत्यन्धर महाराज के सुपुत्र, सति=होने पर, (तु=तो), वयम् = हम लोग, सद्यः = शीघ्र, हता =मारे गये । नीतिः-हि=क्योंकि, मही = पृथिवी, वीरेण = वीर मनुष्य से, भोग्या = भोगने योग्य, (भवति=होती है), पुनः = फिर, योग्यतायाम्=विशेष योग्यता के होने पर, (तु = तो), किं वक्तव्यम्=कहना ही क्या है ? ॥३०॥

भावार्थ—काष्टाङ्गार विचार करने लगा, कि यदि सचमुच ही यह सत्यन्धर महाराज का पुत्र है; तब तो हमे अपने को मरा ही समझना चाहिये । क्योकि पृथिवी स्वभाव से ही वीर पुरुप के भोगने योग्य होती है और फिर उसमे राज्य-शासन करने की विशेप याग्यता के होने पर तो इसमें सदेह भी नहीं रहता । प्रकृत में हम देख रहे हैं—कि दुर्भेद्य चन्द्रक यन्त्र का अनायास ही भेदन करने वाला यह कुमार जैसा, शूर वीर है, उससे भी कही अधिक राज्यसूत्र सचालन करने की योग्यता भी रखता है । अतएव इसके होते हुये हमारा राज्य करना तो असभव है ही, साथ ही अपने जीवित रहने मे भी सन्देह हैं ।३०।

कथमेनं वणिक्पाशं, मथनो ऽप्यवधीत्तदा ।
आत्मनीने विनात्मान—मञ्जसा न हि कश्चन ॥३१॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, मथनः = मथन ने, अपि=भी, एनम् = इस, वणिक्पाशम् = नीच बनिये को, कथम् = कैसे, अवधीत्= मारा था । नीतिः-हि = क्योंकि, आत्मनीने = अपने हितकर कार्य में, आत्मानं विना = अपने विना, कश्चन = कोई दूसरा, अन्जसा=सच्चा, हितः = हितकारी, न स्यात् = नहीं होता ॥३१॥

भावार्थ—मृत्यु-दण्ड की आज्ञा देने पर मेरे साले मथन ने भी इसे जीवित ही छोड़ दिया । मालूम होता है कि

वास्तव मे अपने विना दूसरा कोई भी अपना हितकर कार्य करने वाला नहीं है। यदि ऐसा न होता तो मेरा साला भी मथन मुझे धोखे में रख इसे यों ही जीता छोड़कर मुझे इस घोर संकट में न डालता ॥३१॥

दुराकूतः किमाहूतो, मातुलो ऽस्य मया सुधा।
स्ववधाय हि मूढात्मा, कृत्योत्थापनमिच्छति ॥३२॥

अन्वयार्थौ—मया = मेरे द्वारा, अस्य = इस जीवन्धर का, दुराकूतः=दुष्ट अभिप्राय रखने वाला, मातुलः=मामा, किम् = क्यों, आहूत.=बुलाया गया। नीतिः–हि = निश्चय से, मूढात्मा = मूर्ख मनुष्य, स्ववधाय = अपने नाश के लिये, (स्वयम्), कृत्योत्थापनम् = वेताल (व्यन्तरविशेष) के जगाने को, इच्छति = इच्छा करता है ॥३२॥

भावार्थः—मैंने (काष्ठाङ्गार ने) इस जीवन्धर के मामा दुष्ट गोविन्दराज को भी अपने यहां व्यर्थ बुलाया। ठीक ही है, क्योंकि मनुष्य मूर्खता वश ऐसी अनिष्ट सामग्री को इकट्ठा किया करता है, जो परिणाम में अपने लिये ही हानिकारक सिद्ध होती है। तदनुसार मैंने इस कपटी, दुर्दान्त गोविन्दराज को यहां बुला कर अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी पटकी है (या व्यन्तर बुलाया है)। मैं नही जानता था ? कि यह गोविन्दराज राजद्रोह जनित अपयश को दूर करने के बदले मेरे प्राणों का ही घातक बन कर यहां आवेगा ॥३२॥

गोविन्दराजयुक्तो ऽयं, दुर्दान्तः किं विधित्सति।
मरुत्सखे मरुद्धूते, मह्यां किं वा न दह्यते ॥३३॥

अन्वयार्थौ—गोविन्दराजयुक्तः=गोविन्दराज सहित, अयम्= यह, दुर्दान्तः=कठिनाई से दबाया जा सकने वाला जीवन्धर, किम्= क्या, विधित्सति=करेगा ? । नीतिः–हि = क्योंकि, मरुत्सखे = अग्नि के,

मरुद्धूते सति = हवा से प्रज्वलित होने पर, मह्याम् = पृथ्वी पर, किं वा = कौन कौन वस्तु, न दह्यते = नहीं जलती है, (किन्तु, सर्वं दह्यते) ॥३३॥

भावार्थः—जिस प्रकार अग्नि, वस्तुओं को स्वयं ही जलाती है; और फिर यदि उसे जोरदार हवा भी सहायक मिल जाय तो वह और भी अधिकता से वस्तुओं को भस्म करती है, उसीप्रकार प्रथम तो यह जीवन्धर अकेले ही मुझे राज-पद से च्युत करने को समर्थ है, तो फिर गोविन्दराज के सहायक हो जाने पर कहना ही क्या है ? ॥३३॥

इति चिन्ताकुलं शत्रुं, स्वामिमित्राणि चिक्षिपुः ।
विपदो वीतपुण्यानां, तिष्ठन्त्येव हि पृष्ठतः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—स्वामिमित्राणि = जीवन्धर स्वामी के मित्र, इति = पूर्वोक्त प्रकार, चिन्ताकुलम् = चिंतातुर, शत्रुम् = शत्रु काष्ठाङ्गार को, चिक्षिपुः = भड़काते हुये । नीतिः—हि = क्योंकि, विपदः = आपत्तियाँ, वीतपुण्यानाम् = पुण्यहीन जनों के, पृष्ठतः = पीछे, तिष्ठन्ति एव = लगी ही रहती हैं ॥३४॥

भावार्थः—बेचारा काष्ठाङ्गार इधर तो उपर्युक्त चिन्ता से व्याकुल था और उधर जीवन्धर के मित्रों ने उसे वार वार चिढ़ा कर जले पर नमक छिटकने का काम किया । ठीक ही है, क्योंकि पुण्य के क्षीण होने पर मनुष्य के पीछे विपत्तियां रहा ही करती हैं । प्रकृत में काष्ठाङ्गार का पुण्य अब क्षीण हो चुका था, अतएव उसके भी चारों तरफ से विपत्तियां ही विपत्तियां आने लगीं ॥३४॥

मत्सरी कौरवेणायं, भर्त्सनादयुयुत्सत ।
मत्सराणां हि नोदेति, वस्तुयाथात्म्यचिन्तनम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—मत्सरी = क्रोधी अथवा दूसरे के उत्कर्ष में द्वेष

करने वाला, अयम=यह काष्टाङ्गार, भर्त्सनात्=चिढ़ाने के कारण, कौरवेण सह=कुरुवंशी जीवन्धर के साथ, अयुयुत्सत = युद्ध करने की इच्छा करने लगा। नीति.—हि=क्योंकि, मत्सराणाम्=क्रोधो पुरुषों के, वस्तुयाथात्म्यचिन्तनम्=वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार, न उदेति= नहीं होता है ॥३५॥

भावार्थ—क्रोधी अथवा दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकने वाले जनो के अपने हिताहित का विवेक भी नहीं होता, तदनुसार जीवन्धर के मित्रो द्वारा चिढ़ाये जाने पर काष्टाङ्गार की क्रोधाग्नि भभक उठी थी, अतएव उसने भविष्य मे होने वाले अपने अहित का भी विचार न कर जीवन्धर के साथ युद्ध करने का निश्चय किया ॥३५॥

केचित्कौरवतः केचिद्, वैरितोऽप्यभवन्नृपाः।
'सुजनेतरलोकोऽय—मधुना न हि जायते ॥३६॥

अन्वयार्थौ—(युद्धे=युद्ध में), केचित=कोई, नृपाः = राजा, कौरवतः=जीवन्धर कुमार के पक्ष में, (च=और), केचित् = कोई, वैरित=शत्रु के पक्ष में, अभवन्=हो गये। नीतिः—हि=क्योंकि, अयम्=यह, सुजनेतरलोक =सज्जनों और दुर्जनों का पक्षपाती जन-समुदाय, अधुना=अभी, न जायते = नहीं हुआ है, (किन्तु, पूर्वतः एवागतः=पेश्तर से ही चला आया है) ॥३६॥

भावार्थः—इस ससार में कुछ मनुष्य सज्जनों के और कुछ दुर्जनो के पक्षपाती सदा से होते आये हैं, तदनुसार प्रकृत युद्ध के समय कुछ विशिष्ट राजा तो जीवन्धर के पक्ष में और कुछ निकृष्ट दुर्जन राजा, काष्टाङ्गार के पक्ष में हो गये ॥३६॥

कौरवोऽप्याहवेऽरातिं, लोकान्तरमजीगमत्।
'दुर्बला हि बलिष्ठेन, बाध्यन्ते हन्त संसृतौ ॥३७॥

अन्वयार्थौ—कौरवः=कुरुवंशी जीवन्धर, आहवे = युद्ध में, अरातिम्=शत्रु काष्ठांगार को, लोकान्तरम्=परलोक को, अजीगमत्= पहुँचाता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, हन्त=खेद की बात है, (यत्= कि), संसृतौ=संसार में, दुर्बलाः=दुर्बल प्राणी, बलिष्ठेन=बलवान् प्राणी के द्वारा, बाध्यन्ते=सताये जाते हैं ॥३७॥

भावार्थ—इस लोक में दुर्बल प्राणी बलवानो के द्वारा सताये ही जाते हैं, तदनुसार युद्ध में बलवान् जीवन्धर ने भी निर्बल काष्ठाङ्गार को उसकी दुष्टता के कारण यमलोक पहुंचा दिया ॥३७॥

अथ संग्रामसंरम्भं, कौरवोऽयमवारयत् ।
मुधावधादिभीत्या हि, क्षत्रिया व्रतिनो मताः ॥३८॥

अन्वयार्थौ—अथ=काष्ठाङ्गार के मर जाने के बाद, अयम्= यह, कौरवः=कुरुवंशी जीवन्धर, संग्रामसंरम्भम् = युद्ध के इरादे को, अवारयत्=बंद करता हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, क्षत्रियाः=क्षत्रिय लोग, मुधावधादिभीत्या=निष्प्रयोजन हिंसादिक पांचों पापों के डर से, व्रतिनः=व्रती, मताः=माने गये हैं ॥३८॥

भावार्थ—क्षत्रिय लोग निष्प्रयोजन हिंसादिक पाप नही करते, इसीलिये काष्ठाङ्गार के वध-स्वरूप अपना प्रयोजन हल हो जाने पर विवेकी जीवन्धर ने भी युद्ध बिलकुल रोक दिया ॥३८॥

वीरसूर्विजया जाता, वीरपत्नी च मे सुता ।
इत्युक्त्वा मातुलोऽप्येन—मानन्दादभ्यनन्दयत् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—मे=मेरी, (भगिनी=बहिन), विजया = विजया, वीरसूः = वीरपुत्र को पैदा करने वाली, च=और, सुता=पुत्री वीर-पत्नी=वीर पति वाली, जाता=हुई, इति = इस प्रकार, उक्त्वा = कह कर, मातुलः=मामा गोविन्दराज, अपि=भी, आनन्दात्=खुशी से,

एनम्=इस जीवन्धर को, अभ्यनन्दयत्=प्रशंसित करता हुआ ॥३९॥

भावार्थ —"हे भगिनीसुत! आज आपकी विजय से मेरी वहिन विजया तो वीरमाता और पुत्री वीरभार्या हुई" इस प्रकार कहते हुये मामा गोविन्दराज ने भी खुशी से जीवन्धर का अभिनन्दन किया ॥३९॥

समन्ततः समायाताः, सामन्तास्तं सिषेविरे ।
समौ हि नाट्यसभ्यानां, संपदां च लयोदयौ ॥४०॥

अन्वयार्थौ—समन्ततः=चारों ओर से, समायाताः=आये हुये, सामन्ताः=अपने राज्य से लगे हुये देशों के राजा, तम्=उस जीवन्धर को, सिषेविरे=सेवने लगे। नीतिः-हि=क्योंकि, नाट्यसभ्यानाम्= नाटक के दर्शकों के, सम्पदाम्=सम्पत्तियों की, लयोदयौ=हानि और वृद्धि, समौ=समान, (भवतः=होती हैं) ॥४०॥

भावार्थः—जिस प्रकार नाट्य-सभा के सभ्यों (दर्शकों) के हृदय मे, नाटक में दिखलाये जाने वाले किसी एक के अभ्युदय और दूसरे की हानि को देखते हुये कोई विशेष हर्ष-विषाद नहीं होता; उसीप्रकार उस समय स्वयंवर सभा में आये हुये अन्य सामन्तिक राजा भी जो पहिले काष्ठागार की सेवा करते थे, अब युद्ध में उसके मारे जाने पर जीवन्धर की सेवा करने लगे। उन्हें उस समय युद्ध में एक दूसरे की हानि-वृद्धि को देख कर विशेष हर्ष-विषाद नहीं हुआ ॥४०॥

राजपुर्यामगाच्चाय—मभिषेक्तुं जिनालयम् ।
भगवद्दिव्यसान्निध्ये, निष्प्रत्यूहा हि सिद्धयः ॥४१॥

अन्वयार्थौ—(ततः=इसके बाद), अयम्=यह जीवन्धर स्वामी, राजपुर्याम्=राजपुरी नगरी में, अभिषेक्तुम्=राज्याभिषिक्त होने के लिये, जिनालयम्=जिन मंदिर को, अगात्=गये। नीतिः-हि=क्योंकि,

भगवद्दिव्यसन्निध्ये=देवाधिदेव की पवित्र समीपता होने पर, सिद्धयः= कार्यसिद्धियां, निष्प्रत्यूहा = निर्विघ्न, (जायन्ते=हो जाती हैं) ॥४१॥

भावार्थः—अब जीवन्धरकुमार राज्याभिषिक्त होने के हेतु जिनमदिर गये। ठीक ही है, क्योंकि जिनेन्द्र-देव की समीपता से कार्य-सिद्धि भी निर्विघ्न हो जाती है, इसीलिये जीवन्धर ने राज्याभिषेक की सफलता के लिये जिनालय का शरण लिया ॥४१॥

तावता सन्यधात्तत्र, यक्षो यक्षचरो मुदा ।
फलमेव हि यच्छन्ति, पनसा इव सज्जनाः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तावता=उसी समय, यक्षचरः=पूर्वपर्याय का कुत्ता, यक्ष =सुदर्शन यक्ष, मुदा=हर्ष से, तत्र=वहां, सन्यधात्=आया। नीतिः-हि= क्योंकि, सज्जनाः=सज्जन मनुष्य, पनसाः इव=कटहर के वृक्षों के समान, फलम्=फल को, एव=ही, यच्छन्ति=देते हैं ॥४२॥

भावार्थ.—जिसप्रकार कटहर के वृक्ष अनेक वार विशाल फल देकर औरों का उपकार किया करते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी हमेशा औरों का उपकार ही किया करते है। प्रकृत में भूतपूर्व कुत्ते के जीव उस यक्षेन्द्र ने वार वार जीवन्धर के पास आकर उनका प्रत्युपकार करते हुये अपनी सज्जनता (कृतज्ञता) को प्रमाणित किया ॥४२॥

अथ गोविन्दराजेन, यक्षराजो यथाविधि ।
अभ्यषिञ्चन्महाराज, कौरव गुरुगौरवात् ॥४३॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके वाद, गोविन्दराजेन सह=गोविन्द-राज के साथ, यक्षराजः=यक्षेन्द्र, कौरवम् = कुरुवंशी, महाराजम्= महाराज जीवन्धर को, गुरुगौरवात्=बड़े ठाट बाट से, यथाविधि=विधि-पूर्वक, अभ्यषिंचत्=राज्याभिषिक्त करता हुआ ॥४३॥

भावार्थ.—इसके वाद अभिषेक मण्डप में रत्नमय हिंसासन पर विराजमान जीवन्धर महाराज का यक्षेन्द्र और गोविन्दराज आदिक महानुभावो ने क्षीरसमुद्र के जल से विधिपूर्वक सहर्ष राज्याभिषेक किया ॥४३॥

अयादापृच्छ्य राजेन्द्रं, यक्षेन्द्रोऽपि स्वमन्दिरम् ।
न ह्यसक्त्या तु सापेक्षो, भानुः पद्मविकासने ॥४४॥

अन्वयार्थौ—यक्षेन्द्रः=यक्षेन्द्र, राजेन्द्रम्=महाराज जीवन्धर से, आपृच्छ्य=पूछ कर, स्वमन्दिरम् = अपने स्थान को, अयात=गया । नीतिः-हि=क्योंकि भानुः=सूर्य, पद्मविकासने=कमलों को प्रफुल्लित कर देने पर, (तत्र=उनमें), असक्त्या = आसक्ति से, सापेक्षः=अपेक्षासहित, न भवति=नहीं होता ॥४४॥

भावार्थ.—जैसे सूर्य कमलों को खिलाने के वाद उनसे सम्बन्ध न रख कर अस्ताचल की ओर चला जाता है, उसी प्रकार वह यक्षेन्द्र भी जीवन्धरकुमार का राज्याभिषेक कर और उनसे पूछ कर अपने निवास-स्थान को चला गया गया ॥४४॥

तर्पिताखिललोकोऽस्मात्, सौधाभ्यन्तरमाश्रितः ।
सिंहासनमलंचक्रे, राजसिंहः क्रमागतम् ॥४५॥

अन्वयार्थो—तर्पिताखिललोक =समस्त प्रजा को प्रसन्न करने वाला, राजसिंहः=सिंह के समान तेजस्वी और प्रधान राजा जीवन्धर, अस्मात्=इस जिनालय से, (निर्गत्य=निकलकर), सौधाभ्यन्तरम्=राजमहल को, आश्रित = प्राप्त, (सन्=होता हुआ), क्रमागतम्=कुल परम्परा से आये हुये, सिंहासनम् = राजसिंहासन को, अलंचक्रे = सुशोभित करने लगा ॥४५॥

भावार्थः—सिंह के समान पराक्रमी महाराज जीवन्धर ने उस जिनालय से निकल कर उस समय सब लोगों को यथायोग्य

दानमानादि से सन्तुष्ट करते हुये राजमहल में जाकर वहां पर कुल परम्परा से आये हुये राज्यसिंहासन को सुशोभित किया ॥४५॥

तद्वृत्तान्तवितर्को ऽभू—ल्लोके विस्मयबृंहितः ।
अतर्क्यसंपदापद्भ्यां, विस्मयो हि विशेषतः ॥४६॥

अन्वयार्थो—लोके=संसार में, तद्वृत्तान्तवितर्कः=जीवन्धर के जीवन में घटित घटनाओं का विचार, विस्मयबृंहितः = अधिक आश्चर्य-जनक, अभूत्=हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, अतर्क्यसम्पदापद्भ्याम् = अकस्मात् आने वाली सम्पत्ति और विपत्ति से, विशेषतः=विशेषरूप से, विस्मयः=आश्चर्य, (जायते=होता है) ॥४६॥

भावार्थः—जीवन्धर के इस वृत्तान्त से सब ही लोगों को महान् आश्चर्य हुआ। ठीक ही है, क्योंकि सम्पत्ति या विपत्ति के सहसा आ जाने से, विशेष आश्चर्य होता ही है, इसीलिये जीवन्धर के यकायक राज्यलक्ष्मी के प्राप्त होने से जनता के आश्चर्य होना उचित ही था ॥४६॥

क्व पूज्यं राजपुत्रत्वं, प्रेतावासे क्व वा जनिः ।
क्व वा राज्यपुनःप्राप्ति—रहो कर्मविचित्रता ॥४७॥

अन्वयार्थौ—क्व=कहां तो, पूज्यम्=आदरणीय, राजपुत्रत्वम्=राजकुमार पना, वा=और, क्व=कहां, प्रेतावासे=श्मशान में, जनिः=जन्म लेना, वा=तथा, क्व=कहां, राज्यपुनःप्राप्तिः=फिर से राज्य का मिल जाना, अहो = आश्चर्य है, (यत्=कि, इयम्=यह, एव=ही), कर्मविचित्रता=कर्मों की विचित्रता, (विद्यते=है) ॥४७॥

भावार्थः—राजपुत्र होते हुये भी जीवन्धर का श्मशान भूमि में जन्म लेना, फिर एक साधारण व्यक्ति के यहां पालन-पोषण होना, काष्ठाङ्गार के द्वारा मृत्यु के सन्मुख कराये जाने

पर भी उससे बच कर देश-देशान्तरो में घूमते हुये आदर के साथ कई कन्यारत्नो का प्राप्त होना और अन्त में राजपुरी आकर अपनी राजलक्ष्मी का भी फिर से प्राप्त करना इत्यादि सभी बातों से लोगों को महान् आश्चर्य हुआ। आचार्य कहते हैं कि वास्तव मे यदि कर्मों की विचित्रता पर ध्यान दिया जाय तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है, राजा से रक और रंक से राजा बनाना तो कर्मों का स्वभाव भी है ॥४७॥

पुण्यपापादृते नान्यत्, सुखे दुःखे च कारणम्।
तन्तवो न हि लूतायाः, कूपपातनिरोधिनः ॥४८॥

अन्वयार्थौ—(निश्चय से), पुण्यपापात् ऋते=पुण्य और पाप के विना, सुखे=सुख में, च=और, दुःखे=दुःख में, अन्यत् = और कोई वस्तु कारणम्=कारण, (नास्ति=नहीं होती)। दृष्टान्तः-हि= क्योंकि, लूतायाः=मकड़ी के तंतवः=जाल के तन्तु, कूपपातनिरोधिनः= कुये में गिरने से बचाने वाले, (न सन्ति=नहीं होते) ॥४८॥

भावार्थः—प्राणियों के सुख की प्राप्ति पुण्य से और दुःख की प्राप्ति पाप से होती है, अन्य बाह्य कारणों से नहीं। ठीक ही है, क्योंकि जिसप्रकार कुये में गिरते हुये प्राणी को तुच्छ मकड़ी के जाल के तन्तु बचाने के लिये समर्थ नही होते; किन्तु उसे मजबूत रस्सा या सांकल आदि ही बचा सकते हैं, उसीप्रकार पाप का उदय होने पर कोई भी बाह्य पदार्थ प्राणी को सुखी नही कर सकते, तथा पुण्य का उदय होने पर दुखी भी नही कर सकते। मतलब यह है कि सुख और दुख का अन्तरङ्ग कारण पुण्य और पाप ही हैं; बाह्य सब सामग्री तो निमित्त-मात्र ही हैं ॥४८॥

हत्वा जिघांसुमात्मानं, लेभे राज्यं जिघांसितः।
भाव्यवश्यं भवेदेव, न हि केनापि रुध्यते ॥४९॥

अन्वयार्थौ—जिघांसितः=मारने को इच्छित व्यक्ति, आत्मानम् = अपने को, जिघांसुम् = मारने वाले को, (एव = ही), हत्वा= मार कर, राज्यम्=राज्य को, लेभे=प्राप्त करता हुआ। नीतिः-हि= क्योंकि, भावि=होनहार, अवश्यम् = जरूर, एव = ही, भवेत्=होती है, केन=किसी के द्वारा, अपि=भी, न रुध्यते=नहीं रोकी जा सकती॥४९॥

भावार्थः—काष्ठाङ्गार ने जीवन्धर को मारने की इच्छा की थी, किन्तु इसके विपरीत जीवन्धर ने उसे ही मार डाला और अपना राज्य छीन लिया। ठीक ही है; क्योंकि भविष्य मे जो कुछ भी होने वाला है, वह होकर ही रहता है; किसी से भी टाला नहीं जा सकता। तदनुसार जीवन्धर और काष्ठांगार का शुभाशुभ भवितव्य होकर ही रहा॥४९॥

जिजीविषाप्रपञ्चेन, जातो ऽ यं राजवञ्चकः।
काष्ठाङ्गारोऽपि नष्टोऽभूत्, स्वयं नाशी हि नाशकः॥५०॥

अन्वयार्थौ—जिजीविषाप्रपंचेन=अपने जीने की इच्छा की प्रबलता से, राजवंचक=राजा को धोखा देने वाला, जात=होता हुआ, अयम् = यह, काष्ठाङ्गारः = काष्ठाङ्गार, अपि=भी, नष्टः अभूत् = मारा गया। नीतिः-हि=क्योंकि, (अन्यस्य=और का), नाशकः=नाश करने वाला व्यक्ति, स्वयम् = अपना, नाशी = नाश करने वाला, (भवेत् होता है)॥५०॥

भावार्थ—जिस काष्ठाङ्गार ने राज्य-लिप्सा से प्रेरित होकर अपने स्वामी सत्यन्धर महाराज के साथ षड्यंत्र रच कर उन्हें प्राणों से भी रहित किया था, वह काष्ठाङ्गार स्वयं ही मारा गया। ठीक ही है, क्योंकि जो दूसरे का नाश करना चाहता है; उसका नाश स्वयं हो जाता है, अतएव सत्यन्धर के नाशक काष्ठाङ्गार का भी नाश हो गया॥५०॥

यक्षः क्षणोपकारेण, प्राणदायी बभूव सः।
काष्ठाङ्गारः कृतघ्नोऽभूत्, स्वभावो न हि वार्यते ॥५१॥

अन्वयार्थौ—सः=वह, यक्षः=यक्ष, क्षणोपकारेण=क्षणमात्र के उपकार से, (जीवन्धरस्य=जीवन्धर का), प्राणदायी=प्राणों का रक्षक, बभूव=हुआ, च=और, काष्ठाङ्गारः=काष्ठाङ्गार, (महोपकारे=बहुत उपकार किये जाने पर, अपि=भी), कृतघ्नः=कृतघ्न, अभूत्=हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, (वस्तुनः=वस्तु का), स्वभावः=स्वभाव, न वार्यते=नहीं रोका जा सकता ॥५१॥

भावार्थः—जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है, वह किसी भी प्रकार बदला नहीं जा सकता। तदनुसार सज्जन-स्वभाव वाले यक्ष ने तो मंत्रश्रावणरूप क्षणमात्र के उपकार से जीवन्धर के प्राणों की रक्षा की और इसके प्रतिकूल दुष्ट स्वभाव वाले काष्ठाङ्गार ने विशाल राज्य को भी देकर महान् उपकार करने वाले सत्यन्धर महाराज के प्राणों का घात ही किया ॥५१॥

अपकारोपकाराभ्यां, सदसन्तौ न भेदिनौ।
दग्धं च भाति कल्याणं, केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

अन्वयार्थौ—सदसन्तौ=सज्जन और दुर्जन, अपकारोपकाराभ्याम्=अपकार और उपकार से, भेदिनौ=विपरीत-स्वभाव वाले, न भवतः=नहीं होते, यथा=जैसे, दग्धम्=जला हुआ, च=भी, कल्याणम्=सोना, भाति=शोभायमान होता है, (किन्तु), अङ्गार-विशुद्धता=कोयले की सफेदी, केन=किस वस्तु से, (भवति=होती है? किन्तु, केनापि न=किसी से, नहीं) ॥५२॥

भावार्थः—जैसे स्वर्ण तपाये जाने पर भी अपनी कान्ति और बहुमूल्यता को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार अपना अनिष्ट किये जाने पर भी सज्जन मनुष्य अपनी सज्जनता नहीं छोड़ता।

और जैसे कोयला किसी भी प्रकार से और कभी भी अपनी कालिमा नही छोड़ सकता, उसीप्रकार दुर्जन मनुष्य महान् उपकार पाकर भी अपनी दुर्जनता नहीं छोड़ सकता ॥५२॥

रिक्तारिक्तदशायां च, सदसन्तौ न भेदिनौ ।
खातापि हि नदी दत्ते, पानीयं न पयोनिधिः ॥५३॥

अन्वयार्थौ—रिक्तारिक्तदशायाम् = धनाढ्य और निर्धन अवस्था में, च = भी, सदसन्तौ = सज्जन और दुर्जन, भेदिनौ = विपरीत स्वभाव वाले, (न वरीवर्तेते=नहीं होते), (यथा = जैसे), खाता = खोदी गई, अपि = भी, नदी = नदी, पानीयम् = जल को, दत्ते = देती है, (किन्तु), पयोनिधिः = समुद्र, न = नहीं ॥५३॥

भावार्थः—जैसे नदी सूख जाने पर खोदने से प्यासे पथिकों को मीठा जल देती है, उसीप्रकार सज्जन, निर्धन हो जाने पर भी औरों का यथाशक्ति उपकार ही करते हैं। और जैसे अपरिमित जल को प्राप्त भी समुद्र खारा होने से पथिको को प्यासा ही रखता है, उसीप्रकार दुर्जन धनवान् होने पर भी दूसरों का अपकार ही करता है ॥५३॥

इतीयं किंवदन्ती च, तद्देशे शंवदाप्यभूत् ।
राजन्वती सती भूमिः, कुतो वा न सुखायते ॥५४॥

अन्वयार्थौ—राजन्वती = उत्तम राजा से युक्त, सती = श्रेष्ठ, भूमिः = पृथिवी, कुतः = कैसे, न सुखायते = सुख नहीं देती अर्थात् सब तरह से सुख देती ही है, इति = इस प्रकार, इयम् = यह, किंवदन्ती = जनश्रुति, च अपि = भी, तद्देशे = उस देश में, शंवदा = प्यारी, अभूत् = हुई ॥५४॥

भावार्थ—महाराज जीवन्धर के राज्य प्राप्त करने पर वहां की सारी ही प्रजा रामराज्य जैसे सुख का अनुभव करने

लगी। इसीलिये वहां पर 'राजन्वती सती भूमिः कुतो वा न सुखायते' यह जनश्रुति भी सभी लोगों के मुख से बड़े आनन्द के साथ सुनी जाने लगी ॥५४॥

काष्ठाङ्गारकुटुम्बस्या—प्यनुमेने सुखासिकाम् ।
स्वस्थानेऽपि महाराजो, न ह्यस्थानेऽपि रुट् सताम् ॥५५॥

अन्वयार्थौ—महाराजः = जीवन्धर महाराज, काष्ठाङ्गार-कुटुम्बस्य = काष्ठाङ्गार के कुटुम्ब के, अपि, स्वस्थाने = अपने स्थान में, (एव = ही), सुखासिकाम् = सुखपूर्वक निवास को, अनुमेने = अनुमति देता हुआ। नीतिः–हि = क्योंकि, सताम् = महापुरुषों का, रुट् = क्रोध, अस्थाने = अयोग्य स्थान या जन पर, न भवति = नहीं होता ॥५५॥

भावार्थ—महापुरुष निरपराध प्राणियों पर कभी भी क्रोध नहीं करते, इसीलिये जीवन्धर ने काष्ठाङ्गार के दीन कुटुम्बियों पर क्रोध नहीं किया, किन्तु उन्हे अपने स्थान पर ही रहने दिया ॥५५॥

यौवराज्ये च नन्दाढ्यं, वृद्धं क्षत्रोचिते पदे ।
गन्धोत्कटं च चक्रेऽसौ, लोकवन्द्ये च मातरौ ॥५६॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह जीवन्धर, यौवराज्ये = युवराज पद पर, नन्दाढ्यम् = नन्दाढ्य को, वृद्धक्षत्रोचिते = बूढ़े क्षत्रियों के योग्य, पदे = पद पर, गन्धोत्कटम् = गन्धोत्कट को, च = और, लोकवन्द्ये = लोकपूज्य, पदे = राजमातृ पद पर, मातरौ = दोनों माताओं को, चक्रे = स्थापित करता हुआ ॥५६॥

भावार्थ—राज्य पाने पर जीवन्धर महाराज ने अपने छोटे भाई नन्दाढ्य को युवराज पद से, गन्धोत्कट को राजपितृ पद से और विजया तथा सुनन्दा माता को राजमातृ-पद से विभूषित किया ॥५६॥

अकरामकरोद्धात्रीं, वर्षाणि द्वादशाऽप्ययम् ।
महिषैः क्षुभितं, तोयं, न हि सद्यः प्रसीदति ॥५७॥

अन्वयार्थौ—अयम्=यह जीवन्धर, धात्रीम्=पृथिवी को, द्वादश=बारह, वर्षाणि=वर्ष पर्यन्त, अकराम्=कररहित, अकरोत्=करता हुआ । नीतिः—हि=क्योंकि, महिषैः=भैसाओं से, क्षुभितम्=गँदला किया गया, तोयम्=जल, सद्यः=शीघ्र, न प्रसीदति=स्वच्छ नहीं होता ॥५७॥

भावार्थः—जैसे सरोवर के जिस जल को भैसे गँदला कर देते हैं, वह जल शीघ्र स्वच्छ नहीं होता, उसीप्रकार दुष्ट काष्ठाङ्गार के द्वारा अनुचित कर (टैक्स) ग्रहण आदि से सताये जाने पर प्रजा बहुत दुखी हो गई थी, इसलिये प्रजा में सुख और शान्ति की स्थापना के हेतु दयालु राजा जीवन्धर ने अपने समस्त राज्य मे बारह वर्ष तक टैक्स (कर) लेना माफ कर दिया ॥५७॥

पद्मवक्त्रादिमित्रेभ्यो, यथायोग्यमदात्पदम् ।
अविशेषपरिज्ञाने, न हि लोकोऽनुरज्यते ॥५८॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर-महाराज), पद्मवक्त्रादिमित्रेभ्यः=पद्मास्य आदिक मित्रों के लिये, (अपि=भी), यथायोग्यम्=उचित, पदम्=पद को, अदात् = देता हुआ । नीतिः-हि = क्योंकि, अविशेष-परिज्ञाने = छोटे बड़े सभी को समान मानने पर, लोकः=जन समुदाय, न अनुरज्यते=सन्तुष्ट नहीं रह सकता ॥५८॥

भावार्थः—छोटे बड़े सभी के साथ समान वर्ताव करने वाले को जन-समुदाय अविवेकी समझ उससे असन्तुष्ट हो जाता है; इसीलिये व्यवहार-कुशल जीवन्धर-महाराज ने अपने पद्मास्य आदिक मित्रो तथा राजाओं आदि को उनके योग्य

महामात्र (राजा का मुख्य सहायक) आदि पदों से विभूषित किया ॥५८॥

पद्मादयो ऽपि तद्देव्यः, समागत्य तदाज्ञया ।
तं समीक्ष्य क्षणे आसन्, क्षीणाखिलमनोव्यथाः ॥५९॥

अन्वयार्थौ—पद्मादयः = पद्मा आदिक, तद्देव्यः = उन जीवन्धर की रानियां, तदाज्ञया = उनकी आज्ञा से, समागत्य = आकर, (च = और), तम् = उन जीवन्धर को, समीक्ष्य = देखकर, क्षणे = आनन्द के होने पर या उस समय, क्षीणाखिलमनोव्यथाः = हार्दिक समस्त दुःख रहित, आसन् = हो गईं ॥५९॥

भावार्थः—राज्यासीन होने पर जीवन्धर महाराज ने अपनी पद्मा आदिक स्त्रियों को भी उनके पीहर (पितृगृह) से बुला लिया। तब पद्मा आदिक भी उस विशाल उत्सव के अवसर को पाकर अपने स्वामी का शुभ-दर्शन कर सारा दुख भूल कर बहुत प्रसन्न हुईं ॥५९॥

चिरस्थाय्यपि नष्टं स्याद्, विरुद्धार्थे हि वीक्षिते ।
सन्निधावपि दीपस्य, किं तमिस्रं गुहामुखम् ॥६०॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, चिरस्थायि = चिरकाल से स्थित (वस्तु), अपि = भी, विरुद्धार्थे = विरुद्ध पदार्थ के, वीक्षिते = देखने पर, नष्टम् = नष्ट, स्यात् = हो जाती है। यथा = जैसे, दीपस्य = दीपक की, सन्निधौ = समीपता होने पर, गुहामुखम् = गुफा का मुख, तमिस्रम् = अन्धकार युक्त, भवेत् किम् = होता है क्या? अपि तु न = किन्तु नहीं।

भावार्थः—जैसे गुफा के समीप दीपक लाने पर उसमें कभी भी अन्धकार नहीं रह पाता, उसीप्रकार चिरकाल से स्थित भी पदार्थ, अपने विरुद्ध पदार्थ के समीप आने पर नष्ट हो जाता है। अतएव अपने स्वामी के राज्यलाभ से पद्मा आदिक

रानियों का पूर्वानुभूत वियोगजन्य सारा दुख नष्ट हो गया ॥६०

अथायं नवुतेः पुत्रीं, दत्तां गोविन्दभूभुजा ।
पर्यणैषीन्महाराजः, पार्थिवै विंहितोत्सवः ॥६१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, पार्थिवैः = अन्य राजाओं के द्वारा, विहितोत्सवः = जिसकी राज्य प्राप्ति के विषय में उत्सव मनाया गया है ऐसा, अयम् = यह, महाराजः = जीवन्धर महाराज, गोविन्द-भुभूजा = मामा गोविन्दराज के द्वारा, दत्ताम् = दी गई, नवुते = नवुति की, पुत्रीम् = पुत्री लक्ष्मणा को, यथाविधि = विधिपूर्वक, पर्यणैषीत् = व्याहता हुआ ॥६१॥

भावार्थः—जीवन्धर के राज्य पाने पर अन्य राजाओ ने बहुत उत्सव मनाये। कुछ समय बाद जीवन्धर ने अपनी मामी नवुति और मामा गोविन्दराज की सुपुत्री लक्ष्मणा को आपाक्त-रीति से वरण किया ॥६१॥

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ अपूर्वे नीतिकाव्ये भावार्थदीपिकाटीकायां लक्ष्मणालम्भो नाम दशमो लम्ब. समाप्त. । ~७

अथ एकादशो लम्बः

अथ राजश्रिया लब्ध्वा, लक्ष्मणां मुमुदे कृती ।
चिरकांक्षितलाभे हि, तृप्तिः स्यादातिशायिनी ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, कृती = विद्वान् जीवन्धर, राजश्रिया सह=राज्यलक्ष्मी के साथ, लक्ष्मणाम्=लक्ष्मणा को, लब्ध्वा= पाकर, मुमुदे = प्रसन्न हुआ । नीतिः-हि = क्योंकि, चिरकांक्षितलाभे= बहुत समय से चाही हुई वस्तु की प्राप्ति होने पर, अतिशायिनी = बडी भारी, तृप्तिः=प्रसन्नता, स्यात्=होती है ॥१॥

भावार्थ—सुयोग्य जीवन्धर के पूर्व परम्परागत राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मणा की बहुत समय से चाह थी, अतएव उनके प्राप्त होने पर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई । ठीक ही है, क्योंकि बहुत समय से चाही हुई वस्तु के मिल जाने पर प्रसन्नता होती ही है, तदनुसार उनकी प्राप्ति से जीवन्धर को प्रसन्नता होना उचित ही था ॥१॥

लब्ध्वा राज्यमयं राजा, रेजे सर्वगुणैरपि ।
काचो हि याति वैगुण्यं, गुण्यतां हारगो मणिः ॥२॥

अन्वयार्थौ—अयम्=यह, राजा=राजा, राज्यम्=राज्य को, लब्ध्वा=पाकर, सर्वगुणैः=सब गुणों से, अपि = भी, रेजे = सुशोभित होने लगा । नीतिः-हि = क्योंकि, हारग = हार में पिरोया गया, काच = काच, वैगुण्यम् = निंदा पाने को, याति = प्राप्त होता है । किन्तु, मणिः = मणि, गुण्यताम् = प्रशस्त पने को, एव = ही, याति = प्राप्त होता है ॥२॥

भावार्थः—जिस प्रकार हार में पिरोने पर कांच तो सुशोभित नही होता, किन्तु मणि सुशोभित होता ही है, उसी प्रकार जिस राज्य को पाकर काष्ठांगार ने केवल निन्दा ही पाई थी, उसी राज्य को पाकर जीवन्धर महाराज सर्वगुणसम्पन्न होकर सब लोगो के प्रशंसापात्र बन गये ॥२॥

कृतिनामेकरूपा हि, वृत्तिः सम्पदसंपदोः ।
न हि नादेयतोयेन, तोयधेरस्ति विक्रिया ॥३॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, कृतिनाम् = बुद्धिमानों की, वृत्तिः=प्रवृत्ति, सम्पदसम्पदो = सम्पत्ति और विपत्ति में, एकरूपा= सदृश, भवेत=होती है । नीतिः–हि = क्योंकि, नादेयतोयेन = नदी के जल से, तोयधेः=समुद्र के, विक्रिया=मर्यादा के उल्लंघन करने रूप विकार, न अस्ति=नहीं होता ॥३॥

भावार्थः—जिस प्रकार हजारो नदियो के जल को प्राप्त करके भी समुद्र कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नही करता, उसी प्रकार महान सम्पत्ति या विपत्ति को प्राप्त कर बुद्धिमान् पुरुष भी प्रसन्न या खिन्न नहीं होते, तदनुसार जीवन्धर महाराज राज्यविभूति को पाकर भी गर्वित न हुये ॥३॥

सुखदुःखे प्रजाधीने, तदाभूतां प्रजापतेः ।
प्रजानां जन्मवर्जं हि, सर्वत्र पितरौ नृपाः ॥४॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, प्रजापतेः = राजा के, सुख–दुःखे=सुख और दुःख, प्रजाधीने = प्रजा के अधीन, अभूताम् = हो गये । नीतिः–हि = क्योंकि, नृपाः=राजा, जन्मवर्जम् = जन्म को छोड़ कर, सर्वत्र=सब बातों में, पितरौ=माता पिता, (स्तः=हैं) ॥४॥

भावार्थः—जब जीवन्धर महाराज राजसिंहासनासीन हुये; तब प्रजा के सुख से अपने सुख और प्रजा के दुःख से

तपसा हि समं राज्यं, योगक्षेमप्रपंचतः ।
प्रमादे सत्यधःपाता—दन्यथा च महोदयात् ॥८॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, राज्यम् = राज्य, योग-क्षेमप्रपंचतः = योग और क्षेम के विस्तार से, तपसा समम् = तप के समान, (अस्ति = है, यतः = क्योंकि, (तत्सम्बद्धे = इन तप और राज्य से सम्बन्ध रखने वाले, तत्र = उन योग और क्षेम के विषय में) प्रमादे सति = प्रमाद के होने पर, अधःपातात् = अधःपतन होने से, च = और, अन्यथा = प्रमाद के न होने से, महोदयात् = भारी उत्कर्ष होने से ॥८॥

भावार्थः—जिस प्रकार योग-क्षेम (मन वचन काय की दुष्ट प्रवृत्ति की रक्षा मे सावधान रहने) से साधुजनों का तप वृद्धिगत होकर स्वर्गादिक अभ्युदय की प्राप्ति का कारण होता है, किन्तु इसके विपरीत इन्ही तीनो योगो की रक्षा मे प्रमाद-युक्त होने के कारण तप से भ्रष्ट हो जाने से अधोगति भी प्राप्त होती है, इसी प्रकार योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की हुई वस्तु की रक्षा) में सतत सावधान रहने से राजाओं का राज्य भी समुन्नत और इन्ही दोनो बातो में प्रमादयुक्त रहने से वही राज्य अवनत भी हो जाता है, अतएव राज्य और तप दोनो मे कथञ्चित् समानता है ॥८॥

प्रवुद्धेऽस्मिन्भुवं कृत्स्नां, रक्षत्येकपुरीमिव ।
राजवन्ती च भूरासी—दन्वर्थं रत्नसूरपि ॥९॥

अन्वयार्थौ—प्रबुद्धे = सावधान, अस्मिन् = इस राजा के, कृत्स्नाम् = समस्त, भुवम् = पृथिवी को, एकपुरीम् इव = एक नगरी के समान, रक्षति सति = रक्षा करने पर, राजन्वती = श्रेष्ठ राजा वाली, अपि = भी, भूः = पृथिवी, अन्वर्थम् यथा स्यात्तथा = सार्थक, रत्नसू = रत्नों को पैदा करने वाली, आसीत् = हो गई ॥९॥

भावार्थः—जीवन्धर महाराज सावधान होकर अखिल भूमण्डल पर आसानी से एक नगरी के समान शासन करते थे, अतएव उत्तम राजा से शासित वह पृथिवी भी सार्थक रत्नसू (जीवन्धर जैसे रत्नों की जननी) हो गई थी ॥९॥

एवं विराजमाने ऽस्मिन्, राजराजे महोदये ।
विजया जननी तस्य, विरक्ता संसृतावभूत् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—महोदये=महान् उदय वाले, अस्मिन्=इन, राजराजे=महाराज के, एवम्=पूर्वप्रकार, विराजमाने=सुशोभित होने पर, तस्य=उनकी, जननी=माता, विजया=विजया, संसृतौ = संसार के विषय में, विरक्ता=विरक्त, अभूत्=हुई ॥१०॥

भावार्थः—जब जीवन्धर महाराज अपने राज्य को भली प्रकार सम्हाल करने लगे, तब उनकी माता विजया के ससार से निम्नप्रकार वैराग्य को बढ़ाने वाला विचार उत्पन्न हुआ ॥१०॥

पैतृक — पदमद्राक्ष — मत्रा ऽहं पुत्रपुंगवे ।
कृताः पुरोपकर्त्तारः, कृतकृत्या यथोचितम् ॥११॥

अन्वयार्थौ—अहम्=मैं, अत्र=इस, पुत्रपुंगवे=उत्तमपुत्र में, पैतृकम्=पिता सम्बन्धी, पदम्=पद को, अद्राक्षम् = देख चुकी हूँ, च=और, पुरा=पूर्वकाल में, उपकर्त्तारः=उपकार करने वाले जन, (अपि=भी), यथोचितम्=योग्यता के अनुसार, कृतकृत्याः=सफल, कृताः=कर दिये गये हैं ॥११॥

भावार्थः—मैंने जीते जी अपने सुपुत्र जीवन्धर को राज्याधिकारी (जिसके देखने की इच्छा चिरकाल से थी) देख लिया है और मेरी उस दुखित हालत में जिन पद्मास्य आदि ने मेरा उपकार किया था उनको भी यथायोग्य पद प्रदान

अपने दुःख का अनुभव करने लगे, ठीक ही है, क्योंकि जिस प्रकार सुयोग्य माता-पिता अपनी संतान के सुख-दुःख का ध्यान रख कर उसे सुयोग्य बनाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रजापालक राजा भी संतान-स्थानीय अपनी प्रजा के सुख-दुख का विशेष ध्यान रखकर उसे सुखी एवं सम्पन्न बनाने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। तदनुसार सुयोग्य प्रजावत्सल महाराज जीवन्धर प्रजा के सुख में सुखी और उसके दुःख में दुखी हुये ॥४॥

आसीत्प्रीतिकरं तस्याः करदानं च दानवत् ।
वृषलाः किं न तुष्यन्ति, शालेये वीजवापिनः ॥५॥

अन्वयार्थौ—तस्या = उस प्रजा के, करदानम् = टैक्स देना, च = भी, दानवत् = दान के समान, प्रीतिकरम् = आनन्दजनक, आसीत् = हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि. शालेये = धान के खेत में, वीजवापिनः = बीज बोने वाले, वृपलाः = किसान, किम् = क्या, न तुष्यन्ति = खुश नहीं होते ? किन्तु, (तुष्यन्ति एव = खुश होते ही हैं)।

भावार्थः—जिस प्रकार उपजाऊ भूमि मे बीज को बोने वाले किसान लोग भविष्य मे होने वाली उससे कई गुणी फल-प्राप्ति के निश्चय से प्रसन्न ही होते हैं—बीज की हानि से दुखित नही होते, उसीप्रकार महाराज जीवन्धर की प्रजा उन्हें जमीन वगैरह का टैक्स देकर किंचित् भी दुख का अनुभव नहीं करती थी। इसका कारण यही था कि—उस समय प्रजा को महाराज जीवन्धर के उत्तम शासन को देख कर यह निश्चय हो चुका था कि टैक्स के रूप मे दिया जाने वाला द्रव्य इससे भी अधिक मात्रा में, हमारी ही भलाई में खर्च किया जावेगा ॥५॥

मित्रोदासीनशत्रूणां, विषयेष्वपसर्पतः ।
तदज्ञाने ऽपि तज्ज्ञाना-त्तदेवासीत्प्रतिक्रिया ॥६॥

अन्वयार्थौ—मित्रोदासीनशत्रूणाम् = मित्र, मध्यस्थ और शत्रु स्वरूप, (राज्ञाम् = राजाओं के), विषयेषु = देशों में, तदज्ञाने = उनको स्वयं पता न चलने पर, अपि = भी, अपसर्पत = गुप्तचरों से, तज्ज्ञानात् = उनके वृत्तान्त के ज्ञान से, तदा = उसी समय, एव = ही, प्रतिक्रिया = प्रतिकार, आसीत् = होता था ॥६॥

भावार्थ—जीवन्धर महाराज सुयोग्य गुप्तचरो के द्वारा अपने मित्र, मध्यस्थ और शत्रु स्वरूप राजाओं का सारा वृत्तान्त जानते रहते थे; किन्तु उन राजाओं को इस बात का पता ही नहीं चलता था। इस प्रकार जब कभी किसी राजा को अपने प्रतिकूल समझते थे, तभी उसका उचित प्रतीकार किया करते थे ॥६॥

रात्रिन्दिवविभागेषु, नियतो नियतं व्यधात् ।
कालातिपातमात्रेण, कर्त्तव्यं हि विनश्यति ॥७॥

अन्वयार्थौ—नियतः = नियमपूर्वक कार्य करने वाले, (जीवन्धर महाराज), रात्रिंदिवविभागेषु = दिन और रात्रि के विभागों में, नियतम् = निश्चित कार्य को, व्यधात् = करते थे। नीतिः-हि = क्योंकि, कालातिपातमात्रेण = कार्योचित समय के निकल जाने से, कर्त्तव्यम् = करने योग्य कार्य, विनश्यति = विगड़ जाता है ॥७॥

भावार्थ—कार्य के योग्य समय के निकल जाने पर प्रायः या तो कार्य सिद्ध ही नहीं होता या बिगड़ जाता है। अतएव विद्वान् जीवन्धर महाराज अपने प्रत्येक कार्य को राजनीति में बतलाये गये समय-विभाग के अनुसार ही किया करते थे ॥७॥

तपसा हि समं राज्यं, योगक्षेमप्रपंचतः ।
प्रमादे सत्यधःपाता—दन्यथा च महोदयात् ॥८॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, राज्यम् = राज्य, योगक्षेमप्रपंचतः = योग और क्षेम के विस्तार से, तपसा समम् = तप के समान, (अस्ति = है, यतः = क्योंकि, (तत्सम्बद्धे = उन तप और राज्य से सम्बन्ध रखने वाले, तत्र = उन योग और क्षेम के विषय में) प्रमादे सति = प्रमाद के होने पर, अधःपातात् = अधःपतन होने से, च = और, अन्यथा = प्रमाद के न होने से, महोदयात् = भारी उत्कर्ष होने से ॥८॥

भावार्थः—जिस प्रकार योग-क्षेम (मन वचन काय की दुष्ट प्रवृत्ति की रक्षा मे सावधान रहने) से साधुजनों का तप वृद्धिगत होकर स्वर्गादिक अभ्युदय की प्राप्ति का कारण होता है, किन्तु इसके विपरीत इन्ही तीनो योगो की रक्षा मे प्रमाद-युक्त होने के कारण तप से भ्रष्ट हो जाने से अधोगति भी प्राप्त होती है, इसी प्रकार योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की हुई वस्तु की रक्षा) में सतत सावधान रहने से राजाओ का राज्य भी समुन्नत और इन्ही दोनो बातो में प्रमादयुक्त रहने से वही राज्य अवनत भी हो जाता है, अतएव राज्य और तप दोनो मे कथचित् समानता है ॥८॥

प्रवुद्धे ऽस्मिन्भुवं कृत्स्नां, रक्षत्येकपुरीमिव ।
राजन्वती च भूरासी—दन्वर्थं रत्नसूरपि ॥९॥

अन्वयार्थौ—प्रवुद्धे = सावधान, अस्मिन् = इस राजा के, कृत्स्नाम् = समस्त, भुवम् = पृथिवी को, एकपुरीम् इव = एक नगरी के समान, रक्षति सति = रक्षा करने पर, राजन्वती = श्रेष्ठ राजा वाली, अपि = भी, भूः = पृथिवी, अन्वर्थम् यथा स्यात्तथा = सार्थक, रत्नसू = रत्नों को पैदा करने वाली, आसीत् = हो गई ॥९॥

भावार्थः—जीवन्धर महाराज सावधान होकर अखिल भूमण्डल पर आसानी से एक नगरी के समान शासन करते थे, अतएव उत्तम राजा से शासित वह पृथिवी भी सार्थक रत्नसू (जीवन्धर जैसे रत्नों की जननी) हो गई थी ॥९॥

एवं विराजमाने ऽस्मिन्, राजराजे महोदये ।
विजया जननी तस्य, विरक्ता संसृतावभूत् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—महोदये=महान् उदय वाले, अस्मिन्=इन, राजराजे=महाराज के, एवम्=पूर्वप्रकार, विराजमाने=सुशोभित होने पर, तस्य=उनकी, जननी=माता, विजया=विजया, संसृतौ = संसार के विषय में, विरक्ता=विरक्त, अभूत्=हुई ॥१०॥

भावार्थः—जब जीवन्धर महाराज अपने राज्य की भली प्रकार सम्हाल करने लगे, तब उनकी माता विजया के ससार से निम्नप्रकार वैराग्य को बढ़ाने वाला विचार उत्पन्न हुआ ॥१०॥

पैतृक — पदमद्राक्ष — मत्रा ऽहं पुत्रपुंगवे ।
कृता. पुरोपकर्त्तार', कृतकृत्या यथोचितम् ॥११॥

अन्वयार्थौ—अहम्=मैं, अत्र=इस, पुत्रपुंगवे=उत्तमपुत्र में, पैतृकम्=पिता सम्बन्धी, पदम्=पद को, अद्राक्षम् = देख चुकी हूँ, च=और, पुरा=पूर्वकाल में, उपकर्त्तारः=उपकार करने वाले जन, (अपि=भी), यथोचितम्=योग्यता के अनुसार, कृतकृत्याः=सफल, कृताः=कर दिये गये हैं ॥११॥

भावार्थः—मैंने जीते जी अपने सुपुत्र जीवन्धर को राज्याधिकारी (जिसके देखने को इच्छा चिरकाल से थी) देख लिया है और मेरी उस दुखित हालत में जिन पद्मास्य आदि ने मेरा उपकार किया था उनको भी यथायोग्य पद प्रदान

कराकर मैं उऋण हो चुकी हूँ। इस प्रकार अब मैं सर्वथा निश्चिन्त हूं ॥११॥

फलं च पुण्यपापानां, मया मय्येव वीक्षितम् ।
शास्त्रादृते किमन्यत्र, कर्मपाकोऽयमीक्ष्यते ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(इसके अतिरिक्त), मया = मैंने, पुण्यपापानाम् = पुण्य और पाप का, फलम् = फल, (च = भी), मयि = अपने में, एव = ही, शास्त्रात् ऋते = शास्त्रों के श्रवण या पठन के विना, एव = ही, वीक्षितम् = देख लिया है। (पुनः = फिर), अयम् = यह कर्मपाकः = कर्मों का फल, अन्यत्र = अन्य प्राणी में, किम् ईक्ष्यते = क्यों देखा जाता है? ॥१२॥

भावार्थः—जब मैंने शास्त्रों के अध्ययन और श्रवण के विना ही कर्मों का शुभाशुभ फल अपने में ही प्रत्यक्ष देख लिया है, तब मैं उस कर्मफल को दूसरे प्राणी में क्यों देखूँ और क्यों सुनूं? बस अब तो इससे सम्बन्ध छोड़ने की ही चेष्टा करना चाहिये ॥१२॥

अतोऽपास्य सुतस्नेहं, तपस्यामि यथोचितम् ।
ज्ञात्वापि कुण्डपातोऽयं, कुत्सितानां हि चेष्टितम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अतः = इसलिये, सुतस्नेहम् = पुत्र सम्बन्धी प्रेम को, अपास्य = छोड़ कर, यथोचितम् = यथायोग्य, तपस्यामि = तप करूंगी। हि = क्योंकि, ज्ञात्वा = जान कर, अपि = भी, कुण्डपात = जलाशय या अग्निकुण्ड में गिरना, कुत्सितानाम् = नीचों का, चेष्टितम् = काम, (अस्ति = है) ॥१३॥

भावार्थः—इसलिये अब मैं पुत्र-प्रेम का परित्याग कर यथोचित विधि से तपश्चर्या करूंगी क्योंकि जैसे जान बूझ कर जलाशय या अग्निकुण्ड में गिरना बुद्धिमत्ता नहीं, उसी प्रकार

शुभाशुभ कर्मफल के चक्रस्वरूप गड्ढे में मुझे भी पड़ा रहना उचित नहीं। विजया ने इसप्रकार वैराग्यमय भावना भाई ॥१३॥

इति वैराग्यतस्तस्याः, सुनन्दाऽपि व्यरज्यत।
"पाके हि पुण्यपापानां, भवेद्बाह्यं च कारणम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, तस्याः=उस विजया रानी के, वैराग्यतः=वैराग्य होने पर, (सप्तम्यर्थेऽत्र तसिल्), सुनन्दा=सुनन्दा, अपि=भी, व्यरज्यत=विरक्त हो गई। नीतिः-हि=क्योंकि, पुण्यपापानाम्=पुण्य और पाप के, पाके=उदय आने में, बाह्यम्=बाह्य वस्तु, च=भी, कारणम्=निमित्त, भवेत्=होती है ॥१४॥

भावार्थः—विजया रानी के विरक्त होजाने पर गन्धोत्कट सेठ की स्त्री सुनन्दा भी संसार से विरक्त हो गई। ठीक ही है, क्योंकि पुण्य और पाप के उदय आने में कोई न कोई बाह्य कारण भी प्रायः अवश्य हुआ करता है, तदनुसार सुनन्दा के वैराग्य रूप पुण्य (पवित्र) कार्य में भी विजया का वैराग्य कारण हुआ ॥१४॥

ततः कृच्छ्रायमाणं तं, महीनाथं च कृच्छ्रतः।
अनुज्ञाप्य ततो गत्वा ऽदीक्षिषातां यथाविधि ॥१५॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, (ते=वे दोनों), कृच्छ्रायमाणम्=शोक करते हुये, महीनाथम्=राजा को, कृच्छ्रत=कठिनाई से, अनुज्ञाप्य=समझाकर, (तत=वहां से), गत्वा=जाकर, यथाविधि=विधिपूर्वक, अदीक्षिषाताम्=दीक्षाग्रहण करती हुईं ॥१५॥

भावार्थ—विजया और सुनन्दा ने विरक्त हो कर अपने भावी वियोग से शोकातुर जीवन्धर महाराज को बहुत कठिनाई से समझा कर गृह छोड़ वन में जाकर आर्षोक्तविधि से दीक्षा ले ली ॥१५॥

पद्माख्या श्रमणीमुख्या, विश्राण्य श्रमणीपदम् ।
तन्मातृभ्यां ततस्तं च, महीनाथमबोधयत् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—श्रमणीमुख्या=समस्त आर्यिकाओं में प्रधान, पद्माख्या=पद्मानामक आर्यिका, तन्मातृभ्याम्=उन दोनों माताओं के लिये, श्रमणीपदम्=आर्यिका के पद को, विश्राण्य=देकर, ततः=फिर, तम्=उस, महीनाथम्=राजा को, अबोधयत्=समझाने लगी ॥१६॥

भावार्थः—पद्मा नामक एक प्रधान आर्यिका ने उन दोनो को आर्यिका के व्रत ग्रहण करा कर उनके वियोग से दुखी उनके सुपुत्र जीवन्धर महाराज को निम्नप्रकार समझाया ॥१६॥

प्रव्रज्या जातुचित्प्राज्ञैः, प्रतिषेद्धुं न युज्यते ।
न हि खादापतन्ती चेद्—रत्नवृष्टि र्निवार्यते ॥१७॥

अन्वयार्थौ—प्राज्ञैः=बुद्धिमानों के द्वारा, प्रव्रज्या=दीक्षा, प्रतिषेद्धुम्=रोकने को, जातुचित्=कभी भी, न युज्यते=योग्य नहीं है । हि=क्योंकि, खात्=आकाश से, आपतन्ती=गिरती हुई, रत्नवृष्टिः=रत्नों की वर्षा, कैश्चित=किन्हीं मनुष्यों के द्वारा, न निवार्यते=नहीं रोकी जाती ॥१७॥

भावार्थः—जिस प्रकार अपने आप आकाश से वरसती हुई रत्नो की राशि को गिरने से कोई भी नही रोकता, उसका रोकना नितान्त मूर्खता ही समझता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् जन दीक्षा ग्रहण करने में भी किसी प्रकार का प्रतिवध नही करते, क्योंकि उसमें प्रतिवंध करना अक्षम्य अविवेक है ॥१७

वयस्यन्ते ऽपि वा दीक्षा, प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।
भस्मने रत्नहारो ऽयं, पण्डितै र्न हि दह्यते ॥१८॥

अन्वयार्थौ—अपि वा = और, प्रेक्षावद्भिः = विवेकियों के द्वारा, अन्ते = अन्तिम, वयसि = अवस्था में, दीक्षा = मुनिदीक्षा, अपेक्ष्यताम् = धारण की जाना चाहिये। नीतिः–हि = क्योंकि, पण्डितैः = विवेकियों के द्वारा, अयम् = प्रसिद्ध, रत्नहारः = रत्ननिर्मित हार, भस्मने = राख के लिये, न दह्यते = नहीं जलाया जाता है ॥१८॥

भावार्थ—जवानी में विषय भोगों में लीन रहने पर भी विवेकी जनों को वृद्धावस्था में दीक्षा अवश्य धारण करना चाहिये। क्योकि जैसे भस्म (राख) के लिये बहुमूल्य रत्नहार का जलाना बड़ा अविवेक है, उसीप्रकार जवानी में विषयासक्त रह कर भी वृद्धावस्था में भी दीक्षा न लेकर दुर्लभ मनुष्यपर्याय को वृथा ही खो देना बड़ी ही मूर्खता है ॥१८॥

इति प्रबोधितो नत्वा, प्रसवित्रीं सकाशतः।
प्रश्रयेण गतो राजा, प्राविक्षन्नृपमन्दिरे ॥१९॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, प्रबोधितः = समझाया गया, (च = और), प्रसवित्रीम् = माता को, नत्वा = नमस्कार कर, (तस्याः = उसके), सकाशतः = पास से, प्रश्रयेण = विनय से, गतः = वापिस हुआ, राजा = महाराज जीवन्धर, नृपमन्दिरम् = राजमहल में, (सप्तम्यर्थे ऽत्र द्वितीया)। प्राविक्षत् = प्रवेश करता हुआ ॥१९॥

भावार्थः—इस प्रकार पद्मानामक आर्यिका के द्वारा समझाये जाने पर जीवन्धर महाराज अपनी माताओं को नमस्कार कर विनयपूर्वक वापिस हो राजमन्दिर मे आये ॥१९॥

न चिराद्धि पदं दत्ते, कृतिनां हृदि विक्रिया।
यदि रत्ने ऽपि मालिन्यं, न हि तत्कृच्छ्रशोधनम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, विक्रिया=विकार भाव, कृतिनाम्=बुद्धिमानों के, हृदि=हृदय में, चिरात् = बहुत समय तक, पदम्=स्थान को, न दत्ते=नहीं करता । नीति—हि=क्योंकि, यदि=अगर, रत्ने=रत्न पर, मालिन्यम्=मैलापन, अपि=भी, स्यात्=हो जावे, (तर्हि=तो), तत्=वह मलिनता, कृच्छ्रशोधनम् = कठिनाई से दूर करने योग्य, न भवति=नहीं होती । किन्तु, (अनायासशोधनमेव=सरलता से दूर करने योग्य ही, भवति=होती है) ॥२०॥

भावार्थः—जैसे रत्न पर प्राप्त हुई मलीनता सरलता से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बुद्धिमानों के प्राप्त हुआ वियोगादिजन्य विकारभाव भी शीघ्र नष्ट हो जाता है । तदनुसार विवेकी जीवन्धर महाराज के हृदय में भी मातृवियोगजन्य बहुत समय तक स्थान नही पा सका ॥२०॥

अथास्य क्षात्रविद्यस्य, क्षणवद्भुंजतो महीम् ।
त्रिदशोपमसौख्येन, त्रिंशद्वर्षाण्ययासिषुः ॥२१॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके अनन्तर, त्रिदशोपमसौख्येन=देवों के समान सुख से, महीम्=पृथिवी को, भुञ्जतः=भोगते हुये, क्षात्रविद्यस्य=राजनीति के जानकार, अस्य=इनके, त्रिंशत्=तीस, वर्षाणि=वर्ष, क्षणवत्=क्षणभर के समान, अयासिषुः=बीत गये ॥२१॥

भावार्थ—राजनीतिविशारद उन जीवन्धर महाराज ने नीतिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुये देवों के समान निश्चिन्तता से पृथ्वी का भोग किया जिससे उनके राज्यशासन के तीस वर्ष क्षणमात्र के समान व्यतीत हो गये ॥२१॥

ततः कदाचिदस्यासी — ज्जलक्रीडामहोत्सवः ।
वसन्ते सह कान्ताभि—रष्टाभिरतिकौतुकात् ॥२२॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, वसन्ते = वसंत ऋतु में,

कदाचित् = किसी समय, अस्य = इन जीवन्धर के, अष्टाभिः = आठों, स्त्रीभिः सह = स्त्रियों के साथ, (सहार्थे ऽत्र तृतीया) अतिकौतुकन्ना= अतिशय उत्कंठा से, जलक्रीडामहोत्सवः = जलक्रीडा का महान् उत्सव, आसीत् = हुआ ॥२२॥

भावार्थः—कुछ समय बाद जीवन्धर महाराज ने बसन्त ऋतु में एक दिन अपनी आठो रानियो के साथ बड़े उत्साह और सजधज से जलक्रीड़ा का महान् उत्सव मनाया ॥२२॥

जलक्रीडाश्रमात्सो ऽय—माक्रीडे च सनीडके।
क्रीडन्कापाटिकैः श्लाघ्यं, कापेयं निरवर्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह जीवन्धरकुमार, जलक्रीडाश्रमात् = जलक्रीडा के परिश्रम से, सनीडके = लतामंडप सहित, आक्रीडे=बगीचे में, कापटिकैःसह=बन्दरों के साथ, क्रीडन् = क्रीडा करता हुआ, श्लाघ्यम् = प्रशंसनीय, कापेयम् = बन्दरों की चेष्टा को, निरवर्तयत् = देखने लगा ॥२३॥

भावार्थ.—महाराज जीवन्धर इच्छानुसार जलक्रीड़ा-कर जब थक गये, तब समीपवर्ती किसी एक लताभवन-युक्त बगीचे में जाकर बन्दरो को सुन्दर सुन्दर चेष्टाओ का अव-लोकन करने लगे ॥२३॥

अन्यसंपर्कत क्रुद्धां, मर्कटी को ऽपि मर्कट.।
प्रकृतिस्था बहूपायै—र्नाशकत्कर्तुमुद्यत. ॥२४॥

अन्वयार्थौ—तत्र = वहां पर, कः = कोई, मर्कटः = बन्दर, अन्यसम्पर्कतः = दूसरी किसी बन्दरी से सभोग करने के कारण, क्रुद्धाम् = कोधित मर्कटीम्=बन्दरी को बहूपायै = बहुत उपायों से, अपि = भी, प्रकृतिस्थाम् = प्रसन्न, कर्तुम् = करने के लिये, न अशकत्= समर्थ नहीं हुआ ॥२४॥

भावार्थः—उस बगीचे में जीवन्धर महाराज ने देखा कि किसी एक बन्दर ने किसी दूसरी बन्दरी के साथ संभोग किया, जिससे उसकी बन्दरी उससे नाराज हो गई। उस समय बन्दर ने उसे प्रसन्न करने के लिये बहुत उपाय किये पर वह सफल नहीं हुआ ॥२४॥

ततः शाखामृगो ऽप्यासीन्मायिको मृतवद्दशः ।
तदवस्थां भयग्रस्ता, वानरीयमपाकरोत् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—ततः = फिर, मायिकः = मायावी, शाखामृगः = वन्दर, अपि = भी, मृतवद्दशः = मरे हुये के समान अवस्था वाला, आसीत् = होगया। (तदा = तब), भयग्रस्ता=भयभीत, (सती=होती हुई), इयम्=यह, वानरी = वंदरी, तदवस्थाम् = उसकी उस अवस्था को, अपाकरोत् = दूर करती हुई ॥२५॥

भावार्थः—तब वह वन्दर मरे हुये के समान बन कर जमीन पर लेट गया, उस समय वन्दरी उसे मरा हुआ समझ कर भयभीत हुई और उल्टी वन्दर की ही खुशामद करने लगी ॥२५॥

हर्षलो हरिप्यस्यै, पनसस्य फलं ददौ ।
वनपालो जहारैत—द्वानरीमपि भर्त्सयन् ॥२६॥

अन्वयार्थौ—हर्षलः = हर्षसहित, हरिः=वन्दर, अपि = भी, अस्यै = इस वानरी के लिये, पनसस्य = कटहर के, फलम् = फल को, ददौ=देता हुआ। किन्तु, वनपालः = वनमाली, वानरीम् = वंदरी को, अपि=भी, भर्त्सयन् = दंड देता हुआ, एतत् = इस फल को, जहार= छीनता हुआ ॥२६॥

भावार्थः—जैसे ही वानरी की खुशामद से प्रसन्न हुये वन्दर ने अपने कपटी भेष को छोड़ कर वानरी को एक कटहर का फल समर्पित किया, वैसे ही वनमाली ने वन्दर और

बन्दरी दोनों की एक डण्डे से खबर लेकर वह फल उस बन्दरी से छीन लिया ॥२६॥

इत्यशेषं विशेषज्ञो, वीक्षमाणः क्षितीश्वरः ।
तत्क्षणे जातवैराग्या—दनुप्रेक्षामभावयत् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, अशेषम् = सब घटना को, वीक्षमाणः = देखने वाले, विशेषज्ञः = विद्वान्, क्षितीश्वरः = महाराज जीवन्धर, तत्क्षणे = उसी समय, जातवैराग्यात् = उत्पन्न हुये वैराग्य से, अनुप्रेक्षाम् = बारह भावनाओं को, अभावयत् = भाने लगे ॥२७॥

भावार्थः—उपर्युक्त इस घटना को देख कर जीवन्धर महाराज को वैराग्य उत्पन्न हो गया, इसलिये वे निम्नप्रकार बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे ॥२७॥

* १—अथानित्यानुप्रेक्षा— *

मद्यते वनपालोऽयं, काष्ठाङ्गारायते हरिः ।
राज्यं फलायते तस्मा—न्मयैव त्याज्यमेव तत् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह, वनपालः = वनमाली, मद्यते = मेरे समान है, हरिः = बन्दर, काष्ठाङ्गारायते = काष्ठांगार के समान है, च = और, राज्यम् = राज्य, फलायते = कटहर के फल के समान है, तस्मात् = इसलिये, तत् = वह राज्य, मया = मेरे द्वारा, एव = भी, त्याज्यम् = छोड़ने योग्य, एव = ही, अस्ति = है ॥२८॥

भावार्थः—महाराज जीवन्धर विचार करते हैं कि जिस प्रकार इस बन्दर ने कटहर के फल को तोड़ कर वानरी को दिया, परन्तु वन-रक्षक ने शीघ्र ही उसे ताड़ते हुये वह फल वापिस छीन लिया है, ठीक इसीप्रकार पहिले काष्ठांगार ने येन केन प्रकारेण मेरे पिता महाराज सत्यन्धर से राज्य प्राप्त किया था, परन्तु मैंने इस योग्य बन कर काष्ठांगार का हनन कर

उससे वंश परम्परागत अपना राज्य वापिस छीन लिया है, अतएव मै तो इस वनपाल के समान हूं, तथा काष्टांगार बन्दर के समान है और राज्य इस फल के समान है। अतः मुझे ही इस राज्य को अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥२८॥

जाताः पुष्टाः पुन नेष्टा, इति प्राणभृतां प्रथाः।
न स्थिता इति तत्कुर्याः, स्थायिन्यात्मन्यदे मतिम् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—जाता.=पैदा हुये, पुष्टाः=पुष्ट, हुये पुनः=फिर, नष्टाः=नष्ट हो गये, के=कोई, अपि=भी, न स्थिताः = नहीं वचे, इति = यह, प्राणभृताम्=संसारी प्राणियों की, प्रथा = परिपाटी, अस्ति=है, तत् = इसलिये, आत्मन्=हे आत्मन्, (त्वम् = तू), स्थायिनि=स्थिर, पदे=स्थान में, मतिम्=बुद्धि को, कुर्याः=लगा।

भावार्थ—इस ससार में जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं वे सब स्वल्प समय तक रह कर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं—कोई भी स्थिर नहीं रहता, अतएव बुद्धिमान् प्राणी का कर्तव्य है, कि वह जगत् की समस्त वस्तुओ को नश्वर जान कर अविनश्वर मोक्ष स्थान को प्राप्त करने की चेष्टा करे ॥२९॥

स्थायीति क्षणमात्रं वा, ज्ञायते न हि जीवितम्।
कोटेरप्यधिकं हन्त, जन्तूनां हि मनीषितम् ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हि=निश्चय से, जीवितम्=जीवन, क्षणमात्रम्=क्षणमात्र, वा=भी, स्थायि = स्थिर, न ज्ञायते=नहीं जान पड़ता, (तथापि=तो भी), हन्त=खेद है, यत्=कि, जन्तूनाम्=प्राणियों की, मनीषितम्=इच्छाएँ, कोटेः=करोड़ों से, अपि=भी, अधिकम्=अधिक, अस्ति=हैं ॥३०॥

भावार्थः—इस जीवन के क्षण भर भी स्थिर रहने का विश्वास नहीं, परन्तु प्राणियो की इच्छाएँ करोड़ों से भी

अधिक हैं। ऐसी हालत में उनका पूर्ण हो सकना नितान्त असम्भव ही है ॥३०॥

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयाश्चिरम् ।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥३१॥

अन्वयार्थौ—विषयाः=पचेन्द्रिय संबधी विषय, चिरम्=बहुत काल तक, स्थित्वा=रहकर, अपि=भी, यदि=अगर, अवश्यम्=अवश्य, नश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं, (तर्हि=तो), स्वयम्=अपने द्वारा ही, त्याज्याः=त्याग देना चाहिये। हि=क्योंकि, तथा=ऐसा करने पर, मुक्तिः=कर्मबंध का अभाव, स्यात्=होता है। च=और, अन्यथा=इसके विपरीत करने पर, संसृतिः=संसार, (एव=ही), स्यात्=होता है ॥३१॥

भावार्थः—पचेन्द्रिय सबधी विपय प्राणी को क्षणिक सुख देकर एक न एक समय अवश्य नष्ट हो जाते हैं, ऐसी हालत में जो मनुष्य विचार पूर्वक उनका परित्याग कर देता है, वह तो पापबध से रहित हो जाता है। किन्तु इससे विपरीत विषय ही यदि जीव का संबंध छोड़ कर नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य उन्हें स्वयं नहीं त्यागता है; तो उसके संसार-परिभ्रमण का कारण पाप का बंध होता ही रहता है ॥३१॥

अनश्वरसुखावाप्तौ, सत्यां नश्वरकायतः ।
किं वृथैव नयस्यात्मन्, क्षणं वा सफलं नय ॥३२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, नश्वरकायतः=नश्वर शरीर से, अनश्वरसुखावाप्तौ=अविनश्वर सुख की प्राप्ति के सत्याम्=होने पर, क्षणम=समय को, वृथा=व्यर्थ, एव=ही, किम्=क्यों, नयसि=खोते हो, सफलम्=सफल, नय=करो ॥३२॥

भावार्थ—जब कि इस नश्वर-मनुष्य शरीर से अविनश्वर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है; तब विवेकियो को अपना समय व्यर्थ खोना उचित नही, मोक्ष प्राप्ति के यत्न में ही उसे खर्च करना लाभदायक है ॥३२॥

* २—अथाशरणानुप्रेक्षा— *

पयोधौ नष्टनौकस्य, पतत्रेरिव जीव ! ते ।
सत्यपाये शरण्यं न, तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ॥३३॥

अन्वयार्थौ—जीव = हे आत्मन्, पयोधौ = समुद्र में, नष्ट-नौकस्य = नष्ट हो गई है नौका जिसकी ऐसे, पतत्रेः इव = पक्षी के समान, अपाये सति = मृत्यु के उपस्थित होने पर, ते = तेरा, (किम् = कोई, अपि = भी) शरण्यम् = शरण, न अस्ति = नहीं है। किन्तु, स्वास्थ्ये = कुशल होने पर, सहस्रधा = हजारों, शरण्यम् = शरण या सहायक, भवन्ति = होजाते हैं ॥३३॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जिसप्रकार समुद्र के वीच में नौका से रहित हुये पक्षी का कोई रक्षक नहीं होता, अधिक न उड़ सकने के कारण उसकी जीवन-लीला वहीं समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार जिस समय प्राणी पर कोई आपत्ति आ जाती है, उस समय उसका कोई भी रक्षक नहीं होता, आई हुई आपत्ति का सामना केवल उसे ही करना पड़ता है। किन्तु इसके विपरीत कुशलता के होने पर अपरिचित जन भी मित्रता करने लगते हैं ॥३३॥

आयुधीयैरतिस्निग्धै — र्बन्धुभिश्चाभिसंवृतः ।
जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि, पश्यतामेव नश्यति ॥३४॥

अन्वयार्थौ—आयुधीयैः = शस्त्रजीवियों से, च = और, अतिस्निग्धैः = अत्यन्त प्यारे, बन्धुभिः = सम्बन्धियों से, च = भी, अभिसंवृतः = घिरा हुआ, (च = और) संरक्ष्यमाणः = रक्षा किया जाने वाला, अपि = भी, जन्तुः = प्राणी, पश्यताम् = देखने वालों के, अग्रे = आगे, एव = भी, नश्यति = नष्ट हो जाता है ॥३४॥

भावार्थ.—जब प्राणी की मृत्यु का समय आ जाता है,

तब उसे बड़े बड़े शस्त्रधारी योद्धा और निजी बन्धुजन भी क्यों न घेरे रहे, परन्तु फिर भी वह काल के ग्रास से बच नहीं सकता उसके प्राण पखेरू देखने वालों के सामने ही उड़ जाते हैं ॥३४॥

मन्त्रतन्त्रादयो ऽप्यात्मन्!, स्वतन्त्रं शरणं न ते ।
किं तु सत्येव पुण्ये हि, नो चेत्के नाम तैः स्थिताः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, मन्त्रतन्त्रादय. = मन्त्र और तन्त्र आदिक, अपि = भी, ते = तेरे, स्वतन्त्रम् = पुण्य की अपेक्षा रहित, शरणम् = रक्षक, न सन्ति = नहीं हैं, (परन्तु, ते = वे, अपि = भी), पुण्ये सति = पुण्य के होने पर, एव = ही, शरणम् = शरण, भवन्ति = होते हैं, नो चेत् = यदि ऐसा न हो, तर्हि = तो, तैः = उन मन्त्र तन्त्रादिकों से, के नाम = कौन, स्थिताः = स्थिर रहे ? ॥३५॥

भावार्थः—इस ससार में मृत्युञ्जय आदिक मन्त्र और तरह तरह के तन्त्र (टोटके व औषधि) आदिक पुण्य का उदय रहने पर ही सहायक होते हैं, पुण्य क्षीण होने पर नहीं। यदि पुण्योदय न होने पर भी ये मन्त्रादिक प्राणरक्षण में स्वतन्त्र सहायक हो सकते तो अनेक मांत्रिक, वैद्य और डाक्टरों द्वारा चिकित्सा करने पर भी प्राणियों की मृत्यु क्यों कर होती ॥३५॥

* ३—अथसंसारानुप्रेक्षा— *

नटवन्नैकवेषेण, भ्रमस्या ऽत्मन्स्वकर्मतः ।
तिरश्चि निरये पापाद्, दिविपुण्याद्द्वयान्नरे ॥३६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्वम् = तू, स्वकर्मतः = अपने कर्म से, नैकवेषेण = अनेक भेष धारण करके, नटवत् = नट के समान, पापात् = पाप से, तिरश्चि = तिर्यञ्चगति में, (तथा = और), निरये = नरकगति में, पुण्यात् = पुण्य से, दिवि = स्वर्ग में, (च = और) द्वयात् = पुण्य और पाप से, नरे = मनुष्यगति में, भ्रमसि = घूम रहा है ॥३६॥

भावार्थ.—जिसप्रकार कोई नट अपने कर्म (आजीविका के निमित्त) से तरह तरह के भेषो को बदल कर जगह जगह घूमा करता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी अपने द्वारा किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से आठों कर्मों के नाश पर्यन्त यथा योग्य चतुर्गति में परिभ्रमण करता है ॥३६॥

पञ्चाननइवा ऽ मोक्षा — दसिपञ्जर आहित ।
क्षणे ऽपि दुःसहे देहे, देहिन्हन्त कथ वसे: ॥३७॥

अन्वयार्थौ—देहिन् = हे आत्मन्, हन्त = खेद है, यत् = कि, त्वम् = तू, आमोक्षात् = मोक्ष अर्थात् छुटकारा पर्यन्त, असिपंजरे = लोहे के पिंजड़े में, आहितः = बँधे हुये, पंचाननः इव = सिंह के समान, क्षणे = क्षण भर, अपि = भी, दुःसहे = असह्य, देहे = शरीर में, कथम् = कैसे, वसेः = निवास करता है ॥३७॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जैसे लोहे के पिंजड़े मे बद किया गया कोई शेर विवश होकर उसमें रहता है; पर उससे छूटने की चाह सदा ही करता रहता है, उसी प्रकार क्षणमात्र भी न सहन करने योग्य इस देहरूपी पंजर में स्थित रहना तेरे लिये भी उचित नहीं, तुझे भी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण करना चाहिये ॥३७॥

तन्नास्ति यन्न वै भुक्तं, पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।
तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै, बिन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३८॥

अन्वयार्थौ—(हे आत्मन्), पुद्गलेषु = पुद्गलों में, तत् = वह कोई पुद्गल, न अस्ति = नहीं है, यत् = जो, (यत्तदोः = सामान्ये नपुँसकत्वम्) त्वया = तेरे द्वारा, वै = निश्चय से, मुहुः = बार बार, न भुक्तम् = नहीं भोगा गया हो। इति = ऐसी हालत में, तल्लेशः = उन पुद्गलों का कुछ अंश पीताम्बुधेः = समुद्र भर पानी को पी जाने वाले

व्यक्ति के, बिन्दुः इव=एक बूंद के समान, तव=तेरे, तृप्त्यै = संतोष के लिये, स्यात्=हो सकता है, किम्=क्या, ? अपि तु न स्यात् ॥३८॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! इस ससार मे जो अनन्त पुद्गल (कार्माण वर्गणा) हैं, उनको यह जीव अनेक वार भोग चुका है। अतएव जैसे समुद्र भर पानी पीने के इच्छुक व्यक्ति को एक बूद जल के पीने से कभी भी संतोष नहीं हो सकता, उसी प्रकार पुद्गल के कुछ अशों के सेवन से तुझे भी कभी सन्तोष नही हो सकता ॥३८॥

भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं, भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।
अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्व-मतुच्छं हन्त नेच्छसि ॥३९॥

अन्वयार्थौ—(हे आत्मन् !) त्वम्=तू, (यत् = जो वस्तु), भुक्तोज्झितम्=भोग कर छोड़ी हुई, (अस्ति=है), तत्=उस, एव=ही, उच्छिष्टम्=उच्छिष्ट वस्तु को, भोक्तुम्=भोगने के लिये; उत्सुकायसे= उत्कंठित होरहा है। किन्तु, हन्त = खेद है, (यत् = कि), अभुक्तम्= पहिले कभी नहीं भोगे गये, अतुच्छम्=महान्, मुक्तिसौख्यम्=मोक्ष रूपी सुख को, न इच्छति=इच्छा नहीं करता ॥३९॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! तू जिन वस्तुओं को अनेक वार भोग कर उच्छिष्ट कर चुका है; उन्हीं को वार वार भोगने के लिये उत्सुक होता है, परन्तु खेद है कि जिस अविनश्वर और आनन्दप्रद मोक्षसुख का तुझे एक वार भी स्वाद नही मिला है, उसके पाने की कभी चेष्टा भी नहीं करता ॥३९॥

संसृतौ कर्म रागाद्यै—स्ततः कायान्तरं ततः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा, रागाद्याश्चक्रकं पुनः ॥४०॥

अन्वयार्थौ—संसृतौ=संसार में, रागाद्यैः = राग-द्वेषादिक भावों से, कर्म = कर्मबन्ध, (स्यात्=होता है), ततः=उस कर्मबन्ध से,

कायान्तरम् = नवीन शरीर की उत्पत्ति, (स्यात् = होती है), ततः = उस शरीर से, इन्द्रियाणि = इन्द्रियां, (स्युः = होतो हैं), इन्द्रियद्वारा = इन्द्रियों के द्वारा, रागाद्याः = राग और द्वेषादिक, (भवेयुः = होते हैं), एवम् = इस प्रकार, पुनः = फिर भी, चक्रकम् = संसार में परिभ्रमण (एव = ही, स्यात् = होता है) ॥४०॥

भावार्थः—इस संसार मे रागद्वेषादिक भावों से कर्मबंध, कर्मबंध से शरीरान्तर की प्राप्ति, शरीरान्तर से इन्द्रियों की उत्पत्ति और इन्द्रियों से रागद्वेषादिक सदा ही होते रहते हैं, इस प्रकार यह संसार-चक्र अनादिकाल से घूमता चला आरहा है और जब तक मोक्ष की प्राप्ति न होगी तब तक घूमता ही रहेगा ॥४०॥

सत्यनादौ प्रबन्धे ऽस्मिन्, कार्यकारणरूपके ।
येन दुःखायसे नित्य—मद्य वात्मन्विमुञ्च तत् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, कार्यकारणरूपके = कार्य और कारण स्वरूप, अस्मिन् = इस उपर्युक्त, प्रबन्धे = परिपाटी के, अनादौ सति = अनादि होने पर, येन = जिस कर्मबन्ध से, त्वम् = तुम, नित्यम् = सदा, दुःखायसे = दुखी हो रहे हो, तत = उस कर्मबन्ध को, अद्य = आज, वा = ही, विमुञ्च = छोड़ दे ॥४१॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जब कि अनादिकाल से चली आई उपर्युक्त रागादिक की परिपाटी तुझे दुःखित कर रही है, तो तेरा कर्त्तव्य है कि उसका शीघ्र ही अन्त कर दे ॥४१॥

* ४—अथ एकत्वानुप्रेक्षा— *

त्यक्तोपात्तशरीरादिः स्वकर्मानुगुणं भ्रमन् ।
त्वमात्मन्नेक एवासि, जनने मरणे ऽपि च ॥४२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्यक्तोपात्तशरीरादि. =

पूर्व शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर को ग्रहण करने वाला, च=और, स्वकर्मानुगुणम्=स्वकृत कर्मों के अनुसार, भ्रमन्=भ्रमण करता हुआ, त्वम्=तू, जनने=पैदाइश के विषय में, च=और, मरणे=मरण के विषय में, एकः=अकेला, एव=ही, असि=है ॥४२॥

भावार्थः—हे आत्मन्! तू अकेला ही पैदा होता और अकेला ही मरता है, तेरे द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने में कोई भी तेरा साथी नहीं होता ॥४२॥

बन्धवो हि श्मशानान्ता—गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां, धर्म एव न मुञ्चति ॥४३॥

अन्वयार्थौ—हि=निश्चय से, बन्धवः=बन्धु जन, श्मशानान्ताः=श्मशान पर्यन्त ही साथ जाने वाले, (सन्ति=हैं), अर्जितम्=कमाया हुआ, धनम्=धन, गृहे=घर में, एव=ही, तिष्ठति=रह जाता है, च=और, गात्रम्=शरीर, भस्मने=राख के लिये, स्यात्=होता है, किन्तु, एकः=केवल, धर्मः=धर्म, एव=ही, त्वाम्=तुझ को, न मुञ्चति=नहीं छोड़ता है ॥४३॥

भावार्थः—इस संसार में धर्म ही एक ऐसी वस्तु है; जो पर भव में भी जीव के साथ जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुए उसी पर्याय में नाता तोड़ देती हैं। जैसे—बन्धु गण तो श्मशान तक ही साथ देते हैं, धन घर में ही पड़ा रह जाता है और शरीर चिता की भस्म बन जाता है ॥४३॥

पुत्रमित्रकलत्राद्य — मन्यदप्यन्तरालजम् ।
नानुयायीति नाश्चर्यं, नन्वङ्गं सहजं तथा ॥४४॥

अन्वयार्थौ—पुत्रमित्रकलत्राद्यम्=पुत्र, मित्र और स्त्री आदिक, च=और, अन्तरालजम्=जीवन यात्रा के बीच में प्राप्त होने वाले, अन्यत्=और, अपि=भी, अनुयायि=साथ जाने वाले, न भवति=

नहीं होते, इति=इसमें, आश्चर्यम्=आश्चर्य, न अस्ति = नहीं है, ननु = किन्तु, सहजम्=साथ उत्पन्न हुआ, अङ्गम्=शरीर, अपि= भी, तथा = साथ जाने वाला नहीं है, इति = यह ही, आश्चर्यम्= आश्चर्य, अस्ति = है ॥४४॥

भावार्थः—जीवन मे समय समय पर प्राप्त होने वाली बाह्य वस्तुए पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, और धान्यादि कोई भी परभव में जीव के साथ नही जाती इसमे कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु जो शरीर नवीन पर्याय के प्रारभ मे प्राणी के साथ ही पैदा होता है; वह भी परभव मे उसके साथ नही जाता यह महान् आश्चर्य की बात है। अथवा—जब कि आत्मा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाला शरीर भी अन्त समय मे प्राणी का साथ नहीं देता; तब प्रत्यक्ष भिन्न रहने वाले स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक से क्या आशा की जा सकती है? ॥४४॥

त्वमेव कर्मणां कर्ता, भोक्ता च फलसन्ततेः।
मोक्ता च तात किं मुक्तौ, स्वाधीनायां न चेष्टसे ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तात = हे आत्मन्, त्वम् = तुम, एव = ही, कर्मणाम् = कर्मों का, कर्त्ता = करने वाले, फलसन्ततेः = कर्म फलों के, भोक्ता = भोगने वाले, च = और, मोक्ता = नाश करने वाले, असि = हो, पुनः = फिर, स्वाधीनायाम् = निजाधीन, मुक्तौ = मुक्ति पाने के विषय में, किम् = क्यों, न चेष्टसे = कोशिश नहीं करते हो? ॥४५॥

भावार्थ.—हे आत्मन्! शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, उनके फलों का भोक्ता और उनका नाशक एक तू ही है। अतएव जब कि तुझमें कर्मों के नाश करने की शक्ति मौजूद है, तब तेरा कर्तव्य है कि तू जिसकी प्राप्ति तेरे ही अधीन है, उस मुक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा करे ॥४५॥

अज्ञातं कर्मणैवात्मन्, स्वाधीने ऽपि सुखादये।
नेहसे तदुपायेषु, यतसे दुःखसाधने ॥४६॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् = हे आत्मा, त्वम् = तू, कर्मणा = कर्म से, एव = ही, अज्ञातम् = अज्ञानपूर्वक, स्वाधीने = स्वाधीन, सुखोदये = मोक्षसुख के विषय में, च = और, तदुपायेषु = उसके उपायों के विषय में, न ईहसे = चेष्टा नहीं करता, किन्तु, दुःखसाधने = दुःखों के कारणों के विषय में, यतसे = प्रयत्न करता है ॥४६॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! तू कर्म के वशीभूत हो अज्ञानी होकर स्वाधीन मोक्ष सुख और उसके उपायो के विषय में तो चेष्टा (कोशिश) नहीं करता है, किन्तु इससे विपरीत दुःखों के कारणभूत सांसारिक कार्यों के करने में मग्न हो रहा है ॥४६॥

* ५—अथान्यत्वानुप्रेक्षा— *

देहात्मको ऽहमित्यात्म-ञ्जातु चेतसि मा कृथाः।
कर्मतो ह्यपृथक्त्वं ते, त्वं निचोलासिसंनिभः ॥४७॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्वम् = तू, अहम् = मैं, देहात्मकः = शरीररूप, (अस्मि = हूँ), इति = ऐसा विचार, चेतसि = चित्त में, जातु = कभी भी, मा कृथा = मत कर, हि = क्योंकि, कर्मतः = कर्मबन्ध के कारण, ते = तेरी, अपृथक्त्वम् = शरीर के साथ एकता, (अस्ति = है, तथापि = तो भी), त्वम् = तू, निचोलासिसंनिभः = म्यान के भीतर रहने वाली तलवार के समान, (असि = है) ॥४७॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू "मैं शरीररूप हूं" ऐसा विचार अपने मन में कभी भी मत कर। क्योकि यद्यपि कर्मबन्ध से तू और तेरा शरीर एकमेक हो रहे हैं, तो भी जैसे म्यान मे रखी हुई तलवार म्यान से जुदी ही रहती है, उसी प्रकार शरीर में रहते हुये भी तू शरीर से अलग है ॥४७॥

अध्रुवत्वादमेध्यत्वा — दचित्त्वाच्चान्यदङ्गकम् ।
चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वै-रात्मन्नन्यो ऽसि कायतः ॥४८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, अध्रुवत्वात् = अनित्य होने से, अमेध्यत्वात्=अपवित्र होने से, च=और, अचित्त्वात् = चेतनारहित होने से, अङ्गकम्=शरीर, अन्यत्=पर वस्तु, (अस्ति=है, तथा=और,) चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वैः=चेतन; नित्य और पवित्र होने से, त्वम्=तुम, कायतः=शरीर से, अन्यः=भिन्न, असि=हो ॥४८॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! जब कि शरीर अचेतन, अनित्य और अपवित्र है, किन्तु तू सचेतन, नित्य और पवित्र है, तब तुम दोनों मे अभेद कैसे हो सकता है ? ॥४८॥

हेये स्वयं सती बुद्धि—र्यत्नेनाऽप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्त—मात्मानमपि साधयेत् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—बुद्धिः=बुद्धि, हेये=खोटे कार्य में, स्वयम्=अपने आप, सती=प्रवृत्त, (च=और), शुभे=अच्छे कार्य में, यत्नेन=कोशिश करने से, अपि=भी, असती=अप्रवृत्त, स्यात्=होती है। (च=और), तद्धेतुकर्म = उसका कारण पाप कर्म, आत्मानम्=आत्मा को, अपि= भी, तद्वन्तम्=वैसा ही विपरीत प्रवृत्ति कर्त्ता, साधयेत्=बना देता है।

भावार्थः—बुद्धि के खोटे कार्य मे स्वतः प्रवृत्त होने और अच्छे कार्य मे कोशिश करने पर भी प्रवृत्त न होने में कारण भूत पापकर्म, आत्मा (जीव) को भी खोटे कार्य मे प्रवृत्ति करने वाला और करणीय कार्यों मे प्रवृत्ति न करने वाला बना देता है।

* ६—अथाशुचित्वानुप्रेक्षा— *

मेध्यानामपि वस्तूनां, यत्संपर्कादमेध्यता ।
तद्गात्रमशुचीत्येतत्, किं नाल्पमलसंभवम् ॥५०॥

अन्वयार्थौ—यत्संपर्कात् = जिसकी संगति से, मेध्यानाम् = पवित्र, अपि=भी, वस्तूनाम् = वस्तुओं के, अमेध्यता = अपवित्रता, (स्यात् = हो जाती है), अल्पमलसंभवम्=रज और वीर्य रूप अल्पमल से उत्पन्न हुआ, तत् = वही, एतत् = यह, गात्रम् = शरीर, अशुचि= अपवित्र, नास्ति किं=नहीं है क्या ? (अपि तु, अस्त्येव=है ही) ॥५०॥

भावार्थ.—जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं, तथा जो रज और वीर्यआदि मलों से उत्पन्न होता है वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ? किन्तु कभी नहीं ॥५०॥

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि, सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।
रम्यमूहे किमन्यस्या-न्मलमांसास्थिमज्जत. ॥५१॥

अन्वयार्थौ—हि=निश्चय से, कर्मशिल्पिनः=कर्मरूपी कारीगर की, सामर्थ्यात्=चतुराई से, अस्पष्टम् यथा स्यात्तथा = स्पष्टरूप से नहीं, दृष्टम् = देखा गया, (इदम् = यह), अंगम्=शरीर, रम्यम् = सुन्दर, (भाषते = मालूम होता है) । किन्तु, ऊहे = विचार करने पर, (अत्र= इस शरीर में), मलमांसास्थिमज्जतः = मल; मांस; हड्डी और मज्जा से, अन्यत्=भिन्न और, किम् = क्या, अस्ति है ? ॥५१॥

भावार्थः—नामकर्मजन्य सौन्दर्य आदि के कारण यद्यपि यह शरीर ऊपर से देखने में सुन्दर मालूम होता है, परन्तु वास्तव में इसके भीतर मल, मांस, हड्डी और चर्वी आदि के सिवाय और कोई अच्छी वस्तु नहीं है ॥५१॥

दैवादन्तः स्वरूपं चेद्, बहिर्देहस्य किम्परैः ।
आस्तामनुभवेच्छेय-मात्मन्को नाम पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, परैः = और से, किम्=

क्या ?, चेत्=यदि, दैवात्=भाग्य से, देहस्य=शरीर का, अन्तःस्वरूपम्=भीतरी भाग, बहिः=बाहर, (स्यात्=निकल आवे, तर्हि=तो), इयम्=यह, अनुभवेच्छा=शरीर के भोगने की चाह, दूरे=दूर, आस्ताम्=रहे, (एतत्=इस शरीर को) कः नाम=कौन विवेकीजन, पश्यति=देखेगा ? ॥५२।

भावार्थ—यदि किसी प्रकार इस शरीर का भीतरी भाग बाहर दिखने लगे; तो इसके भोग की तो बात ही क्या ? मनुष्य इस पर नजर डालने मे भी घृणा करेंगे ॥५२॥

एवं पिशितपिण्डस्य, क्षयिणो ऽक्षयशङ्कृतः ।
गात्रस्यात्मन्क्षयात्पूर्वं, तत्फलं प्राप्य तत्त्यज ॥५३॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, एवम्=इस प्रकार, क्षयिणः=नश्वर, किंतु, अक्षयशंकृतः=अविनश्वर सुख को प्राप्त कराने वाले, पिशितपिण्डस्य=मांस के पिंड स्वरूप, गात्रस्य=शरीर के, क्षयात्=नाश से, पूर्वम्=पहिले, तत्फलम्=उस मोक्षसुखस्वरूप फल को, प्राप्य=प्राप्त कर, तत्=उस शरीर को, त्यज=छोड़ दे ॥५३॥

भावार्थः—यद्यपि मांस के पिण्डरूप यह मनुष्य शरीर नश्वर है, तथापि वह मोक्षप्राप्ति का कारण है, अर्थात् इससे धर्मसाधन कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतएव हे आत्मन् ! जब तक यह नष्ट नहीं होता है, तब तक इससे मोक्षप्राप्ति के साधनों को एकत्रित कर लेना चाहिये ॥५३॥

आत्तसारं वपुः कुर्या—स्तथात्मँस्तत्क्षये ऽप्यभीः ।
आत्तसारेक्षुदाहे ऽपि, न हि शोचन्ति मानवाः ॥५४॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, त्वम्=तू, अपि=भी, वपुः=शरीर को, तथा=इस प्रकार, आत्तसारम्=ग्रहण कर लिया है सार पदार्थ जिससे ऐसा, कुर्याः=करो, यतः=जिससे, तत्क्षये=उस

शरीर के नाश हो जाने पर, अपि=भी, अभी:=निर्भय, स्याः=रहो, नीतिः-हि=निश्चय से, मानवाः=मनुष्य, आत्तसारेक्षुदाहे=रसरूपी सार के खींच लेने पर रसविहीन ईख के जलाने के विषय में, न शोचन्ति=रंज नहीं करते हैं ॥५४॥

भावार्थः—जैसे मनुष्य ईख से सार (रस) के निकाल लेने पर, उसके जलाने में रज नहीं करता, उसी प्रकार हे आत्मन्! तेरा भी कर्त्तव्य है, कि तू भी इस मनुष्य शरीर से मोक्ष के साधनों को प्राप्त कर उसे निःसार बना, जिससे इसके नाश होने में तुझे भी रंज न हो ॥५४॥

* ७—अथास्रवानुप्रेक्षा— *

अजस्रमास्रवन्त्यात्मन्!, दुर्मोचाः कर्मपुद्गलाः ।
तैः पूर्णस्त्वमधोऽधः स्या—जलपूर्णो यथा प्लवः ॥५५॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्!, दुर्मोचाः=कठिनता से दूर होने वाले, कर्मपुद्गलाः=पुद्गलमय कर्मपरमाणु, त्वयि=तेरे में, अजस्रम्=प्रतिसमय, आस्रवन्ति=आते हैं, तैः=उनसे, पूर्णः=भरा हुआ, त्वम्=तूं, जलपूर्णः=जल से भरी हुई, प्लवः यथा=नौका के समान, अधः अधः=नीचे नीचे, स्याः=हो जाता है ॥५५॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तेरे में प्रतिसमय पुद्गलमय कर्मों का आगमन (आस्रव) हो रहा है। जैसे किसी नौका में जब छिद्र द्वारा जल आता है; तब वह क्रमशः नीचे जल में डूबती जाती है, उसी प्रकार तू भी उस कर्मास्रव के कारण अधोगति को प्राप्त होता जा रहा है ॥५५॥

तन्निदानं तवैवात्मन्!, योगभावौ सदातनौ ।
तौ विद्धि सपरिस्पन्दं, परिणामं शुभाशुभम् ॥५६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, तन्निदानम् = उस आस्रव के कारण, तव = तेरे, एव=ही, सदातनौ=अनादिकाल से संबद्ध, योगभावौ=योग और कषायपरिणाम, (स्तः=हैं)। सपरिस्पन्दम्=आत्म-प्रदेशों की चंचलता सहित, शुभाशुभम्=रागद्वेष रूप, परिणामम्=परिणामों को, तौ=योग और कषाय, विद्धि=जानना चाहिये ॥५६॥

भावार्थः—आत्मा के साथ अनादि काल से संबद्ध योग और कषाय ही इस आस्रव के कारण हैं। इनमे से मन, वचन और काय के निमित्त से होने वाली आत्मा के प्रदेशों की चंचलता को योग तथा शुभ और अशुभ आत्मा के परिणामों को कषाय कहते हैं ॥५६॥

आस्रवोऽयममुष्येति, ज्ञात्वात्मन्कर्मकारणे ।
तत्तन्निमित्तवैधुर्या—दपवाह्योर्ध्वगो भव ॥५७॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्! अमुष्य=अमुक कर्म का, अयम्=यह, आस्रवः=आस्रव, (अस्ति=है), इति=इस प्रकार, कर्मकारणे=कर्म और उसके कारण को, ज्ञात्वा=जान कर, तत्तन्निमित्तवैधुर्यात्=उन दोनों के निमित्त के त्याग से, (ते=उन), कर्मकारणे = कर्म और उसके कारण को, अपवाह्य=हटाकर, ऊर्ध्वगः=मुक्त, भव=हो ॥५७॥

भावार्थ—हे आत्मन् 'अमुक कर्म के आने (आस्रव) का अमुक कारण है, इस प्रकार कर्म और उसके कारणों को जान कर उन्हें अपने से अलग कर दे, जिससे तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ॥५७॥

* ८—अथ सम्वरानुप्रेक्षा— *

संरक्ष्य समितिं गुप्ति — मनुप्रेक्षापरायणः ।
तपः संयमधर्मात्मा, त्वं स्या जितपरीषहः ॥५८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, त्वम्=तू, गुप्तिम्=तीन गुप्तियों

को, समितिम् = पांच समितियों को, संरक्ष्य = पालन करके, अनुप्रेक्षा-परायणः = बारह भावनाओं के भाने में तत्पर, (तथा), तपःसंयम-धर्मात्मा = तप; संयम और धर्मों का धारक, (सन् = होता हुआ), जितपरीषहः = परोषहों का विजेता, स्याः = हो ॥५८॥

भावार्थ.—आस्रव अर्थात् आते हुये नवीन कर्मों का रोकना संवर है। व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, तप, धर्म, और परीपहजय ये सब इसी सवर के कारण हैं। अतएव हे आत्मन् ! तू उस संवर के निमित्त इन सबका पालन कर ॥५८॥

एवं च त्वयि सत्यात्मन्, कर्मास्रवनिरोधनात् ।
नीरन्ध्रपोतवद्भूया—निरपायो भवाम्बुधौ ॥५९॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, कर्मास्रवनिरोधनात् = कर्मों का आस्रव रुक जाने से, त्वयि = तेरे, एवम् = इस प्रकार सवरमय-निरास्रव, सति = होने पर, (त्वम् = तू), नीरन्ध्रपोतवत् = छिद्ररहित नौका के समान, भवाम्बुधौ = संसाररूपी समुद्र में, निरपाय. = अपायरहित, भूयाः = हो जावेगा ॥५९॥

भावार्थः—जैसे नौका के भीतर जल आने का छिद्र (मार्ग) रुक जाने पर वह जलाशय में खतरा रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा में कर्मों के आगमन का द्वार (आस्रव) रुक जाने पर इसे भी ससारसागर में फँसने का डर नही रहता ॥५९॥

विकथादिवियुक्तस्त्व—मात्म—भावनया ऽन्वितः ।
त्यक्तबाह्यस्पृहो भूया—गुप्त्याद्यास्ते करस्थिताः ॥६०॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, आत्मभावनया = आत्मचिन्तवन से, अन्वितः = युक्त, (च = और), विकथादिवियुक्तः = विकथा आदि प्रमादों से रहित, त्वम् = तू, त्यक्तबाह्यस्पृहः = बाह्यपदार्थों में इच्छारहित, भूयाः = हो, (एवम् = ऐसा, कृते सति = करने पर) गुप्त्यादयः = गुप्ति

और समिति आदिक, ते = तेरे, करस्थिताः = हस्तगत, (एव = ही, (स्युः = हो जावेंगी) ॥६०॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! तेरा कर्त्तव्य है कि तू आत्मध्यानी बन विकथा और कषाय आदि प्रमादों से रहित होकर धन धान्यादिक बाह्य पदार्थों से ममता को छोड़ दे। ऐसा करने से तुझे पूर्वोक्त गुप्ति, समिति और तप आदिक स्वयमेव ही प्राप्त हो जावेंगे ॥६०॥

एवमक्लेशगम्येऽस्मि-न्नाऽऽत्माऽधीनतया सदा।
श्रेयोमार्गे मतिं कुर्याः, किं बाह्ये तापकारिणि ॥६१॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, एवम् = इस प्रकार, सदा = हमेशा, आत्माधीनतया = अपने ही अधीन होने से, अक्लेशगम्ये = अनायास प्राप्त होने योग्य, अस्मिन् = इस, श्रेयोमार्गे = मोक्षमार्ग में, मतिम् = बुद्धि को, कुर्याः = लगा, तापकारिणि = दुःखजनक, बाह्ये = बाह्य सांसारिक कार्य में, (तस्याः = उस बुद्धि के, (प्रयोगे = लगाने में), किम् = क्या प्रयोजन, (अस्ति = है) ॥६१॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! सांसारिक कार्यों में बुद्धि लगाने से आत्मोद्धार नहीं हो सकता, इसलिये मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना ही सर्वथा उचित है। यह मोक्षमार्ग स्वाधीन है, अतएव अनायास साध्य भी है ॥६१॥

शुष्कानिर्बन्धतो बाह्ये, मुह्यतस्तव हृद्व्यथा।
प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन् !, प्रत्यक्षनिरयोचिता ॥६२॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, बाह्ये = परपदार्थों में, शुष्कनिर्बन्धतः = मिथ्यासम्बन्ध से, मुह्यतः = मोह करने वाले, तव = तेरी, हृद्व्यथा = मानसिक पीड़ा, ननु = निश्चय से, प्रत्यक्षनिरयोचिता = प्रत्यक्ष में नरक के योग्य, प्रत्यक्षिता = प्रत्यक्ष, एव = ही, (अस्ति = है) ॥६२॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! पर पदार्थों में मोह करने से तुझे जो मानसिक पीड़ा होती है, वह नरक को प्राप्त कराने वाली प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रही है ॥६२॥

* ९—अथ निर्जरानुप्रेक्षा—

रत्नत्रय — प्रकर्षेण, बद्धकर्मक्षयोऽपि ते ।
आध्मातः कथमप्यग्नि—र्दाह्यं किं वावशेषयेत् ॥६३॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, रत्नत्रयप्रकर्षेण = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि से, ते = तेरे, बद्धकर्मक्षयः = पूर्वसंचित कर्मों का नाश, अपि = भी, (भवेत् = हो जायगा) । (यतः = क्योंकि, कथमपि = किसी प्रकार, आध्मातः = प्रज्वलित की गई, अग्निः = अग्नि, दाह्यम् = जलाने योग्य वस्तु को, अवशेषयेत् = बाकी रहने देती है, किम् = क्या ? ॥६३॥

भावार्थः—जिस प्रकार वायु वगैरह के निमित्त से प्रज्वलित हुई अग्नि सभी दाह्य वस्तुओं को भस्म कर देती है—किसी को भी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्रकर्षता (अधिकता) से पूर्वसंचित समस्त कर्मों का भी निश्चय से ही नाश हो जाता है ॥६३॥

क्षयादनास्रवाच्चात्मन्, कर्मणामसि केवली ।
निर्गमे चाप्रवेशे च, धारावन्धे कुतो जलम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, कर्मणाम् = कर्मों के, क्षयात् = क्षय से, च = और, अनास्रवात् = आस्रव न होने—संवर से, त्वम् = तू, केवली = बन्धरहित, (भवेः = हो जावेगा), यतः = क्योंकि, धारावन्धे = सरोवर में, जलस्य = मौजूद जल के, निर्गमे = निकल जाने पर, च = और, अप्रवेशे = नवीन जल के न आने पर, जलम् = जल, कुतः = कहाँ से, (भवेत् = हो सकता है) ? ॥६४॥

भावार्थः—जैसे किसी जलाशय का पूर्वसंचित जल तो निकाल दिया जावे और नवीन जल उसमें नही आ सके; तो वह जलाशय किसी समय निर्जल अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे जब सविपाक या अविपाक निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का नाश और संवर (आस्रवनिरोध) के द्वारा नवीन कर्मों का निरोध हो जाता है, तब यह भी केवली बन जाता है अर्थात् कर्मरहित हो जाता है ॥६४॥

रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च, त्वयात्मन्सुलभैव सा ।
मोहक्षोभविहीनस्य, परिणामो हि निर्मलः ॥६५॥

अन्वयार्थौ—(किं च=और), हे आत्मन्, तदा=उस निर्जरा और संवर के होने पर, सा=वह, रत्नत्रयस्य=रत्नत्रय की पूर्ति=पूर्णता, च=भी, त्वया=तेरे द्वारा, सुलभा एव = सुलभ ही, (अस्ति=है)। हि=क्योंकि, मोहक्षोभविहीनस्य=मोह के व्यापार से रहित जीव के, परिणामः=परिणाम समूह, निर्मलः=निर्मल, (भवति एव=होता ही है), (परिणामः इत्यत्र जात्यर्थे एकवचनम्) ॥६५॥

भावार्थ—जहां तक मोहनीय कर्म का उदय रहता है; वही तक आत्मा के परिणामों म मलिनता रहती है, किन्तु मोह के नष्ट होजाने पर वे परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। इसलिये हे आत्मन्! जब तू मोहनीय कर्म से रहित हो जायगा, तब तेरे लिये रत्नत्रय की पूर्ति का होना भी कठिन नही रहेगा।

परिणामविशुद्ध्यर्थं, तपो बाह्यं विधीयते ।
न हि तन्दुलपाकः स्यात्, पावकादिपरिक्षये ॥६६॥

अन्वयार्थौ—(हे आत्मन्), परिणामविशुद्ध्यर्थम्=परिणामों की निर्मलता के लिये, बाह्यम्=बाह्य, तपः=तप विधीयते=किया जाता है। नीतिः–हि=क्योंकि, पावकादिपरिक्षये=अग्नि आदि के न

होने पर, तण्डुलपाकः = चावलों का पकना, न स्यात् = नहीं हो सकता है ॥६६॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जैसे चावल और जल (उपादान कारण) के मौजूद रहने पर भी बाह्यकारण अग्नि और बटलोई आदिक न होने पर भात नहीं बन सकता, उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि भी बाह्यतप के विना नहीं हो सकती, इसलिये परिणामो की विशुद्धि के लिये बाह्य-तप करना आवश्यक है ॥६६॥

परिणामविशुद्धिश्च, बाह्ये स्यान्निस्पृहस्य ते ।
निस्पृहत्वं तु सौख्यं तद्—बाह्ये मुह्यसि किं मुधा ॥६७॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! बाह्ये=बाह्यपदार्थों में, निस्पृहस्य=इच्छारहित, ते = तेरे, परिणामविशुद्धिः = परिणामों की निर्मलता, स्यात्=होगी । तु=और, निस्पृहत्वम्=इच्छा या आकुलता का मिट जाना, (एव=ही), सौख्यम्=सुख, (अस्ति=है) । तत्=इसलिये, बाह्ये=बाह्य पदार्थों में, मुधा=व्यर्थ, किम्=क्यों, मुह्यसि=मोह करता है ? ॥६७॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! बाह्यपदार्थों से इच्छा या ममत्व हटाने से ही परिणामो की विशुद्धि होती है, और पर पदार्थों से इच्छा (ममत्व या आकुलता) का हट जाना ही सच्चा सुख है । इसलिये बाह्यपदार्थों में मोह करना उचित नही ॥६७॥

गुप्तेन्द्रियः क्षणं वात्म—न्यात्मानमात्मना ।
भावयन्पश्य तत्सौख्य—मास्तां निःश्रेयसादिकम् ॥६८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, त्वम्=तू, गुप्तेन्द्रियः=जितेन्द्रिय, (भूत्वा=होकर), आत्मनि=आत्मा में, आत्मना=आत्मा के द्वारा, आत्मानम्=आत्मा को, क्षणम्=क्षणमात्र, भावयन्=ध्यान

करता हुआ, तत्सौख्यम्=उस निस्पृहत्वरूप सुख को, पश्य = देख, निःश्रेयसादिकम्=मोक्षसुख आदिक, आस्ताम् = दूर रहें ॥६८॥

भावार्थः—हे आत्मन्! इन्द्रिय-विजयी वन कर आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करने से वह निस्पृहत्व-रूप सुख सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। और इसी से मोक्ष आदिक भी क्रमशः प्राप्त किये जा सकते हैं ॥६८॥

अनन्तं सौख्यमात्मोत्थ— मस्तीत्यत्र हि सा प्रमा।
शान्तस्वान्तस्य या प्रीतिः, स्वसंवेदनगोचरा ॥६९॥

अन्वयार्थौ—हि=निश्चय से, आत्मोत्थम्=आत्मा से उत्पन्न हुआ, सौख्यम्=सुख, अनन्तम्=अनन्त या अमर्यादित, अस्ति=है, इत्यत्र=इस विषय में, शान्तस्वान्तस्य=शान्त चित्त वाले मनुष्य के, या=जो, स्वसवेदनगोचरा=स्वसंवेदनज्ञान के विषयभूत, प्रीतिः= आनन्द, (जायते=हुआ करता है), सा=वह, (एव=ही), प्रमा= प्रमाण, (अस्ति=है) ॥६९॥

भावार्थः—मनुष्य जब कुछ समय के लिये अपने चित्त को वश मे करके निराकुल हो जाता है, तब उसे उस समय अपने ही अनुभव में आने वाला जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, उससे यह निश्चय ही सिद्ध होता है कि आत्ममात्र की अपेक्षा से प्रगट होने वाला सुख अवश्य ही अनन्त है ॥६९॥

❀ १०—अथ लोकानुप्रेक्षा ❀

प्रसारितांघ्रिणा लोकः, कटिनिक्षिप्तपाणिना।
तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्याधो-विभागस्त्रिमरुद्वृतः ॥७०॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्! उर्ध्वमध्याधोविभाग=ऊर्ध्व, मध्य और अधः भेद वाला, त्रिमरुद्वृतः=तीन वातवलयों से वेष्ठित, अयम्= यह, लोकः=भुवन, प्रसारिघ्रितांणा=पैरों को फैलाये हुये, तथा,

कटिनिक्षिप्तपाणिना = कमर पर हाथ रखे हुये, पुंसा=पुरुष के, (तुल्यार्थे ऽ त्रतृतीया), तुल्यः=समान, (अस्ति=है) ॥७०॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! यह षड्द्रव्यमय लोक पैरों को फैलाये तथा कमर पर हाथ रखे हुये पुरुष के आकार है। इसके ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ये तीन भेद हैं। यह घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्ठित है अर्थात् इनसे सधा है ॥७०॥

जन्ममृत्योः पदे ह्यात्म—न्नसंख्यात—प्रदेशके ।
लोके नायं प्रदेशोऽस्ति, यस्मिन्नाभूरनन्तशः ॥७१॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, जन्ममृत्यो=जन्म और मृत्यु के, पदे=स्थानस्वरूप, असंख्यात्यप्रदेशके=असंख्यातप्रदेशरूप, अस्मिन्= इस, लोके=लोक में, अयम्=ऐसा, प्रदेशः=प्रदेश, न अस्ति=नहीं है, यस्मिन्=जिस प्रदेश में, (त्वम्=तू,) अनन्तशः = अनंतवार, न अभूः=पैदा नहुआ हो ॥७१॥

भावार्थः—हे आत्मन ! यह लोक असंख्यात-प्रदेशी है, इसका कोई ऐसा प्रदेश बाकी नहीं है, जिसमें प्राणी ने अनन्त-(बहुत) वार जन्म मरण धारण न किया हो ॥७१॥

सत्यज्ञाने पुनश्चात्मन्, पूर्ववत्संसरिष्यति ।
कारणे जृम्भमाणे ऽपि, न हि कार्यपरिक्षयः ॥७२॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! त्वम्=तू, अज्ञाने सति=अज्ञान के होने पर, पूर्ववत=पहिले की तरह, पुनः=फिर, संसरिष्यति=ससार में परिभ्रमण करेगा । नीतिः-हि = क्योंकि, कारणे=कारण के, जृम्भमाणे=बढ़ते रहने पर, अपि=भी, कार्यपरिक्षय.=कार्य का विनाश, न भवति=नहीं होता ॥७२॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! स्वपर के भेदविज्ञान न होने पर

तू हमेशा की तरह इस संसार में परिभ्रमण करेगा क्योकि कार्योत्पादक कारण सामग्री के रहने पर कार्य का प्रादुर्भाव अवश्य ही होता है। इसलिये तू स्वपर के भेदविज्ञान को प्राप्त कर, जिससे संसार के दुःखो से मुक्त हो सके ॥७२॥

यतस्व तत्तपस्यात्मन्, मुक्त्वा मुग्धोचित सुखम्।
चिरस्थाय्यन्धकारोऽपि, प्रकाशे हि विनश्यति ॥७३॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, तत्=इसलिये, मुग्धोचितम्=मूर्खजनों के भोगने योग्य, सुखम्=इन्द्रियजन्य सुख को, मुक्त्वा=छोड़ कर, तपसि=तप के विषय में, यतस्व=यत्न कर। नीतिः-हि=क्योंकि, प्रकाशे=प्रकाश के होने पर, चिरस्थायी=चिरकाल से स्थित रहने वाला, अन्धकार.=अन्धकार, अपि=भी, विनश्यति=नष्ट हो जाता है ॥७३॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जैसे प्रकाश के होने पर चिरकाल स्थित रहने वाला अन्धकार भी कूच कर जाता है, उसी प्रकार तप के करने से प्राणी का ससार-परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है, अतएव ससार से नाता तोड़ने के लिये तुझे तप करना उचित है ॥७३॥

※ ११—अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा— ※

भव्यत्वं कर्मभूजन्म, मानुष्यं स्वङ्गवंश्यता।
दुर्लभं ते क्रमादात्मन् !, समवायस्तु किम्पुनः ॥७४॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! ते=तेरे, भव्यत्वम्=भव्यपना, कर्मभूजन्म=कर्मभूमि में जन्म, मानुष्यम्=मनुष्यपर्याय, स्वंगवंश्यता=सुन्दरशरीर और अच्छे कुल में उत्पत्ति, क्रमात्=क्रम से, दुर्लभम्=दुर्लभ, (अस्ति=है)। तु=तो, पुनः=फिर, समवायः=पांचों के समूह का होना, किम्=कहना ही क्या है ? ॥७४॥

भावार्थः—हे आत्मन्! रत्नत्रय के आविर्भाव-जनक-शक्तिरूप १-भव्यपना; २-कर्मभूमि में जन्म, ३-मनुष्यपर्याय, ४-सुन्दरशरीर और ५-उत्तमकुल में उत्पत्ति इन पांचों में से क्रम से एक एक की प्राप्ति होना भी जब कठिन है, तब एक साथ पांचों का मिलना तो अत्यन्त कठिन बात है ॥७४॥

व्यर्थः स समवायोऽपि तवात्मन्धर्मधीर्न चेत्।
कणिशोद्गमवैधुर्ये, केदारादिगुणेन किम् ॥७५॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, चेत् = यदि, तव = तेरे, धर्मधीः = धर्म में बुद्धि न स्यात् = न हुई, (तर्हि = तो,) सः = वह, समवायः = पांचों का समूह, अपि = भी, व्यर्थः = निष्फल, भवेत् = रहेगा, नीति—हि = क्योंकि, कणिशोद्गमवैधुर्ये = बालों की उत्पत्ति न होने पर, केदारादिगुणेन = खेत आदि की अच्छाई से, किम् = क्या लाभ, (अस्ति = है) ? ॥७५॥

भावार्थः—हे आत्मन्! कदाचित् भव्यत्व आदि पांचों की एक साथ प्राप्ति भी हो जावे पर यदि धर्म मे रुचि न हो तो उन का पाना भी व्यर्थ ही है। जैसे खेत वगैरह अच्छे भी रहे पर उनमें बीज बोने पर अनाज की उत्पत्ति न हो तो उन की अच्छाई से भी क्या लाभ ? ॥७५॥

तदात्मन्दुर्लभं गात्रं, धर्मार्थं मूढ! कल्प्यताम्।
भस्मने दहतो रत्नं, मूढः कः स्यात्परो जनः ॥७६॥

अन्वयार्थौ—मूढ = हे मूर्ख, आत्मन्!, तत् = इस लिये, दुर्लभम् = दुर्लभ, गात्रम् = शरीर को, धर्मार्थम् = धर्म के लिये, कल्प्यताम् = संकल्प करना चाहिये। नीतिः-हि = क्योंकि, भस्मने = भस्म के लिये रत्नम् = रत्न को, दहतः = जलाने वाले से, परः = दूसरा, कः = कौन, जनः = मनुष्य, मूढः = मूढ, (स्यात् = है) ॥७६॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जैसे भस्म (राख) के लिये बहुमूल्य रत्न को जलाने वाला मनुष्य अत्यन्त मूर्ख समझा जाता है, उसी प्रकार केवल सांसारिक सुखों के हेतु भोगोपभोग में शरीर को नष्ट कर देने वाला मनुष्य भी महान् मूर्ख है। इसलिये धार्मिक कार्य करके नरदेह को सफल बनाना चाहिये ।७६

भव्यस्यावाह्यचित्तस्य, सर्वसत्वानुकम्पिनः ।

करणत्रयशुद्धस्य, तवात्मन्बोधिरेधताम् ॥७८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! भव्यस्य=भव्य, अवाह्यचित्तस्य= बाह्य पदार्थों में आसक्ति रहित, सर्वसत्वानुकम्पिन = सब प्राणियों पर पर दया करने वाले, (च = और), करणत्रयशुद्धस्य=अधःकरण अपूर्व-करण, अनिवृत्तिकरणरूप, तीनों परिणामों से निर्मल, तव = तेरे, बोधि. = रत्नत्रय, एधताम् = वृद्धि को प्राप्त होवे ॥७८॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! भव्य, बाह्य पदार्थों से उदासीन, अहिंसाप्रेमी और अधःकरण; अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण रूप परिणामो से निर्मल तेरे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की वृद्धि होवे ॥७८॥

* १२—अथ धर्मानुप्रेक्षा— *

देवता भविता श्वापि, देव श्वा धर्मपापतः ।

तं धर्म दुर्लभं कुर्या—धर्मो हि भुवि कामसू. ॥७७॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, धर्मपापतः=धर्म और पाप से, श्वा = कुत्ता, अपि = भी, देवता = देव, (च = और), देव.=देव, अपि= भी, श्वा=कुत्ता, भविता = हो जाता है, तत् = इसलिये, दुर्लभम् = दुर्लभ, तम्=उस, धर्मम्=धर्म को, कुर्याः=धारण करना चाहिये, हि=क्योंकि, भुवि = संसार में, धर्मः = धर्म, कामसूः = मनोरथों को पूर्ण करने वाला, (भवति=होता है) ॥७७॥

भावार्थः—हे आत्मन्! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है, इसलिये ऐसे दुर्लभ धर्म को धारण करना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। धर्म करने से निश्चय ही सब मनोरथ पूर्ण होजाते हैं ॥७७॥

पश्यात्मन्धर्ममाहात्म्यं, धर्मकृत्यो न शोचति ।
विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं, स हि लोकद्वये सुखी ॥७९॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, (त्वम्=तू), धर्ममाहात्म्यम्=धर्म की महिमा को, पश्य=देख, (यत्=कि), धर्मकृत्यः=धर्मकार्य करने वाला, न शोचति=शोक को प्राप्त नहीं होता। (च=और) विश्वैः=सब मनुष्यों के द्वारा, विश्वस्यते=विश्वास किया जाता है। हि=निश्चय से, (इदम्=यह), चित्रम्=आश्चर्य की बात, (अस्ति=है), (यत्=कि), सः=वह धर्मात्मा, लोकद्वये=दोनों लोकों में, सुखी=सुखी, (भवति=होता है) ॥७९॥

भावार्थ.—हे आत्मन्! धर्म की महिमा अचिन्त्य है, धर्म करने वाला मनुष्य शोक और अविश्वास का भाजन नहीं होता तथा इस भव और परभव में सुख एवं शान्ति प्राप्त करता है ॥७९॥

तवात्मन्नात्मनीने ऽस्मिन्—जैनधर्मे ऽतिनिर्मले ।
स्थवीयसी रुचिः स्थेया—दामुक्तेर्मुक्तिदायिनी ॥८०॥

अन्वयार्थौ—(अतः=इसलिये), हे आत्मन्!, आत्मनीने=आत्मा के हितकारक, अतिनिर्मले=अत्यन्तनिर्मल, अस्मिन्=इस, जैनधर्मे=जैनधर्म में, आमुक्तेः=मुक्तिपर्यन्त, (तव=तेरी), स्थवीयसी=अटल, (च=और), मुक्तिदायिनी=मुक्ति को प्राप्त कराने वाली, रुचिः=प्रेम, स्थेयात्=होवे ॥८०॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जब कि धार्मिककार्यों के करने से

आत्म-लाभ प्रत्यक्ष स्पष्ट है, तब इस पवित्र और मुक्तिदायक जैनधर्म मे मुक्तिप्राप्ति पर्यन्त मेरा अटल प्रेम रहे ॥८०॥

इति द्वादशानुप्रेक्षा

इत्यनुप्रेक्षया चासी—दक्षोभ्यस्यास्य विरक्तता ।
व्यवस्था हि सतां शैली, साहाय्ये ऽप्यत्र किं पुनः ॥८१॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, अनुप्रेक्षया=भावनाओं के चिन्तवन से, अस्य=इन जीवन्धर के, अक्षोभ्या=दृढ़, विरक्तता=वैराग्य, आसीत=हो गया । नीति –हि=निश्चय से, व्यवस्था = स्थिरता, सताम्=महापुरुषों की, शैली=प्रकृति, स्यात = होती है । अपि=और, अत्र=इस विषय में, साहाय्ये=सहायता मिल जाने पर, पुनः=फिर, कि वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥८१॥

भावार्थ —महापुरुष जिस कार्य मे हाथ लगाते है उससे स्वयं पीछे नही हटत, फिर यदि कोई सहायक मिल जावे तब तो उनका साहस और बढ़ जाता है, तदनुसार जीवन्धर महाराज एक तो स्वय ससार से उदास थे और साथ ही उन्हे अनुप्रक्षाओं का चिन्तवन सहायक बन गया; जिससे उनका वैराग्य और भी दृढ़ हो गया ॥८१॥

विरक्तो राज्यमन्यच्च, न तृणायाप्यमन्यत ।
हस्तस्थे ऽप्यमृते को वा, तिक्तसेवापरायणः ॥८२॥

अन्वयार्थौ—विरक्तः=संसार से उदासीन सः=वह जीवन्धर महाराज, राज्यम्=राज्य को, च=और अन्यत्=अन्य सब पदार्थों को, तृणाय=तृण के समान, अपि=भी, न अमन्यत=नहीं मानता हुआ । नीतिः-वा=क्योंकि, अमृते=अमृत के, हस्तस्थे=हाथ पर स्थित होने पर, तिक्तसेवापरायणः = कड़वी वस्तु के सेवन में तत्पर, कः=कौन, स्यात्=होगा ? ॥८२॥

भावार्थः—वैराग्य उत्पन्न होने पर जीवन्धर महाराज राज्यादि पदार्थों को तृण से भी तुच्छ समझने लगे। ठीक ही है, क्योकि हाथ मे अमृत आजाने पर कड़वी वस्तु की चाह कोई भी नही करता, तदनुसार जब जीवन्धर को साक्षात् मोक्ष के कारण जुट रहे थे, तब वे संसार के कारण राज्यादि मे प्रेम कैसे कर सकते थे ? ॥८२॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, सम्पूज्य परमेश्वरम् ।
योगीन्द्रादश्रणोद्धर्म—मधीती जिनशासने ॥८३॥

अन्वयार्थौ—ततः=वैराग्य के बाद, जिनशासने=जैनशास्त्रों में, अधीती = निपुण जीवन्धर महाराज, तस्मात्=उस बगीचे से, निर्गत्य=लौटकर, परमेश्वरम्=जिनेन्द्र भगवान् को, सम्पूज्य=पूज कर, योगीन्द्रात् = किसी चारण ऋद्धिधारक मुनि से, धर्मम्=धर्म को, अश्रृणोत्=सुनते हुये ॥८३॥

भावार्थः—जैनधर्म के ज्ञाता जीवन्धर महाराज ने वैराग्य उत्पन्न होने के बाद उस बगीचे से लौट किसी जिनालय में पहुँच कर भगवज्जिनेन्द्र की पूजा की, पश्चात् वही पर किसी चारण ऋद्धिधारक मुनिराज से धर्मश्रवण किया ॥८३॥

धर्मश्रुते बभूवायं, धार्मविद्योऽतिनिर्मलः ।
अत्युत्कटो हि रत्नांशु—स्तज्ज्ञवेकटकर्मणा ॥८४॥

अन्वयार्थौ—अयम्=ये जीवन्धर, धर्मश्रुतेः=धर्मश्रवण से, अतिनिर्मलः=अत्युत्तम, धार्मविद्यः=धर्मविद्या के जानकार, बभूव=हो गये। नीतिः-हि=क्योंकि, तज्ज्ञवेकटकर्मणा=रत्नशुद्धि के जानकार जोहरी की क्रिया से, रत्नांशुः=रत्न की दीप्ति, अत्युत्कटः=अतिशय उज्वल, (स्यात्=हो जाती है) ॥८४॥

भावार्थः—जैसे रत्न एक तो स्वयं चमकदार होता है, दूसरे चमकदमक लाने मे चतुर कोई जोहरी शाण पर रख कर उसे घिस दे, तो वह और भी चमकदार हो जाता है, उसी प्रकार जीवन्धर महाराज एक तो स्वय जैनधर्म के ज्ञाता थे और मुनिराज के धर्मश्रवण करने से उनके ज्ञान में सुवर्ण में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हुई ॥८४॥

पुनश्चारणयोगीन्द्रः, पूर्वजन्मबुभुसन्या ।
भूपेन परिपृष्टोऽय—माचष्टास्य पुराभवम् ॥८५॥

अन्वयार्थौ—पुनः=पश्चात्, पूर्वजन्मबुभुत्सया=पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जानने की इच्छा से, परिपृष्टः=पूछे गये, अयम्=ये, चारणयोगीन्द्रः=चारण ऋद्धिधारक मुनिराज, अस्य=इन जीवन्धर महाराज के, पुराभवम्=पूर्वजन्म के वृत्तान्त को, आचष्ट=कहने लगे।

भावार्थः—जीवन्धर महाराज ने धर्मश्रवण के बाद उन चारण ऋद्धिधारक मुनिराज से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त पूछा, तब मुनिराज भी उनके पूर्व जन्म के वृत्तान्त को निम्न-प्रकार कहने लगे ॥८५॥

भूपेन्द्र ! धातकीखण्डे, भूभ्यादितिलके पुरे ।
सूनुः पवनवेगस्य, राज्ञोऽभूस्त्वं यशोधरः ॥८६॥

अन्वयार्थौ—भूपेन्द्र=हे राजन्, त्वम् = तू, धातकीखण्डे= धातकीखण्ड द्वीप में, भूम्यादितिलके=भूमितिलक नामक, पुरे= नगर में, पवनवेगस्य=पवनवेग नामक, राज्ञः=राजा के, यशोधर = यशोधर नामक, सूनुः=पुत्र, अभूः=थे ॥८६॥

भावार्थः—हे राजन् ! तुम अपने पूर्वभव में धातकीखण्ड द्वीप के भूमितिलक नगर मे पवनवेग राजा के यशोधर नामक सुपुत्र थे ॥८६॥

राजहंस ! कदाचित्त्वं, राजहंसस्य शावकम् ।
नीडात्क्रीडार्थमानीय, निरवद्यमवीवृधः ॥८७॥

अन्वयार्थौ—राजहंस=हे राजोत्तम, त्वम्=तू, कदाचित्=किसी समय, (स्वस्य=अपने), क्रीडार्थम्=खेलने के लिये, राजहंसस्य=राजहंस के, शावकम्=बच्चे को, नीडात्=घोंसले से, आनीय=लाकर, निरवद्यं यथा स्यात्तथा=भले प्रकार, अवीवृधः=पालन पोषण करते थे।

भावार्थः—हे राजन् ! एक समय तुम किसी राजहंस के बच्चे को अपने मनोविनोद के लिये घोंसले से लाकर उसका भलीप्रकार पालन पोषण करने लगे ॥८७॥

तत्कुतोऽपि समाकर्ण्य, धार्मविद्यः स ते पिता ।
तदा धर्ममुपादिक्षद्—यतोऽभूरतिधार्मिकः ॥८८॥

अन्वयार्थौ—(च=और), तदा=उस समय, ते=तुम्हारा सः=प्रसिद्ध वह, धार्मविद्यः=धर्म का ज्ञाता, पिता=पिता, कुतः=किसी से, तत्=उस समाचार को, समाकर्ण्य=सुनकर, (त्वाम्=तुमको), धर्मम्=धर्म का (द्विकर्मकत्वादत्र द्वितीया), उपादिक्षत्=उपदेश देता हुआ। यतः=जिससे, त्वम्=तुम, अतिधार्मिकः=अतिशय धर्मात्मा, अभूः=होगये ॥८८॥

भावार्थः—यह समाचार जब तुम्हारे पिता को किसी प्रकार मालूम हुआ, तब उन्होंने तुम्हें बहुत समझाया, जिससे तुम भी अपनी उस हरकत को छोड़ कर संसार से उदासीन हो गये ॥८८॥

निवारितोऽपि पित्रा त्व—मतिनिर्वेदतस्ततः ।
जातरूपधरो जातः, स्त्रीभिरष्टाभिरन्वितः ॥८९॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, पित्रा=पिता के द्वारा, निवारितः=रोके गये, अपि=भी, त्वम्=तुम, अतिनिर्वेदतः=अत्यन्त

वैराग्य के कारण, अष्टाभिः=आठ, स्त्रीभिः=स्त्रियों से, अन्वितः = युक्त, जातरूपधरः=दिगम्बर मुनि, जातः=होगये ॥८९॥

भावार्थ—उस समय तुम्हारे पिता पवनवेग ने विरक्त होने से तुम्हें आग्रहपूर्वक रोका पर तुम न माने और दिगम्बर मुनि वन गये तथा अपनी आठों स्त्रियों को तुमने भी आर्यिका के व्रत ग्रहण करा दिये ॥८९॥

घोरेण तपसा लब्ध्वा, देवत्वं च त्रिविष्टपात् ।
अष्टाभि' स्त्रीभिरेताभि—रत्राभू भव्यपुङ्गव ! ॥९०॥

अन्वयार्थौ—भव्यपुंगव = हे भव्योत्तम !, (ततः=इसके वाद, त्वम्=तुम), घोरेण=घोर, तपसा=तप के द्वारा, देवत्वम्=देवपर्याय को, लब्ध्वा=पाकर, त्रिविष्टपात्=स्वर्ग से, (च्युत्वा=चय कर), एताभिः= इन, अष्टाभिः=आठ, स्त्रीभिः=स्त्रियों के साथ, (विनापि सहयोगे तृतीया, वृद्धो यूनेत्यादिनिर्देशात्), अत्र=यहां पर, अभू =उत्पन्न हुये हो ॥९०॥

भावार्थः—हे भव्योत्तम ! दीक्षा लेने के वाद आपने घोर तप किया जिसके प्रभाव से आप वैमानिक देव हुये और फिर वहां से चय कर उन आठ स्त्रियो के साथ यहां पर उत्पन्न हुये हैं।

स्वपदाद्बालहंसस्य, पितृभ्यां च पुराभवे ।
वियोजनाद्वियोगस्ते, वन्धोऽभूदिव वन्धनात् ॥९१॥

अन्वयार्थौ—(अतएव), पुराभवे = अपने पूर्वभव में, वाल-हंसस्य=हंस के वच्चे के, स्वपदात्=उसके निजी स्थान से, च = और, पितृभ्याम्=माता पिता से, वियोजनात् = वियोग कराने से, ते=तेरे, वियोगः=उन तीनों से वियोग,' च=और, तस्य=उस हंस के, वंधनात् इव=वन्धन में डालने के समान, ते=तेरे,'वन्धः=वन्धन, अभूत्= हुआ है ॥९१॥

भावार्थः—हे राजन् ! तूने उस हंस के वच्चे का स्थान

और माता पिता से वियोग कराया था इसीकारण तेरा भी राज्य और माता पिता से वियोग हुआ, तथा तुमने उसे बंधन में भी डाला था इसीकारण तुम स्वयं बन्धन को प्राप्त हुये थे ॥९१॥

इति योगीन्द्रवाक्येन, भोगीव पविपाततः ।
भीतो राज्यादयं राजा, प्रणम्य स्वपुरीमयात् ॥९२॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, योगीन्द्रवाक्येन = मुनिराज के वचन से, पविपाततः = बिजली के गिरने से, भीत = डरे हुये, भोगी इव = सर्प के समान, राज्यात् = राज्य से, भीत = भयभीत, अयम् = यह, राजा = महाराज जीवन्धर, प्रणम्य = नमस्कार कर, स्वपुरीम् = अपनी नगरी को, अयात् = गये ॥९२॥

भावार्थ—जैसे बिजली के गिरने से सर्प भयभीत हो जाता है, उसी प्रकार मुनिराज के पूर्वोक्त वचन से जीवन्धर महाराज भी राज्य से भयभीत हो गये और मुनिराज को नमस्कार कर अपने नगर को चले गये ॥९२॥

सद्धर्मामृतपानेन, सानुजास्तस्य वल्लभाः ।
विषप्रख्यममन्यन्त, तत्सौख्यं विषयोद्भवम् ॥९३॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उन जीवन्धर की, सानुजाः = छोटे भाई सहित, वल्लभाः = आठों स्त्रियां, तत् = उस प्रसिद्ध, विषयोद्भवम् = इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न हुये, सुखम् = सुख को, सद्धर्मामृतपानेन = समीचीन धर्मरूपी अमृत के पान से, विषप्रख्यम् = विष के समान, अमन्यन्त = समझने लगीं ॥९३॥

भावार्थ—जीवन्धर महाराज का ललनावर्ग और भाई नंदाढ्य भी मुनिराज के द्वारा दिये गये धर्मामृत को पीकर विषयजन्य सुखों को विष के समान दुखदायक (हेय) समझने लगे ॥९३॥

तत्र गन्धर्वदत्तायाः, पुत्रं सत्यंधराह्वयम् ।
अभिषिच्य ततस्ताभिः, प्रापदास्थायिकां कृती ॥९४॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, कृती = बुद्धिमान् जीवन्धर महाराज, तत्र = उस राज्य कर्म में, गन्धर्वदत्तायाः = गन्धर्वदत्ता के, सत्यन्धराह्वयम्=सत्यन्धर नामक, पुत्रम्=पुत्र को, अभिषिच्य=अभिषिक्त करके, ताभिः=-उन स्त्रियों के साथ, आस्थायिकाम् = समवसरण सभा को, प्रापत = प्राप्त हुये ॥९४॥

भावार्थ —जीवन्धर महाराज ने घर पहुंचने पर अपनी अनन्य प्रिया गन्धर्वदत्ता के सुपुत्र सत्यन्धर को राज्य सौंप दिया और आप अपनी आठों ललनाओं के साथ श्रीमहावीर स्वामी के समवसरण मे जा पहुंचे ॥९४॥

श्रीसभायां समभ्येत्य, श्रीवीरं जिननायकम् ।
पूजयामास पूज्यो ऽय—मस्तावीच पुन. पुनः ॥९५॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, पूज्यः = माननीय, अयम् = ये जीवन्धर महाराज, श्रीसभायाम् = समवसरणसभा में, समभ्येत्य = पहुँच कर, जिननायकम् = जिनेन्द्रवर, श्रीवीरम् = श्री महावीरस्वामी को, पूजयामास = पूजते हुये, च = और, पुन पुनः = वार वार, अस्तावीत् = स्तवन करते हुये ॥९५॥

भावार्थः—महाराज जीवन्धर ने समवसरण मे पहुंच कर श्रीमहावीरस्वामी की पूजा कर निम्नप्रकार स्तुति की ॥९५॥

भगवन्भवरोगेण, भीतो ऽहं पीडितः सदा ।
त्वय्यकारणवैद्ये ऽपि, सद्या किं तस्य कारणा ॥९६॥

अन्वयार्थौ—भगवन् = हे भगवन् !, अहम्=मैं, भवरोगेण= संसाररूपी रोग से, सदा = हमेशा से, पीडितः = दुखी, (च = और), भीतः = भयभीत, अस्मि = हूं, (अधुना = अब), त्वयि = तुम जैसे,

अकारणवैद्ये = निस्वार्थ वैद्य के मिलने पर, अपि = भी, तस्य = उसकी, कारणा = तीव्र वेदना, सह्या किम् = सहने योग्य है क्या ? अपि तु न ।

भावार्थः—हे भगवन् ! मैं इस संसार में जन्म और मरण रूपी रोग से चिरकाल से ग्रस्त और भीत हूँ । अब सर्वथा निरपेक्ष और जन्मादिरोगनाशक आप जैसे वैद्य को पाकर भी मेरे उस रोग का बना रहना उचित नहीं । इसलिये मेरी इस पीडा को शीघ्र दूर करें ॥९६॥

त्वं सार्वं सर्वविद्देव !, सर्वकर्माणि कर्मठः ।
भव्यश्चाहं कुतो वा मे, भवरोगो न शाम्यति ॥९७॥

अन्वयार्थौ—देव = हे भगवन् !, त्वम् = तुम, सार्वः = सब के हितकारी, सर्वचित् = सब पदार्थों के ज्ञाता दृष्टा, च = और, सर्वकर्मणि = सर्व कार्यों के करने में, कर्मठः = समर्थ, (असि = हो, तथा = और), अहम् = मैं, च = भी, भव्यः = भव्य, (अस्मि = हूँ, पुनः = फिर), मे = मेरा, भवरोगः = सांसारिक रोग, कुतः = क्यों, न शाम्यति = शान्त नहीं होता है ? ॥९७॥

भावार्थ—हे भगवन् ! आप सबके हितकारक, सब वस्तुओं के ज्ञाता दृष्टा और सर्व कर्मों के नाश करने में प्रवीण हैं, और मैं भी भव्य हूँ फिर आप मेरा सांसारिक रोग क्यों नष्ट नहीं करते हैं ? ॥९७॥

निर्मोह ! मोहदावेन, देहजीर्णोरुकानने ।
दह्यमानतया शश्वन्-मुह्यन्तं रक्ष रक्ष माम् ॥९८॥

अन्वयार्थौ—निर्मोह = हे मोहरहित भगवन् !, देहजीर्णोरुकानने = शरीररूप पुराने गहन वन में, मोहदावेन = मोहरूपी दावानल से, दह्यमानतया = जलने के कारण, शश्वत् = सदा, मुह्यन्तम् = मोहित, माम् = मुझ को, रक्ष रक्ष = बचाओ ॥९८॥

भावार्थः—हे भगवन् ! जैसे कोई प्राणी किसी पुराने

वन में दावानल से जलता है, उसी प्रकार मैं भी इस शरीररूप वन में मोहाग्नि से जल रहा हूँ और आप मोह के नाश करने में शूरवीर हैं, इसलिये मेरे मोह का नाश कर मेरी भी रक्षा कीजिये ॥९८॥

संसारविषवृक्षस्य, सर्वापत्फलदायिनः ।
अंकुरं रागमुन्मूलं, वीतराग ! विधेहि मे ॥९९॥

अन्वयार्थौ—वीतराग = रागद्वेष रहित भगवन् !, सर्वापत्फल-दायिनः = सब प्रकार की आपत्तिरूप फल के देने वाले, संसारविष-वृक्षस्य = संसाररूपी विषवृक्ष के, अंकुरम् = अंकुर के समान, मे = मेरे, रागम् = रागभाव को, उन्मूलम् = जड़रहित, विधेहि = कीजिये ॥९९॥

भावार्थ.—हे भगवन् ! जैसे विषवृक्ष का अंकुर वृद्धिङ्गत होने पर प्राणनाशक फल को देता है, उसी प्रकार मेरा रागभाव भी संसाररूपी वृक्ष को बढ़ा कर अनेक प्रकार विपत्तिरूप फलों को देता है, इसलिये कृपाकर आप मेरे उस राग को नष्ट कीजिये।

कर्णधार ! भवार्णोधे—र्मध्यतो मज्जता मया ।
कृच्छ्रेण बोधिनौर्लब्धा—भूयान्निर्वाणपारगा ॥१००॥

अन्वयार्थौ—कर्णधार = हे जगत्तारक भगवन् !, भवार्णोधेः = संसाररूपी समुद्र के, मध्यतः = बीच में, (क्वचित् सप्तम्यर्थेऽपि तसिल्) मज्जता = डूबते हुये, मया = मेरे द्वारा, कृच्छ्रेण = कठिनाई से, लब्धा = प्राप्त की गई, बोधिनौ. = रत्नत्रयस्वरूप नौका, मे = मेरे लिये, निर्वाण-पारगा = मोक्षरूपी दूसरे किनारे पर पहुँचाने वाली, भूयात् = हो ॥१००॥

भावार्थः—हे भगवन् ! जैसे समुद्र में डूबता हुआ कोई मनुष्य कर्मोदय से किसी नौका को प्राप्त कर ले, किन्तु यदि खेवटिया न मिले, तो पार नहीं हो पाता, उसी प्रकार मैं भी संसाररूपी समुद्र में डूब रहा था, परन्तु अब इससे पार होने

के लिये मुझे रत्नत्रय-रूप नौका प्राप्त हो चुकी है, पर चतुर खेवटिया के विना पार कैसे होऊं ? किन्तु आप ससार से पार करने कराने में चतुर हैं, इसलिये कृपया मुझे भी संसार से पार लगाइये ॥१००॥

इति स्तोत्रावसाने च, लब्ध्वायं त्रिजगद्गुरोः ।
अनुज्ञा जिनदीक्षाया-मानमद्गणनायकम् ॥१०१॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर महाराज, त्रिजगद्गुरोः = त्रिलोक के गुरु महावीर स्वामी के, इति = पूर्वोक्त, स्तोत्रावसाने = स्तवन के अन्त में, अनुज्ञाम् = अनुमति को, लब्ध्वा = पाकर, जिन-दीक्षायाम् = जिनदीक्षा लेने के प्रारम्भ में, गणनायकम् = गणधरदेव को, आनमत् = नमस्कार करता हुआ ॥१०१॥

भावार्थ—जीवन्धर महाराज ने समवसरण-नायक श्रीमहावीर स्वामी की स्तुति के वाद उनकी अनुमति पाकर अपनी मुनिदीक्षा के प्रारम्भ में दीक्षादायक गणधरदेव को नमस्कार किया ॥१०१॥

प्राज्ञः प्रव्रज्य तत्पार्श्वे, तपस्तेपेऽतिदुश्चरम् ।
येन कर्माष्टकस्यापि, नष्टता स्याद्यथाक्रमम् ॥१०२॥

अन्वयार्थौ—प्राज्ञः = बुद्धिमान् जीवन्धर महाराज, प्रव्रज्य = दीक्षाधारण करके, तत्पार्श्वे = उन महावीर स्वामी के निकट में, येन = जिस तप के द्वारा, कर्माष्टकस्य = आठों कर्मों का, नष्टता = नाश, अपि = भी, स्यात् = होता है, (एवम्भूतम् = ऐसे), अतिदुश्चरम् = अतिशय कठोर, तपः = तप, तेपे = तपते हुये ॥१०२॥

भावार्थः—उन जीवन्धर महाराज ने दीक्षाधारण कर श्री महावीर स्वामी के निकट अष्टकर्मनाशक घोर तपश्चरण किया ॥१०२॥

श्रीरत्नत्रयपूर्त्याथ, जीवन्धरमहामुनिः ।
अष्टाभिः स्वगुणैः पुष्टो ऽनन्तज्ञानसुखादिभि ॥१०३॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, जीवन्धरमहामुनिः=जीवन्धर नामक मुनिवर, श्रीरत्नत्रयपूर्त्या=सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की पूर्णता से, अनन्तज्ञानसुखादिभिः=अनन्तज्ञान और अनंत-सुख आदिक, अष्टाभिः=आठ, स्वगुणैः=आत्मगुणों से, पुष्टः=परिपूर्ण, (अभूत=हुये) ॥१०३॥

भावार्थ—मुनिवर जीवन्धर ने तपश्चरण के प्रभाव से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर केवल सम्यक्त्व, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्यत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों को प्राप्त किया ॥१०३॥

सिद्धो लोकोत्तराभिख्यां, केवलाख्यामकेवलाम् ।
अनुपमामनन्तां ता—मनुवोभूयते श्रियम् ॥१०४॥

अन्वयार्थौ—सिद्धः=सिद्ध, (सन्=होते हुये), सः=वे मुनिवर, लोकोत्तराभिख्याम्=सर्वलोक में उत्कृष्ट, अनुपमाम्=उपमारहित अनन्ताम्=अनंत, अकेवलाम्=मुख्य, ताम्=उस प्रसिद्ध, केवलाख्याम्=अनन्य, श्रियम्=मोक्षस्वरुप लक्ष्मी को, अनुवोभूयते=अनुभव करते हैं ॥१०४॥

भावार्थः—मुनिवर जीवन्धर महाराज सिद्धपद प्राप्त कर लोकोत्तर, अनुपम, अनन्त और केवलज्ञान मय मोक्षलक्ष्मी का अनुभव करते हैं तथा कभी भी उससे विहीन न होंगे ॥१०४॥

एवं निर्मलधर्मनिर्मितमिदं, शर्म स्वकर्मक्षय-
प्राप्त प्राप्तुमतुच्छमिच्छतितरां, यो वा महेच्छो जनः ।

सो ऽयं दुर्मतकुंजरप्रहरणे, पञ्चाननं पावनं-
जैनं धर्ममुपाश्रयेत मतिमान् निश्रेयसः प्राप्तये ॥

अन्वयार्थौ—यः = जो, महेच्छः = महाशय, जनः = पुरुष, एवम् = इस प्रकार, निर्मलधर्मनिर्मितम् = पवित्र धर्म के धारण करने से उत्पन्न, स्वकर्मक्षयप्राप्तम् = अपने कर्मों के नाश से प्राप्त, अतुच्छम् = महान्, इदम् = इस, शर्म = सुख को, प्राप्तुम् = पाने के लिये, इच्छतितराम् = अतिशय इच्छा करता है, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, मतिमान् = बुद्धिमान् पुरुष, निश्रेयसः = मोक्ष के, प्राप्तये = पाने के लिये, दुर्मतकुञ्जरप्रहरणे = मिथ्यामतरूपी हस्तियों के नष्ट करने के विषय में, पंचाननम् = सिंह के समान, च = और, पावनम् = पवित्र, जैनम् = जैन, धर्मम् = धर्म को, उपाश्रयेत = धारण करे ॥१०५॥

भावार्थ—जो महापुरुष अष्टकर्मरहित, अनन्त और लोकोत्तर मोक्षसुख की चाह करते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे दुर्मटरूपी हस्तियो के नाश करने मे समर्थ सिंह के पवित्र जैन-धर्म को धारण करे ॥१०५॥

राजतां राजराजो ऽयं, राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शूर, क्षत्रचूडामणि गुणैः ॥१०६॥

अन्वयार्थौ—महोदयैः = विशाल ऐश्वर्य से, राजराजः = कुवेर के समान, तेजसा = तेज से, (च = और,) वयसा = युवावस्था से, शूरः = शूरवीर, तथा, गुणैः = महागुणों से, क्षत्रचूडामणिः = मुकुट में मणि के समान क्षत्रियों में प्रमुख, अयम् = ये, राजराजः = महाराज जीवन्धर, राजताम् = परमैश्वर्य को प्राप्त हुये हैं ॥१०६॥

भावार्थः—जो ऐश्वर्य की अपेक्षा कुवेर के समान, तेज और जवानी की अपेक्षा शूरवीर के समान तथा क्षत्रियो मे प्रधान थे वे जीवन्धर पूर्वोक्त रीति से परमैश्वर्य को प्राप्त हुये हैं ॥१०६॥

समाप्तो ऽयं ग्रन्थः क्षत्रचूडामणिः । ८७

क्षत्रचूडामणेः टिप्पण्यः

अथ पंचमलम्बस्य टिप्पण्यः

१—कृच्छ्रेण लभ्यते इति दुर्लभः 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्'. लब्धमित्यत्र सामान्ये नपुँसकत्वम्। कारणशब्दः नित्यनपुँसकलिंगः। २—तिर्यञ्च्शब्दस्य षष्ठ्येकवचने तिरश्चामिति।३ —'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः, इति सूत्रेण स्वामिन्-शब्दात् चतुर्थी। ४—अनङ्गमालानाम वारविलासिनी। पंचम्यर्थे तसिल्प्रत्ययः। 'पद्दन्नोमास्, इत्यादि सूत्रेण हृदयस्य हृदादेशः। वनमोकः स्थानमेषां ते वनौकसः, तेषां वनौकसाम्। ६—क्लृपि सपद्यमाने च, इति वार्तिकेन चतुर्थी। ७—हस्तेन ग्रहीतुं इति विग्रहे 'हस्ते वर्तिग्रहोः, इति णमुल्। 'एतत्तदोः सुलोपो ऽ कोरनञ्समासे हलि, इति सुलोपः। ८—'अभितः परितः' इत्यादिना मृगेन्द्रशब्दात् द्वितीया। १०—न पतन्ति पितरो ऽ नेनेत्यपत्यम्। १२—आहेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्। १३—'लुङि च, इत्यने लुङि हनो वधादेशः। १४—पूर्वार्धे कर्मप्रयोगः। १५—सूनृतशब्दः नित्यनपुंसकलिंगः। १७—समं वर्तितुं शीलमस्येति समवर्ती, 'सुप्यजातौ' इत्यादिना णिनिः। १८—यथाश्रुतमित्यत्र 'अव्यय विभक्ति' इत्यादिना समासः। १९—हेत्वन्तरेषु कृता उपेक्षा ययोस्ते हेत्वन्तरकृतोपेक्षे, गुणदोषाभ्यां प्रवर्तिते गुणदोषप्रवर्तिते, आदानं च हानञ्च आदानहाने। कारणान्तरसापेक्षत्वमन्तरेण गुणैकपक्षपातितया गुणग्रहणं तथा तद्विपरीते दोषे वैरस्येन तन्निरसनं च सौजन्यलक्षणमिति भावः। २०—युक्त चायुक्तं च युक्तायुक्ते, तयो र्वितर्के विचारे। तर्कैः तादृशयुक्तविचारैः, रूढः जातप्रतिष्ठः, तस्मिन् विधौ विधाने। २१—अनुजेन सहिताः सानुजाः। २२—'अधोगर्यदयेशां

कर्मणि, इत्यनेन षष्ठी । २३—मनसि भवं मानसम् । २४—'अकथितं च' इत्यनेन गौणकर्मार्थे स्वमन्दिरशब्दस्य कर्मसंज्ञा । २५—अन्यदित्यत्र अन्यशब्दः अद्वड्डतरादिभ्यः, इत्यादिना सोरद्दडादेशः । २७—दानार्थ-कधातुयोगे चतुर्थी । २८—समयवाचकशब्दात् तृतीया । ३१—झासीत् = हितकृत्त्वम् 'झयोहो ऽन्यतरस्याम्' इति हस्य धः । ३२—इतः ततः इत्यत्र 'क्वचित्सप्तम्यर्थेऽपि तसिल्' इति सप्तम्यर्थे तसिल् । ३६—शोभनाः कृतयो येषां ते सुकृतय, तेषां सुकृतीनाम् । ३८—'भो भगो' इत्यादिसूत्रेण अश्प्रत्याहारपरे अकारपूर्वकस्य विसर्गस्य (रोः) यकारो भूत्वा 'हलि सर्वेषाम्' 'लोपः शाकल्यस्य' इति सूत्रेण वा लोपो जायते, यथा 'समभावा हि' इत्यादि । ३९—उत्तरार्धे भावप्रयोगः । ४०—'कशिपु त्वन्नमाच्छादनं द्वयम्' इत्यमरः । ४१—'स्पृहेरीप्सितः' इत्यनेन चतुर्थी । सन्तु इत्यत्र अस्धातुः 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः । 'स्पृहिगृहि' इत्यालुच्प्रत्ययः ।

अथ षष्ठलम्बस्य टिप्पण्यः

२—'तदधीनवचने' इत्यनेन अधीनार्थे सातिप्रत्यय. । ३—पूर्वार्धे कर्मप्रयोगः । गवेषिन्शब्दः । ४—'गत्वरश्च' इत्यनेन गम्धातोः क्वरप्प्रत्ययः निपातनादनुनासिकलोपश्च । ५—वस्धातोः क्तप्रत्यये सम्प्रसारणे मूर्धन्यादेशे इडागमे 'उषिता' इति रूपम् । ७—यष्ट्वा यष्ट्वा इति विग्रहे 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इत्यने णमुल्प्रत्ययः नित्यवीप्सयोः इति द्वित्वम् । ८—'सार्वा.' सर्वस्मै हिताः इति विग्रहे 'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' इति णप्रत्यय । निर्व्याजमिति क्रियाविशेषणम् । ९—पूर्वार्धे भावप्रयोगः, उत्तरार्धे तु कर्मप्रयोगः । १०—परस्य अर्थः परार्थः, तस्मिन् साधु परार्थ्यम् । स्यात् = न 'यरो ऽ नुनासिके ऽ नुनासिको वा' । ११—हिन्स्धातोः लिङ्लकारः । भूतशब्दो नपुंसकलिङ्ग । १४—तपस्शब्दः

सान्तः नपुंसकलिंगश्च । १७--ग्रन्थान् परिग्रहान् अनुबध्नातीति ग्रन्थानुबन्धी । १९—जीवादीनां तत्त्वानां याथात्म्यस्य निश्चयः जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः । २०--जीवाजीवास्रवा बन्ध-संवरावपि निर्जरा । मोक्षश्चेतीह तत्त्वानि, सप्त स्यु र्जिनशासने ॥ बन्धान्तर्भाविनो पुण्य-पापयोः पृथगुक्तितः । पदार्था नव जायन्ते, तान्येव भुवनत्रये ॥ २१—अनगारं व्रतं द्वेधा, बाह्याभ्यन्तरभेदतः । षोढा बाह्यं जिनैः प्रोक्त, तावत्संख्यानमान्तरम् ॥ वृत्तिसख्यानमौदर्य–मुपवासो रसोज्झनम् । रहःस्थितितनुक्लेशौ, षोढा बाह्यमिति व्रतम् ॥ स्वाध्यायो विनयो ध्यान, व्युत्सर्गो व्यावृतिस्तथा । प्रायश्चित्तमिति प्रोक्तं, तपः षड्विधमान्तरम् ॥ २३—आप्ताभासादयः मिथ्यादेवादयः गोचराः विपयाः यस्य तत् । २५—अवलम्बनशब्दः नित्यनपुंसकलिंगः; एकवचनश्च । २८—मत्ते एव इत्यत्र अयादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोप । ३३—पथि सप्तम्येकवचनम् । सज्ज्ञानमिति रूपान्तरम् । 'दीपिका हस्तदीपः स्यात्' इति वैजयन्ती । संसारस्यावधिः अन्तः समाप्तिः=मोक्षः, तस्य वर्धिनी= प्रकाशिका । ३५—न एक एव अन्तः परिच्छेदः यस्य तत्\ अनेकान्त= स्याद्वादमतम् । ३७—सातिप्रत्यय. । ३८—पिप्रिये इत्यत्र प्रीधातुः लिट्लकारः प्रथमपुरुषैकवचन च । ४०—कृता त्वरा येन सः कृतत्वर., बहुव्रीहौ पुंवद्भावः । ४२—सा च स च तौ, तयोः तयोः । ४३— गणधातोः लुङि प्रथमपुरुषैकवचनम् । ४४—कृते इत्यव्ययम् । ४५— 'स्वामिने' इत्यत्र द्विकर्मकताकार्यं कथं नेति चिन्त्यम् (!) प्रयोगस्तु भवत्येव । ४६—क्षणम्=उत्सवः । ४७—वैश्यराट् जकारान्तस्येदं रूपम् । रक्तकमलं सुन्दरं सुगन्धितं च वरीवर्तते । ४८—परस्मिन् परस्मिन् इति विग्रहे कर्मव्यतिहारे इत्यादिना तद्धिते द्वित्वम् । ४९— सप्तभिः पदैः निर्वृत्तम् इति विग्रहे 'साप्तपदीनं सख्यम्' इति सूत्रेण सिद्धिः ।

———

अथ सप्तमलम्बस्य टिप्पण्यः

१—'सहार्थेन' इति सूत्रेण साकशब्दयोगे तृतीया। २—गणानां बहूनां रात्रीणां समाहारः गणरात्रम्; गणशब्दस्य संख्यावाचित्वात् द्विगुसमासः। ३—ग्रहीतः पाणि' अस्याः पाणिग्रहीती 'पाणिग्रहीती भार्यायाम्' इति ङीप्। ६—दाधातुयोगे चतुर्थी। '७—सतां निधिः, तस्य सन्निधेः। ११—कृपिरस्यास्तीति कृषीवलः, 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' इति वलच्प्रत्ययः 'वले' इति दीर्घः। १२—असिमसिकृषि-वाणिज्यशिल्पभेदात् षट्कर्माणि। १३—न उत्तरं प्रधानं यस्मात् तत् अनुत्तरम् सर्वोत्कृष्टम्। १५—अत्र श्लोके स्वपरद्रव्ययोः लक्षणं प्रोक्तम्। १६—देहकशब्दे स्वार्थे कप्रत्ययः। १९—अनगारेण महाव्रतेन सहिताः सानगारा' = यतयः। अगारं गृहमस्ति एषाम् अगारिणः। २०—वारण-पर्याणम् = गजपल्ययनम्। २३—हिंसानृतस्तेयवधूव्यवाय-परिग्रहेभ्यो विरति कश्चित्। मद्यस्य मांसस्य च माक्षिकस्य, त्यागस्तथा मूलगुणाः इमेऽष्टौ॥ जी. च का। २५—विनापि सहयोगे तृतीया 'वृद्धो यूना' इत्यादि निर्देशात्। २७—अन्यत. इत्यत्र सप्तम्यर्थे तसिल्प्रत्ययः। २८—धर्मशब्द ग्राह्यशब्दश्चात्र 'कर्म' विद्यते; न तु कर्त्ता, अन्यथा 'ग्राह्यो धर्म अगारिणाम्' एव चरणेन भाव्यम्। ३२—तस्य स्मृत्वैव, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति षष्ठी। ३३—निपूर्वकसद्धातो क्तप्रत्यये 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः, इत्यनेन धत्वे दत्वे ततः परसवर्णे मूर्धन्यादेशे णत्वे च कृते निषण्णः इति। ३५—वृषं पुरुषमात्मार्थम् इच्छतीति वृषस्यन्ती = कामुकी, क्यचि; असुगागमे शत्रादेशे 'उगितश्चे' ति ङीप्। ३९—व्यूहम् अतर्क्यम्। ४०—मांसलशब्दे 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः। ४१—क्वचित् एतद्विरुद्धोऽपि श्लोकः दृश्यते। ४२—'विनापि सहयोगे तृतीया, वृद्धो यूना इत्यादि निर्देशात्'। ४३—यातुम् इति तुमुन्प्रत्ययान्तप्रयोगः। ४५—वैषयिकाधारः। ४६—'हुझल्भ्यो हे र्धिः। ४८—पूर्वार्धे कर्मप्रयोगः। ४९—मायामयी'

मयट्प्रत्ययः, टित्वात् ङीप् । ५०—'आह' इति ब्रूधातोः लिटि प्रथमपुरुषैकवचनम् । 'बिभ्यति प्र. पु बहुवचनरूपम् । ५१—'अद्राक्ष-मिति' लुङि उत्तमपुरुषैकवचनम् । पूर्वं प्रस्थितः पश्चादागतः । ५३—'झयोहो ऽन्यतरस्याम्'। ५४—स विपश्चित् 'एतत्तदोःसुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि । पश्चिममपकृष्टं न भवतीत्यपश्चिमम् = उत्कृष्टमित्यर्थः । ५९—निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः । ७१—विसंवाद = प्रतिषेधोक्तिः । ७६—अवंचितमिति क्रियाविशेषणम् । सो ऽध्यापयदवंचितम् इति पाठान्तरम् । ७७—'दोग्ध्री' इत्यत्र दुह्धातोः तृन्प्रत्यय 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' । ७८—पारं दृष्टवान् इति पारदृश्वा 'दृशेः कर्मणि भूते क्वनिप्-प्रत्ययः । ७९—धात्रिपः-ङयापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वादेश' । ८२—तृणाय मन्यन्ते ''मन्यकर्मण्यनादरे विभाषा अप्राणिषु, इत्यनादरे चतुर्थी तृणवत् इत्यर्थ' ।

अथ अष्टमलम्बस्य टिप्पण्यः

२—'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच् । ३—क्षणमिवा-चरतीति क्षणायते । ५—प्रष्टुः–ऋकारान्तपृष्टशब्दस्य षष्ठ्येकवचनरूपम् 'ऋत उत्' । ८—आयात इति 'भोभगो०' इति यकारे तल्लोपः 'अन्या-रादितरर्तेदिक्०' प्राक्शब्दयोगे इति पञ्चमी । विनाशब्दयोगे द्वितीया । १०—'अधीनवचने' इति सातिः । १२—अतिशयेन प्रश्रयः इति विग्रहे ईयसुन्प्रत्यये 'ज्य च' इति ज्यादेशे, ईयसः ईकारस्य आकारादेशे ज्या-यानिति । आयाः इति लिङि. मध्यमपुरुषैकवचनम् । १४—ईषदसमा-प्तौ कल्पप्देश्यदेशीयरः' इति कल्पप्प्रत्यय. । १६—भवतां दृष्टिः भवद्दृष्टि:, भाविनी चासौ भवद्दृष्टिः भाविभवद्दृष्टिः; सैव च शं, तस्य भरः, तस्य भावः, तस्मात् । १८—अनुपद्रवशब्दे सप्तमीविभक्ति-

रपि मन्तुमर्हा। 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति सूत्रेण अव्ययीभावः, एदन्तत्वनिपातश्च। १९— देशं देशं प्रति प्रतिदेशम् 'अव्ययं विभक्ति' इति समासः। २०—गम्यते इति कर्मप्रयोगः। २४—पात्रे पात्रे इति विग्रहे प्रतिपात्रम्। २६—बन्धो र्भावः इति विग्रहे भावार्थं तल्। ३०—एधस्शब्दः, पयस्शब्दवद्रूपाणि। ३२—जामातृशब्दः सप्तम्येक वचनम्। वीतः नष्टः; स्फीतः समृद्धः; परिच्छदः परिवारः; येषां ते वीत-स्फीतपरिच्छदाः। ३८—अश्वीयम्—अश्वानां समूहः, 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति छः। अश्वीयं पणितुं शीलमेषामस्तीति अश्वीयपाणिनः, तेषाम् अश्वीयपाणिनाम्। दर्शं दर्शं=दृष्ट्वा दृष्ट्वा, णमुलन्तेप्रयोगः। ४१—सा चासौ माता तन्माता, तया तन्मात्रा। ४२—एतं जीवातुकाः, 'न लोकाव्यय.' इति षष्ठीनिषेधः ४३—अनेनस् शब्दः न विद्यते एनो दोषो यस्य तम् अनेनसम्। ४५—समशब्दयोगे तृतीया। ४९ कुरूणां गोत्रापत्यं पुमान् कौरवः। ५०—तेनैव=मातृस्नेहेनैव। ५४—जातक्षणे जननान्तरकाले एव त्यागः जातक्षणत्यागः, जातस्य जातक्षणत्यागः तस्मिन्। ५५—वीप्सायाम् अभिशब्दयोगे लाभ-शब्दात् द्वितीया। ५९—अमति गच्छति 'अमे द्विषति चित्, इतीत्रन्। ६०—अवश्यंमन्त्रयते इति मंत्री, तेन मंत्रिणा। ६२—निकषाशब्दयोगे द्वितीया। ६३—परितः शब्दयोगे द्वितीया। ६६—स्थाने एव, लोपः शाकल्यस्य। ७१—अलंशब्दयोगे तृतीया। ७३—हव्यवाहसमक्षकम् इति क्रियाविशेषणम्।

अथ नवम—लम्बस्य टिप्पण्यः

३—वरस्य चिह्नानि यस्य तं वरचिह्नं, व्यधिकरणपदबहुव्रीहिः। ९—विदूषकः,–'एकदेशविद्यस्तु क्रीडनको विद्यास्पदश्च विदूषकः। वैहासिको

वा । स च वेश्यां नागरिकं वा कश्चित्प्रमाद्यन्तं लब्धप्रणयत्वादपवदत इति विदूषकः । विविधेन हासेन चरतीति वैहासिकः । ५—पुरः अधिको; भागो भाग्यं पुरोभाग्य, तस्य भाव. पौरोभाग्यं महाभाग्यमित्यर्थः । ६—उद्वोढुम्- उदुपसर्गः, वह्धातुः, तुमुन्प्रत्ययः । ७—औपयिकम्—'विनयादिभ्यष्ठक्' 'उपायाद्ध्रस्वश्च' इति ठक् ह्रस्वश्च। भूयस्शब्दस्य अव्ययत्वम् । ८—वृद्धस्य भावः वार्धकं 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्प्रत्ययः । १०—अतिशयेन वृद्धः वर्षीयान् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इतीयसुन् 'प्रियस्थिर०, इति वर्षादेश, । १२—आयुष्शब्दः नपुंसकलिंगः, पयस्शब्दवद्रूपाणि । १४—मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' इति चतुर्थी । १६—पृष्टः इति वृद्धस्य विशेषणम् । अतएव तस्य पुंस्त्वम् । १८—गाह्धातोर्योगे गृहशब्दात् द्वितीया । २०—कर्मन्शब्दः नान्त नपुंसकलिंगश्च । २४—'सन् सुधीः कोविदो बुधः, इत्यमरः । वचनमितिशेषः । ३२—आत्मनः जीवकस्य इच्छा जीवककाम्या, तया, 'काम्यश्च' इति जीवकशब्दात् काम्यच्, 'अ प्रत्ययात्' इति जीवककाम्यधातोः अकारप्रत्ययः । ३३—'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे, त्रिपु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । ३५—जाया च पतिश्च दम्पती ।

अथ दशमलम्बस्य टिप्पण्यः

१—पाणिः गृहीतः अस्याः, तां पाणिगृहीतीम् । २—'द्वितीयाश्रितातीत' इति ज्ञापकात् आश्रितशब्दयोगे पार्श्वशब्दात् द्वितीया । ३—माता च पिता च पितरौ, तयोः पित्रोः 'पिता मात्रा' इति पितृशब्दशेषत्वम्, सदृशार्थकान्तकशब्दयोगे षष्ठी । ६—विधातुमिच्छते विधित्सते । न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः । प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । ८—भगिन्याः अपत्यं पुमान् भागिनेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्' । १३—एष भवति 'एतत्तदोः

सुलोपो ऽकोरनञ्समासे हलि' । १६—बका इव आचरन्तीति बकायन्ते । १८—रथी, अश्वारोहः, गजारोहः, पद्गामी इति चातुरंगबलम् । १९—प्रतस्थे 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । सल्लग्ने—'तो र्लि' इति तस्य लः । २१—बुधा इव आचरन्तीति बुधायन्ते । २५—शेकुः—'अत एकहल्मध्ये ऽनादेशादे र्लिटि' । गामिनी इत्यत्र 'नन्दिग्रहि' इति णिनि नान्तत्वात् ङीप् । २६—आङ्पूर्वक रुहधातो र्योगे कर्मणि द्वितीया । ३०—सत्यन्धरस्यापत्य पुमान् सात्यन्धरिः 'अत इञ्' । 'भोज्यं भक्ष्ये' इति नियमेन भक्ष्यार्थाभावे ऽत्र भोग्या इति भाव्यम्, भोज्या इति तु चिन्त्यम् । ३१—कुत्सितः वणिक् वणिक्पाशः 'याप्ये पाशप्' इति पाशप् । आत्मने हितम् आत्मनीनम् 'आत्मन्विश्वजन-भोगोत्तरपदात् ख' इति खः । ३२—मूढेन मयात्मविनाशाय वेतालोत्थापनं कृतमिति भाव । ३४—सप्तम्यर्थे तसिल् । ३६—कौरवतः—'षष्ठ्याः व्याश्रये' इति षष्ठ्यन्तात् तसिः । ३७—'गतिबुद्धि' इति सूत्रेण अरातिशब्दात् द्वितीया अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन बलिष्ठशब्दे ष्ठन् । ३९—वीरसूः-'सत्सूद्विष' इति क्विप्, वीरपत्नी—'नित्य सपत्न्यादिषु' इति निपातनात् सिद्धि । ४०—संल्लग्नो ऽन्त एकदेशो ऽस्याः समन्ता, समन्ताया' स्वदेशाव्यवहितभूमेरिमे राजानः सामन्ता, तस्येदमित्यण् । ४२—भूतपूर्व यक्षः यक्षचर 'भूतपूर्वे चरट' इति चरट् । ४४—'अकथित च' इत्यनेन राजेन्द्रशब्दस्य कर्मसंज्ञा । ४८—'अन्याराદितरर्ते' इति सूत्रेण ऋतेशब्दयोगे पंचमी । ५०—जीवितुमिच्छा जिजीविषा । ५४—राजन्वान् सौराज्ये इति निपातनात् राजन्वती इति साधु । ६१—महांश्चासौ राजा महाराजः 'राजाह सखिभ्यष्टच्' इति टच्, जिनशब्दवद्रूपाणि ।

अथ एकादशलम्बस्य टिप्पण्यः

१—अतिशायिनी 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' २—विगुणस्य भावः वैगुण्यं

वा । स च वेश्यां नागरिकं वा क्वचित्प्रमाद्यन्त लब्धप्रणयत्वादपवदत इति विदूषकः । विविधेन हासेन चरतीति वैहासिक. । ५—पुरः अधिको; भागो भाग्यं पुरोभाग्य, तस्य भाव· पौरोभाग्यं महाभाग्यमित्यर्थः । ६—उद्वोढुम्- उदुपसर्ग , वह्धातुः, तुमुन्प्रत्ययः । ७— औपयिकम्-'विनयादिभ्यष्ठक्' 'उपायाद्ध्रस्वश्च' इति ठक् ह्रस्वश्च। भूयस् शब्दस्य अव्ययत्वम् । ८—वृद्धस्य भावः वार्धकं 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्प्रत्ययः । १०—अतिशयेन वृद्धः वर्षीयान् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इतीयसुन् 'प्रियस्थिर०, इति वर्षादेश, । १२—आयुष्शब्दः नपुसकलिंगः, पयस्शब्दवद्रूपाणि । १४—मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' इति चतुर्थी । १६—पृष्टः इति वृद्धस्य विशेषणम् । अतएव तस्य पुस्त्वम् । १८—गाह्धातोर्योगे गृहशब्दात् द्वितीया । २०—कर्मन्शब्दः नान्त नपुसकलिगश्च । २४—'सन् सुधीः कोविदो बुधः, इत्यमरः । वचनमितिशेषः । ३२—आत्मनः जीवकस्य इच्छा जीवककाम्या, तया, 'काम्यश्च' इति जीवकशब्दात् काम्यच्, 'अ प्रत्ययात्' इति जीवककाम्यधातोः अकारप्रत्ययः । ३३—'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे, त्रिषु क्लीब मनाक्प्रिये' इत्यमरः । ३५—जाया च पतिश्च दम्पती ।

अथ दशमलम्बस्य टिप्पण्यः

१—पाणि गृहीतः अस्याः, तां पाणिगृहीतीम् । २—'द्वितीयाश्रितातीत' इति ज्ञापकात् आश्रितशब्दयोगे पार्श्वशब्दात् द्वितीया । ३—माता च पिता च पितरौ, तयोः पित्रोः 'पिता मात्रा' इति पितृशब्दशेषत्वम्, सदृशार्थकान्तकशब्दयोगे षष्ठी । ६—विधातुमिच्छते विधित्सिते । न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः । प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । ८—भगिन्याः अपत्यं पुमान् भागिनेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्' । १३—एष भवति 'एतत्तदोः

सुलोपो ऽ कोरनञ्समासे हलि' । १६—बका इव आचरन्तीति बकायन्ते। १८—रथी, अश्वारोहः, गजारोह, पदगामी इति चातुरंगबलम्। १९—प्रतस्थे 'समवप्रविभ्यः स्थ.' इत्यात्मनेपदम्। सलग्ने—'तो र्लि' इति तस्य लः। २१—बुधा इव आचरन्तीति बुधायन्ते। २५—शेकुः—'अत एकहल्मध्ये ऽ नादेशादे र्लिटि'। गामिनी इत्यत्र 'नन्दिग्रहि' इति णिनि नान्तत्वात् ङीप्। २६—आङ्पूर्वक रुहधातो र्योगे कर्मणि द्वितीया। ३०—सत्यन्धरस्यापत्य पुमान् सात्यन्धरिः 'अत इञ्'। 'भोज्यं भक्ष्ये' इति नियमेन भक्ष्यार्थाभावे ऽत्र भोग्या इति साध्यम्, भोज्या इति तु चिन्त्यम्। ३१—कुत्सितः वणिक् वणिक्पाशः 'याप्ये पाशप्' इति पाशप्। आत्मने हितम् आत्मनीनम् 'आत्मन्विश्वजन-भोगोत्तरपदात् ख' इति खः। ३२—मूढेन मयात्मविनाशाय वेतालोत्थापनं कृतमिति भाव। ३४—सप्तम्यर्थे तसिल्। ३६—कौरवतः—'षष्ठ्याः व्याश्रये' इति षष्ठ्यन्तात् तसिः। ३७—'गतिबुद्धि' इति सूत्रेण अरातिशब्दात् द्वितीया अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन बलिष्ठशब्दे ष्ठिन्। ३९—वीरसूः-'सत्सूद्विष' इति क्विप्, वीरपत्नी—'नित्य सपत्न्यादिषु' इति निपातनात् सिद्धि। ४०—संलग्नो ऽन्त एकदेशो ऽ स्याः समन्ता, समन्ताया' स्वदेशाव्यवहितभूमेरिमे राजानः सामन्ता', तस्येदमित्यण्। ४२—भूतपूर्व यक्षः यक्षचर' 'भूतपूर्वे चरट' इति चरट्। ४४—'अकथित च' इत्यनेन राजेन्द्रशब्दस्य कर्मसंज्ञा। ४८—'अन्या-रादितरर्ते' इति सूत्रेण ऋतेशब्दयोगे पंचमी। ५०—जीवितुमिच्छा जिजीविषा। ५४—राजन्वान् सौराज्ये इति निपातनात् राजन्वती इति साधु.। ६१—महांश्चासौ राजा महाराजः 'राजाह सखिभ्यष्टच्' इति टच्, जिनशब्दवद्रूपाणि।

अथ एकादशलम्बस्य टिप्पण्यः

१—अतिशायिनी 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' २—विगुणस्य भाव. वैगुण्यं

'गुणवचन' इति ष्यञ् । प्रशस्तो गुणोऽस्यास्ति गुण्यः 'रूपादाहतप्रशंस-योर्यप्' इति यप् । गुण्यस्य भावो गुण्यता, ताम् । ३—नादेयम् 'नद्यादिभ्यो ढक्' । ४—जन्मनो वर्जः त्यागो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा अथवा जन्म वर्जयित्वा 'द्वितीयायां च' इति णमुल् । एकशेषः पितृशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । ५—शालेयं व्रीहिशाल्योर्ढक' इति ढक् । ६—उदासीनः, जिगीषोः नृपतेः शत्रुमित्रभूमितो व्यवहितः परतरः । विपयानन्तरो राजा, शत्रुर्मित्रमत परम् । उदासीन. परतरः इत्यमरः । ७—रात्रौ च च दिवा च रात्रिंदिवम् अचतुर इत्यादिनाधिकरणार्थद्वन्द्वे ऽ अप्रत्ययान्तो निपातः । अव्ययान्तत्वादव्ययत्वम । अत्र षष्ठ्यर्थलक्षणाया रात्रिदिवमिति अहोरात्रयोरित्यर्थः । ८—समशब्दयोगे तृतीया । राज्ञः कर्म राज्यम् 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति पुरोहितादित्वात् यक्प्रत्ययः । अनुपात्तस्योपादान योगः । उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः । १०—राज्ञां राजा राजराजः 'राजाहः' इति टच्, जिनशब्दवद्रूपाणि । ११—पितुरिदं पैतृकम् 'ऋतछञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । १२—'अन्यारादितरर्ते' इति सूत्रेण ऋतेशब्दयोगे पंचमी । १३—कुण्ड्यते रक्ष्यते जलमग्निर्वात्र कुण्डः । १६—दानार्थकश्राधातुयोगे मातृशब्दात् चतुर्थी । १७।१८ कर्मप्रयोग । १९—प्रपूर्वकविशधातुयोगे ।द्वितीया । २०—'पद्दन्नोमास्' इत्यनेन हृदादेशः । २१—तिस्रः दशाः येषां ते त्रिदशाः । क्षत्रविद्यां वेदेति क्षात्रविद्यः 'अगक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्' इति ठक्प्रतिषेध. । २३—कापेयम् 'कपिज्ञात्यो र्ढक्' इति ढक् । २५—मृतवतो दशा यस्य सः अथवा मृतवत् दशा यस्य स मृतवद्दशः । २७—तनुभवभोगस्वरूपाणां वारंवारं चिन्तनमनुप्रेक्षा । २८—अहमिवाचरतीति मद्यते । ३०—जात्यर्थे एकवचनम् । ३४—पश्यतः अनादृत्य नश्यतीत्यर्थ., 'षष्ठी चानादरे' इत्यनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठी । आयुधेन जीवन्ति आयुधीया 'आयुधाच्छ च' इति ठन् । ३५—स्वतन्त्रमिति क्रियाविशेषणम् । ३६—स्वकर्मभ्य इति स्वकर्मत॰ । न एकवेशः नैकवेश॰ 'सुप्सुपा इति समासः । ३७—क्षणे

ऽपि = क्षणमात्रमपि । ३८—वस्तु इति शेषः । ३९—अनुत्सुकः उत्सुको भवसीति उत्सुकायसे 'भृशादिभ्यो भुव्यच्च्वेर्लोपश्च हलः' इति अभूततद्भावे क्यङ् । ४०—चक्रकम् = संसारभ्रमणम् । ४१—येन कर्मणेति शेषः । दुःखायसे 'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' इति वेदनार्थे क्यङ । ४२—आत्मन्नेकः 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इति नुडागमः । ४६—अज्ञातमिति क्रियाविशेषणम् । ४८—अंगकम् स्वार्थे कप्रत्ययः । ५४—आत्तः निष्कासितः, सारः रसः यस्मात् स आत्तसारः । ५६—भावः रागद्वेषादिः । ५७—अमुष्य कर्मणः अयमास्रवः यथा 'अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य' 'सम्यक्त्वं च' इत्यादि । ५८—'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' 'प्राणिपीडनपरिहारेण सम्यगयनं समितिः । ६५—मोहनीयकर्मव्यापारविहीनस्य । ६७—स्पृहायाः निष्क्रान्तः निस्पृहः 'निरादयः क्रान्ता, इति समासः । ६८—निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्, 'अचतुरविचतुर' इति समासः । ६९—आत्मज्ञानैकविषया । ७०—तुल्यशब्दयोगे तृतीया । प्रसारितौ अंघ्री पादौ येन सः प्रसारिताङ्घ्रिः । कटौ निक्षिप्तौ पाणी हस्तौ येन सः कटिनिक्षिप्तपाणिः । ७१—'शेषाद्विभाषा' इति कप् । ७७—धर्मपापाभ्याम् इति धर्मपापतः । भविता इति लुटि प्रथमपुरुषैकवचनम् । अस्माभिरयं श्लोकः धर्मभावनायां निधीयते, अत्रौचित्यमनौचित्यं वेति निर्धार्यं धीमद्भिः । ७८—अधःकरणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणमिति करणत्रयम् । ७९—विश्वै लोकैः सर्वैं र्वा । ८०—अत्यन्तं स्थिरा स्थवीयसी, 'द्विवचनविभज्य' इति ईयसुन्, नान्तत्वात् ङीप् । स्थेयात्—आशंसायां लिङि प्रथमपुरुषैकवचनम् ।

८२—'मन्यकर्मण्यनादरे' इति चतुर्थी । ८३—अधीतमनेनेति अधीती 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनिः । 'जिनशासने ऽधीती' इत्यत्र 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' इति सप्तमी । ८४—धर्मविद्यां वेत्तीति धार्मविधः । 'अङ्गक्षत्त्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्' इति ठक्प्रतिषेधः । तद्वज्रवेकटकर्मणा, तद्वज्ञस्य रत्नसंस्कारकोविदस्य,

पैकटस्य मणिकारस्य, कर्मणा शाणोल्लीढनादिविधानेन । ८५—बोद्धुमिच्छया बुभुत्सया । ८७—हंसानां राजा राजहंसः, 'राजदन्तादिषु परम्, इति राजन्शब्दस्य पूर्वनिपातः । ८९—जातस्य रूपमिव रूपं यस्य, तं धरतीति जातरूपधरः दिगम्बरः । ९०—श्रुत्वा इति शेषः । ९६—अहं भवरोगेण सदा पीडित सन् भवरोगात् भीतो भवामि, इत्यन्वयः । कारणा, तीव्रवेदना 'कारणा तीव्रवेदना, इत्यमर. । ९७—सर्वस्य हितः सार्वः सर्वपुरुपाभ्यां णढञौ । इति णप्रत्ययः । प्रारब्धकर्मपरिसमापनसमर्थः । १०१—समवसरणे यदागमनं विना भगवतः दिव्यध्वनि र्न निःसरति स गणधर । १०२—ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, मोहनीयम्, वेदनीयम्, आयुष्यम्, नाम, गोत्रम्, अन्तरायम् इति कर्माष्टकम् । अनन्तज्ञानम, अनन्तदर्शनम्, अनन्तवीर्यम्, अनन्तसुखम्, अव्याबाधत्वम्, अगुरुलघुत्वम्, अतिसूक्ष्मत्वम्, अवगाहनत्वम् । इति गुणाष्टकम् कर्माष्टकं गुणाष्टकस्य प्रत्येकं बाधकम् । १०३—अष्टभिः धृति रूपांतरम् । १०५—अस्मिन् श्लोके वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् । 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् १०६—क्षत. नाशात्त्रायत इति क्षत्रः, क्षत्रवर्णः । क्षत्रस्य क्षत्रवर्णस्य चूडामणिः शिरोरत्नम्=क्षत्रचूडामणिः ।

इति टिप्पण्यः समाप्ताः

जीवन्धर-कुमार चरित्र

* अथ प्रथमलम्ब *

श्रीपति र्भगवान्पुष्याद्—भक्तानां वः समीहितम् ।
यद्भक्ति शुल्कतामेति, मुक्तिकन्या—करग्रहे ॥१॥

इस मध्यलोक मे असख्यात द्वीप-समुद्रों के बीच एक जम्बूद्वीप है। हिमवत् आदि छह कुलाचल बीच मे आ जाने से उस जम्बूद्वीप के सात खण्ड हो गये हैं। उनमे दक्षिण दिशा की ओर एक भरत क्षेत्र है। जहां अलकारभूत हेमाङ्गद नामक एक देश है। उसमे राजपुरी नाम से प्रसिद्ध एक सुन्दर राजधानी है। वहां पर किसी समय जैन धर्मानुयायी कुरुवशी महाराज सत्यन्धर न्याय और प्रेम पूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनके सर्वगुण-सम्पन्न विजया रानी थी। राजा अपनी रानी पर इतने मोहित थे कि उनका मन राज्य काज मे नही लगता था।

एक समय इसी कारण आप अपना राज्य काष्ठाङ्गार नामक मंत्री को देने के लिये तैयार हो गये। उस समय हितैषी और विवेकी कुछ मुख्य मन्त्रियो ने राजा को समझाया कि आप ऐसा न करें। किन्तु विषयासक्ति वश राजा ने किसी की

नोट:—यह जीवन्धरचरित्र श्रीगुणभद्राचार्यकृत महापुराण के उत्तराभाग के आधार पर लिखा गया है।

वात न मानी और काष्टाङ्गार को राज्य दे ही दिया। अब राजा और रानी सुखचैन से रहने लगे।

एक समय महारानी विजयादेवी रात्रि को अपने शयनागार मे सुखनिद्रा ले रही थी। उन्होने रात्रि के पिछले भाग मे १—दृष्टिगोचर होकर नष्ट हुआ अशोक वृक्ष, २—मुकुट सहित नवीन अशोक वृक्ष और, ३—आठ मालायें ऐसे तीन स्वप्न देखे। इन स्वप्नो के देखने के वाद उनकी सुखनिद्रा भग हो गई। वे शय्या का परित्याग कर प्रातःकालिक क्रियाओ से निवृत्त होकर स्वप्नो का फल जानने की इच्छा से शीघ्र ही महाराज सत्यन्धर के पास पहुँची।

महाराज सत्यन्धर ने स्वप्नो को सुन कर उन का फल निम्नप्रकार वतलाया, कि- मुकुट सहित अशोक वृक्ष भविष्य मे तुम्हारे पुत्रोत्पत्ति को और आठमालाये उसकी आठ स्त्रियों को सूचित करती हैं। इसके वाद महारानी ने पूछा, कि-हे स्वामिन्! "दृष्टिगोचर होकर नष्ट हुआ अशोकवृक्ष" रूप प्रथम स्वप्न क्या सूचित करता है? महाराज अब भी उस स्वप्न के फल को स्पष्ट नहीं कर सके, परन्तु उस समय उनके चेहरे पर कुछ विषाद की रेखा दिखाई दे रही थी, जो भविष्य मे होने वाले अनिष्ट को स्पष्ट सूचित करती थी। इस अमङ्गल (सत्यन्धर की मृत्यु) की सम्भावना से उसी समय महारानी का दुःख समुद्र उमड़ पड़ा। तब महाराज सत्यन्धर ने बड़ी कठनाई से समझा बुझा कर रानी को शान्त किया।

कुछ समय बाद रानी गर्भवती हुई। गर्भ के लक्षणों को देखकर महाराज अपनी मृत्यु का समय निकट समझने लगे। उन्होंने उसी समय एक प्रसिद्ध तक्षक (वढ़ई) को बुलाकर एक मयूराकृति यन्त्र (हवाई जहाज) वनवाया औरअपने अनिष्ट की

आशंका से रानी के गर्भ (वश) की रक्षा के लिये उसे मयुराकृति यन्त्र मे विठा कर आकाश मे उड़ाने का अभ्यास आरम्भ कर दिया।

एक समय कपटी काष्ठाङ्गार ने विचारा कि महाराज सत्यन्धर के जीवित रहते हुये मैं पूर्ण स्वतत्र नहीं हूं, इसलिये उन्हें मार कर मुझे स्वतत्र राजा वन जाना चाहिये। अतएव उसने अपने मत्रियों से बहाना बना कर कहा कि राजा को मार कर अपनी रक्षा करने और स्वतंत्र राजा बन जाने के लिये एक देव आकर मुझ से सदा प्रेरणा करता है।

महाराज सत्यन्धर ने अपने द्वारपाल के मुख से सेना के आने का समाचार सुना, तब उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने शीघ्र ही रानी को उस यत्र मे बिठाकर आकाश मे उड़ा दिया और स्वय युद्ध करने को तत्पर हो गये। बहुत समय तक युद्ध करने पर वे उसमें होने वाले व्यर्थ जन संहार से विरक्त होकर संसार, शरीर और भोगो की अनित्यता का अनेक प्रकार से विचार करने लगे। इस तरह उन्होंने समस्त परिग्रह छोड़ कर आत्मस्वरूप का चिन्तवन करते हुये सल्लेखना-पूर्वक शरीर छोड़ा और स्वर्ग में देवपर्याय प्राप्त की। उनके वियोग से समस्त देश से आतक छागया और जनता बहुत उदासीन होकर नाना प्रकार से विरक्तता का विचार करने लगी।

इतने में वह मयूराकृति-यत्र राजपुरी की स्मशानभूमि मे गिरा, वहां उसीदिन उस रानी के एक सुन्दर पुत्र पैदा हुआ। उस पुत्र के पुण्य से एक 'चम्पकमाला' नामक देवी धायका वेष धारण कर उसी समय वहां आई। उसने अपने अवधिज्ञान से जान कर विजया को आश्वासन देकर कहा कि हे देवी इस पुत्र के पालने की चिंता मत करो। एक कुलीन व्यक्ति इस पुत्र का राजकुमारो के योग्यरीति से पालन करेगा। उस देवी की

सम्मति से वह रानी उस पुत्र को राजनामाङ्कित अँगूठी पहिना-कर समीप में ही छिप गई।

उस नगरी के सेठ गन्धोत्कट के यहां एक पुत्र उसी दिन पैदा होकर मर गया था। उसके मृत्यु–संस्कार के लिये वह उसी श्मशान मे गया और वहां अपने मृतपुत्र का अंतिम–संस्कार कर एक अवधिज्ञानी मुनिराज के कथनानुसार वहां अन्य पुत्र की तलाश करने लगा। तब उसने वहां उस रानी के पुत्र को पड़ा हुआ देख कर उठा लिया तथा समीप मे छिपी हुई विजया के द्वारा दी गई 'जीव' आशीर्वाद को सुन कर उसका जीवन्धर नाम रखा और घर आकर अपनी सुनन्दा नामक स्त्री पर कृत्रिम क्रोध कर कहा कि तुमने जीवित पुत्र को मरा कैसे कह दिया ? वह भोली सेठानी भी उस पुत्र को गोद मे लेकर बहुत प्रसन्न हुई और अपना ही पुत्र समझ कर भलीप्रकार उसका पालन भी करने लगी।

पुत्र–प्राप्ति की खुशी में गन्धोत्कट ने एक बड़ा भारी उत्सव मनाया, उस उत्सव को मूर्ख काष्टाङ्गार ने अपने राजा होने की खुशी में किया गया उत्सव समझ गन्धोत्कट को बहुत पारितोषिक (इनाम) दिया। इधर उस देवी ने उस रानी को भी दण्डक वन में स्थित एक तपस्वियों के आश्रम मे पहुंचा दिया और स्वयं निश्चिन्त होकर अपने स्थान को चली गई।

कुछ समय बाद सुनन्दा के एक पुत्र और हुआ। उसका नाम नन्दाढ्य रखा गया। उससे जीवन्धर की शोभा और भी बढ़ गई। उस दिन राजपुरी के उत्तम कुलों मे जितने बच्चे पैदा हुये थे, उन्हें काष्टांगार ने गन्धोत्कट के यहां भिजवा दिया। उनके साथ जीवन्धर का पोषण होने लगा। पांच वर्ष की उम्र में जीवन्धर का यथाविधि विद्यासंस्कार किया गया।

अथ द्वितीयलम्ब

जीवन्धरकुमार जब पांच वर्ष के होगये तब गन्धोकट सेठ ने समस्त विद्याओं मे निपुण 'आर्यनन्दी' महाराज (मुनि) से उनको विद्याभ्यास कराया। गुरु ने भी शिष्य जीवन्धर की विनय और सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें अतिशीघ्र समस्त विद्याओं में उद्भट विद्वान् बना दिया। एक दिन आर्यनन्दी मुनि ने प्रसन्न होकर अपना पूर्व वृत्तान्त किसी अन्यजन की कथा के बहाने से जीवन्धर को सुनाया कि हे तात! कुछ समय पूर्व विद्याधर लोक में लोकपाल नामक राजा राज्य करता था। एक समय उसने क्षणनश्वर मेघ को देख कर और ससार तथा भोग आदिक की अनित्यता जान कर पुत्र को राज्य दे दिया तथा उसने स्वय मुनिदीक्षा धारण की। एक समय तपश्चरण करते समय पापकर्म के उदय से उसके * भस्मक रोग हो गया। उससे पीड़ित होकर वह मुनि के कर्त्तव्य से भृष्ट होकर पाखण्ड "वेष" धारण कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने लगा।

दैवयोग से एक दिन भोजन करने के समय वह मुनि तुम्हारे घर गया। वहां पर तुमने उसे देखा और अत्यन्त भूखा जान कर अपने रसोईया को आज्ञा दी; कि इसको भर पेट भोजन कराओ। उस समय तुम्हारे घर में बना हुआ सम्पूर्ण भोजन खा लेने पर भी रोग की भयंकरता से उसकी भूख शान्त नहीं हुई, तब अपने भोजन में से तुमने आश्चर्य के साथ एक ग्रास उसके मुख में दिया उसके पुण्योदय से तुम्हारे द्वारा दिया गया वह ग्रास उसकी भस्मक व्याधि की निवृत्ति का कारण हुआ। तब

* बहुत भोजन खा लेने पर भी तत्काल भस्म कर देने वाला एक रोग विशेष भस्मकरोग कहलाता है।

उसने भी इस महान् उपकार के बदले में आपको विद्या-प्रदान करना ही सर्वोत्तम समझ पढ़ा लिखा कर उद्भट विद्वान् बना दिया है। अपने गुरु का पुनीत परिचय पाकर जीवन्धर को अधिक प्रसन्नता हुई।

गुरुदेव ने जीवन्धर से यह भी कहा कि "तुम सत्यन्धर महाराज के पुत्र हो और काष्ठाङ्गार ने तुम्हारे पिता को मार डाला है।" इस बात को सुनते ही जीवन्धर कुमार अतिशय क्रोधित होकर काष्ठाङ्गार से अपने पिता के प्राणघात का बदला लेने के लिये तैयार हो गया। किन्तु गुरु आर्यनन्दी ने उसे अल्पवयस्क देख समझा बुझा कर एक वर्ष तक न लड़ने की उससे प्रतिज्ञा कराली। मुनिराज ने पुनः वन को जाते समय जीवन्धर को समयोपयोगी अन्य शिक्षायें भी दीं। पश्चात् वे वहां से वन को रवाना होगये और पुनः दीक्षा धारण कर मोक्ष पधारे। इधर जीवन्धर उनके वियोग से कुछ समय तक बहुत दुःखी रहे।

उसी राजपुरी नगरी मे एक नन्दगोप नामक प्रधान ग्वाल रहता था। एक दिन कुछ भीलो ने जगल में कुछ ग्वालों की गायें रोक लीं। जिससे वह दुःखित होकर अपने साथियों को लेकर काष्ठाङ्गार राजा के समीप आया और अपनी गायों को वापिस कराने के लिये आक्रन्दन-पूर्वक चिल्लाता हुआ प्रार्थना करने लगा, तब काष्ठाङ्गार ने व्याधों को जीतने के लिये बड़ी भारी सेना भेजी। किन्तु जब वह व्याधों को परास्त नहीं कर सकी, तब नन्दगोप ने अपने गोधन की रक्षा के हेतु सम्पूर्ण नगर मे यह ढिंढोरा पिटवाया, कि जो व्यक्ति भीलो से हमारी गायें छुड़ा लावेगा उसके लिये मैं सुवर्ण की सात पुतलियां दहेज मे देकर अपनी गोविन्दा नामक पुत्री व्याह दूंगा। यह सुन

कर जीवन्धरकुमार वन मे गये और व्याघ्रों को जीत कर गायें छुड़ा लाये ।

अपनी प्रतिज्ञानुसार उस नन्दगोप ने भी कन्या–प्रदान करने के लिये जीवन्धर के आगे जलधारा छोड़ी । किन्तु जीवन्धरकुमार ने उसके साथ स्वयं विवाह करना उचित नही समझा; इसीलिये नन्दगोप को समझा कर अपने मित्र पद्मास्य के साथ उसका विवाह करा दिया ।

अथ तृतीय लम्ब

राजपुरी नगरी में श्रीदत्तनामक एक सेठ (वैश्य) रहता था । उसके पास पितृजनों के द्वारा उपार्जित अधिक धन संचित था, तो भी अपने हाथ से ही धन कमाने की इच्छा हुई । तब वह शुभ मुहूर्त में नौकाओं में माल भर कर व्यापार के निमित्त अन्य द्वीप को गया । और व्यापार से धन–सम्पन्न होकर नौका (जहाज) पर माल लाद कर स्वदेश को लौटा । उस समय मूसलधार वृष्टि से उसकी नौका समुद्र में डूबने लगी । तब उस नौका पर बैठे हुये साथियों को शोक मग्न देखकर श्रीदत्त ने बहुत समझाया और धैर्य बँधाया ।

नौका के डूबते समय उस श्रीदत्त को दैवयोग से उस समुद्र में एक प्रस्तूप मिल गया । उस पर बैठ कर वह बहुत कठिनाई से समुद्र के किनारे पहुँचा । उस समय उसने अपनी नौका के डूबने और साथियों के रंज करने पर भी ससार की अनित्यता का विचार कर जरा भी रंज नहीं किया ।

समुद्र के किनारे पर एक अपरिचित मनुष्य मिला । श्रीदत्त ने उससे अपना सारा समाचार कहा । आगन्तुक

महाशय ने भी अपने किये हुये षड्यंत्र को थोड़ी देर के लिये छिपा कर श्रीदत्त की वह करुण कहानी सुनी। पश्चात् वह किसी बहाने से श्रीदत्त को विजयार्ध पर्वत पर ले गया। वहां पर उसने अपने आने का सारा समाचार श्रीदत्त से इस प्रकार कहा।

गान्धार देश की नित्यालोका नगरी के राजा तथा मेरे स्वामी गरुडवेग के साथ आपकी कुलपरम्परागत मित्रता है। उन्होने अपनी सुपुत्री के विवाह में सहायता लेने के हेतु आपको बुलाने के लिये मुझे आपके पास भेजा था इसलिये कार्य की अनिवार्यतावश और उपायान्तर के न होने से नौका डूबने का भ्रम करके मैं (वरनामक विद्याधर) आपको यहां लाया हूं। वास्तव में आपकी नौका डूबी नही है। इससे अब आप नौका के विषय के निश्चिन्त होकर मेरे स्वामी और अपने मित्र गरुडवेग से मिलने की कृपा कीजिये।

नौका के डूबने को भ्रममात्र जान प्रसन्न होकर श्रीदत्त भी गरुडवेग राजा से मिला। राजा ने भी उसका समुचित सत्कार किया तथा अपनी गन्धर्वदत्ता नामक सुपुत्री उसे सौंप दी और कहा कि इसके जन्मलग्न मे ज्योतिपियो ने कहा था; कि राजापुरी मे जो व्यक्ति वीणा बजाने मे इसे जीतेगा वही इसका स्वामी होगा। इसलिये आप इसका सुयोग मिलाने के लिये इस पुत्री को राजपुरी ले जाइये।

वह श्रीदत्त गन्धर्वदत्ता को लेकर अपने घर आया और उसने अपनी स्त्री से उसका सारा समाचार कहा। पश्चात् उसने काष्टांगार राजा की सम्मति लेकर देश देशान्तर मे यह घोषणा कराई कि जो व्यक्ति मेरी गन्धर्वदत्ता सुपुत्री को वीणा बजाने में जीत लेवेगा, उसके साथ में इसका विवाह कर दूंगा।

इस घोषणा को सुन कर दूर दूर के जो अनेक राजा महाराजा गन्धर्वदत्ता को जीत कर व्याहने की चाह से वीणा-मण्डप में आये उन्हे गन्धर्वदत्ता ने अपनी परिवादिनी नामक वीणा बजाकर परास्त कर दिया, वे लोग अपना सा मुख लिये रह गये।

परन्तु वीणावादन मे निपुण जीवन्धर ने अपनी घोषवती नामक वीणा बजा कर गन्धर्वदत्ता को क्षणमात्र मे परास्त कर दिया। तब गन्धर्वदत्ता ने पराजय को विजय से भी उत्तम मान कर जीवन्धर कुमार के गले में वरमाला डाल दी।

इस घटना को देख जीवन्धर के उत्कर्ष को न सह कर दुष्ट काष्टागार ने अभ्यागत राजाओ को जीवन्धर के विरुद्ध भड़का दिया, तब उन्होने जीवन्धर के साथ युद्ध किया। किन्तु वे सब पराजय को प्राप्त हुये और इस तरह गन्धर्वदत्ता का जीवन्धर के साथ पाणिग्रहण हो गया।

अथ चतुर्थलम्ब

एक समय बसन्त ऋतु के आने पर नगर निवासियों ने एक नदी पर जलक्रीडा का उत्सव मनाया। जीवन्धर भी अपने मित्रो के साथ उस नवीन जलक्रीडा को देखने के लिये उस नदी पर गये। वहां हवन की सामग्री को उच्छिष्ट (जूठा) कर देने के कारण कुछ ब्राह्मणो ने एक कुत्ते को अधमरा कर दिया था। जब वह कुत्ता दयालु जीवन्धर के दृष्टिगोचर हुआ, तब उन्होने उसे मृत्यु से बचाने की बहुत कोशिश की, किन्तु अधिक घायल हो जाने से वे उसे जीवित बचाने में सफल न हो सके। तब उसके परभव के सुधार के हेतु उन्होंने उसे मरते समय

"णमोकारमंत्र" सुनाया । मन्त्र के प्रभाव से वह कुत्ता मरने पर यक्षजाति के देवों का स्वामी हुआ । तब वह अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव का समस्त वृत्तान्त जान कर कृतज्ञता से प्रेरित होकर शीघ्र जीवन्धर के पास आया । जीवन्धर ने उस यक्षेन्द्र से उसका परिचय पूछा तब उसने भी पूर्ववृत्तान्त सुनाया । पश्चात् "हे सज्जन ! मैं आप का सेवक हूँ, जब आप पर कोई आपत्ति आवे, तब मेरा स्मरण करना, मैं उसी समय आकर आपकी आपत्ति दूर करूंगा" यह कह कर वह यक्षेन्द्र अदृश्य होगया । इधर जीवन्धर भी जलक्रीडा देखने लगे ।

सुरमजरी और गुणमाला नामक दो सखियां भी उस जलक्रीडा के दृश्य को देखने के लिये नदी पर आईं । उनके पास भिन्न भिन्न दो प्रकार के स्नानोपयोगी चूर्ण थे । उन दोनों दासियो मे इन चूर्णों के विषय मे "किसका चूर्ण उत्तम है" इस प्रकार वाद–विवाद छिड़ गया । अन्त मे दोनों ने प्रतिज्ञा की कि विद्वानो से परीक्षा कराई जावे और जिसका चूर्ण अनुपयोगी सिद्ध होगा, वह इस नदी में स्नान न करे । उक्त निश्चय के अनुसार उन दोनो ने थोडा थोडा चूर्ण देकर अपनी अपनी दासियों को चूर्णपरीक्षक विद्वानों के पास भेजा । वे दासियां अन्य विद्वानो से चूर्ण की परीक्षा कराकर अन्त मे जीवन्धर के पास आईं और उनसे भी चूर्ण की परीक्षार्थ प्रार्थना करने लगीं ।

जीवन्धर ने निष्पक्ष–बुद्धि से परीक्षा कर गुणमाला के चूर्ण को समयोचित; सगुण और उपयोगी बतलाया । तब सुरमञ्जरी की दासी क्रोधित होकर बोली, कि जिस प्रकार अन्य विद्वानो ने पक्षपात कर गुणमाला के चूर्ण को उत्तम बतलाया है, उसी प्रकार आप भी कह रहे हैं, मालूम होता है कि आप भी उन्ही के सहपाठी हैं । जीवन्धर कुमार ने उसके इस प्रकार कहने

पर दोनो चूर्णों को अलग अलग ऊपर फेंका, तब गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण पर भौंरे मड़राने लगे, जिससे सुरमजरी का चूर्ण स्वयमेव अनुपयोगी सिद्ध हो गया। पश्चात् दोनों दासियों ने जाकर अपनी स्वामिनियो से चूर्ण-परीक्षा का सारा समाचार कह सुनाया। उस निर्णय को सुन कर सुरमजरी बहुत रुष्ट हुई।

गुणमाला ने सुरमंजरी को बहुत मनाया पर वह न मानी और अपनी प्रतिज्ञानुसार विना स्नान किये ही वहां से घर लौट गई। उसने यह प्रतिज्ञा भी की, कि मैं जीवन्धर को छोड़ कर अन्य किसी पुरुष को देखूगी भी नहीं।

अपनी सखी के इस तरह बिना स्नान किये चले जाने पर गुणमाला को बहुत दुःख हुआ। अन्त में गुणमाला स्नान कर जब अपने घर को लौट रही 'थी तब रास्ते में काष्ठांगार के एक मदोन्मत्त हाथी ने उसे आ घेरा। उस समय गुणमाला के कुटुम्बी और नौकर उसे वहां ही छोड़ कर भाग गये, किन्तु गुणमाला की एक धाय (प्रियम्वदा सखी) ने उसे अपने पीछे खड़ी कर रक्षा करने का प्रयत्न किया। इतने में ही जीवन्धर कुमार नदी से लौट कर अकस्मात् वहां आ पहुंचे, और उन्होंने उस हाथी को अपने कुंडल से ताड़ित कर वहां से भगा दिया।

उस समय जीवन्धर और गुणमाला में परस्पर प्रेमांकुर का बीज जम गया। गुणमाला ने घर आकर अपने क्रीडाशुक द्वारा जीवन्धर के पास प्रेमपत्र भेजा। जीवन्धर ने भी अनुकूल उत्तर देकर उसे सन्तुष्ट किया। पश्चात गुणमाला के माता के माता पिता ने इन दोनों के प्रेम का समाचार सुन कर जीवन्धर के साथ गुणमाला का विवाह कर दिया।

———

अथ पंचम लम्ब

जीवन्धरकुमार के द्वारा तिरस्कृत हुए उस हाथी ने खाना पीना भी छोड़ दिया। उस समाचार को सुनकर अनङ्ग-माला के वरण करने आदि कारणों से पूर्व से क्रुद्ध काष्टांगार उन जीवन्धर पर और भी क्रुद्ध हो गया और उसने जीवन्धर को पकड़ लाने के लिये अपनी सेना भेजी। तब जीवन्धर भी अतिशय क्रुद्ध होकर युद्ध की तैयारी करने लगे, परन्तु गन्धोत्कट ने उन्हें युद्ध से रोक दिया और पीछे से हाथ बांध कर नम्रतापूर्वक काष्टांगार की सेवा मे स्वय उपस्थित कर दिया।

दुष्ट काष्टांगार ने उसे बधा हुआ देख कर भी मार डालने की आज्ञा दे दी। उस समय जीवन्धर ने यक्षेन्द्र सुदर्शन का स्मरण किया। वह तुरत आया और जीवन्धर को अपनी विक्रियाशक्ति से उड़ा ले गया। इस समय जनता ने काष्टांगार की इस नीचता पर बहुत पश्चात्ताप किया।

वह यक्षेन्द्र जीवन्धर को चन्द्रोदय पर्वत पर स्थित अपने निवास स्थान को ले गया। वहां उसने क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और इच्छानुकूल वेषधारण करने, मनो-मोहक गान गाने तथा हालाहल विष को भी दूर करने मे शक्तिशाली तीन मत्र भी उन्हें दिये। अपने अवधिज्ञान से जान कर उसने जीवन्धर से यह भी कहा कि 'आप एक वर्ष में ही राजा हो जावेंगे और राज्यसुख का भोग कर अन्त मे मोक्ष प्राप्त करेंगे'।

जीवन्धर कुमार उस यक्षेन्द्र की अनुमति लेकर चन्द्रोदय पर्वत मे एक वन में आये। वहां चारों ओर लगी हुई दावाग्नि से जलते हुये हाथियों को देख उन कर जीवन्धर को दया आई

और उन्होंने सदय हृदय से जिनेन्द्र देव–का स्तवन किया। उस स्तवन के प्रभाव से उसी ममय बादलो की गड़गड़ाहट हुई तथा मेघवृष्टि होने लगी। तब हाथियो के जीवित बच जाने से जीवन्धर परम प्रमन्न हुये।

वहां से रवाना होकर अनेक तीर्थस्थानो की वन्दना करते हुये वे चन्द्राभा नगरी मे पहुचे। वहां के राजा धनमित्र की सुपुत्री पद्मा को सांप ने काट खाया था। जीवन्धर ने अपने मंत्र के प्रभाव से उसे तत्काल जीवित कर दिया। तब राजा ने उनका बहुत सन्मान किया—आधा राज्य दे दिया और अपनी उस पद्मा नामक कन्या का उनके साथ विवाह भी कर दिया।

अथ षष्ठ–लम्ब

जीवन्धर स्वामी कुछ दिन उस चन्द्राभा नगरी में रहे। एक दिन विना कहे ही वहां से चल दिये। मार्ग मे अनेक तीर्थ-स्थानो की वन्दना करते हुये वे एक तपस्वियो के आश्रम में पहुंचे। वहां पर उन्होंने तपस्वियो को मिथ्या पचाग्नि आदि तप करते हुये देखा, तब यथार्थ तप और सच्चे धर्म का स्वरूप समझा कर उन्हे जिनेन्द्रमप्रणीत धर्म मे प्रवृत्त किया।

इसके बाद वे उस आश्रम से रवाना होकर दक्षिणदेश के एक सहस्रकूट चैत्यालय मे पहुँचे। वहा पर जिनमन्दिर के किवाड़ बन्द देख कर बाहर से ही जिनराज की स्तुति करने लगे। उस जिनमन्दिर के किवाड़ बहुत समय से बन्द थे, वे उनकी स्तुति के प्रभाव से तत्काल खुल गये।

पूर्व से वहा रहने वाला गुणभद्र नामक एक मनुष्य यह समाचार देख कर जीवन्धर के पास आया। जीवन्धर ने उससे पूछा, कि तुम कौन हो? और यहां किस लिये रहते हो? उसने

कहा, कि मैं क्षेमपुरी मे रहने वाले सुभद्र सेठ का गुणभद्र नामक नौकर हूं। उसकी क्षेमश्री नामक कन्या के जन्म-लग्न में ज्योतिषियो ने बतलाया था कि यहां जिसके आने पर इस सहस्रकूट चैत्यालय के किवाड़ खुल जावेंगे वही इसका पति होगा। मैं उस मनुष्य की प्रतीक्षा में यहां रहता था। भाग्यवश आज आपके शुभागमन से इस चैत्यालय के किवाड़ खुल गये हैं, इस लिये कुछ समय आप यहां पर ही ठहरने की कृपा कीजिये। जिससे मैं आपके शुभागमन की सूचना अपने स्वामी को दे आऊं। ऐसा कह कर वह मनुष्य शीघ्र ही अपने स्वामी के पास गया और उसने जीवन्धर का सारा समाचार अपने स्वामी से कह सुनाया।

सुभद्र भी उस बात को सुनकर शीघ्र ही उस चत्यालय में आया और जीवन्धर स्वमी को पूजन करते हुये देखकर उनके वैभवादि का निर्णय कर उन्हे अपने घर ले गया। कुछ समय बाद उसने शुश मुहूर्त में अपनी सुपुत्री क्षेमश्री के साथ उन जीवन्धर का विवाह कर दिया।

अथ सप्तम-लम्ब

जीवन्धर स्वामी क्षेमपुरी में भी कुछ दिन रह कर वहां से भी बिना कहे अन्यत्र चल दिये। मार्ग मे चलते समय उन्होने अपने विवाह-सम्बन्धी वस्त्र और आभूषण किसी योग्य पात्र को देने का विचार किया। कुछ दूर पर उन्हे एक किसान मिला। उन्होंने उसस वातचीत की। उस किसान को उन्होने भद्र जान, वास्तविक-सुख और श्रावकधर्म का लक्षण विशद रीति से समझा कर उसे श्रावक बनाया। फिर जीवन्धर ने उसे अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर दे दिये और आप आगे की ओर रवाना हुये।

जीवन्धर कुमार विश्राम करने के लिये एक वन में बैठे थे। इतने में वहां पर एक स्त्री आई, जो उन्हें देखकर उन पर आसक्त हो गई। तब वे विषय भोगों से होने वाली खराबी की विरक्त भावना करने लगे। पर वह विद्याधरी उन जीवन्धर के चित्त को लुभाने के लिये निम्नप्रकार बात बना कर कहने लगी। हे मान्यवर ! "मैं एक विद्याधर की अनाथ कन्या हूं। मेरा नाम अनङ्गतिलका है। मेरे छोटे भाई के साले ने जबर्दस्ती लाकर अपनी स्त्री के भय से मुझे यहां छोड़ दिया है"। इससे आप मेरी रक्षा करने की कृपा करें।

जीवन्धर कुमार उसकी बात सुनकर एकान्त में परस्त्री से मिलने में भयभीत हुये। वे वहां से रवाना होने के लिये तयार ही हुए थे कि इतने मे उन्होंने दूर से ही यह शब्द सुना, कि हे प्राणप्यारी ! मुझे छोड़ कर तुम कहां चली गईं, तुम्हारे विना मेरे प्राण निकल रहे हैं। यह शब्द सुनते ही वह स्त्री भी कोई बहाना बना कर वहां से शीघ्र ही अन्यत्र चली गई।

इतने ही में वह शब्द करने वाला व्यक्ति पास आकर जीवन्धर स्वामी से कहने लगा, कि हे मान्यवर मैं अपनी प्यारी स्त्री को इस वन में बिठा कर जल लाने के लिये जलाशय को गया था, वापिस आकर देखता हूं तो वह यहां नहीं है। अधिक की तो बात ही क्या ? उसके बिना मेरी विद्या भी नष्ट-प्राय हो गई है। उसके ये वचन सुनकर जीवन्धर कुमार ने उस भवदत्त विद्याधर को बहुत समझाया। किन्तु विषयों में लिप्त उस विद्याधर के चित्त में जीवन्धर के उपदेश का जरा भी असर नहीं हुआ।

उस वन से रवाना होकर जीवन्धर कुमार हेमाभा नगरी के समीप पहुंचे। वहां पर एक बगीचे में दृढ़मित्र राजा के सुमित्र आदि बहुत से राजकुमार अपने अपने बाणो द्वारा

आम के फलों को तोड़ना चाहते थे। किन्तु धनुर्विद्या में पूर्ण निपुण न होने से आमसहित वाण को हाथ में वापिस कोई भी न ला सका। किन्तु जीवन्धर स्वामी ने एक ही वाण से वेधकर आमसहित वाण को हाथ में लेकर उन राजकुमारों को दिखाया।

यह समाचार देख कर वड़े राजकुमार ने जीवन्धर से कहा कि हे मान्यवर! यह हेमाभा नगरी है, इसके राजा दृढमित्र हैं, उनके सुमित्र आदिक हम बहुत से पुत्र हैं। हम लोगों को शिक्षा-सम्पन्न बनाने के लिये हमारे पिता धनुर्विद्या के ज्ञाता एक विद्वान की खोज में हैं। यदि आप अनुचित न समझें तो उनसे मिलने की कृपा करें। जीवन्धरकुमार भी उसके विशेष आग्रह के कारण, दृढमित्र राजा से मिले। राजा की प्रार्थना से उन्होंने समस्त राजकुमारों को धनुर्विद्या में शीघ्र अतिनिपुण बना दिया। तब राजा ने इस महान् उपकार के बदले में अपनी कनकमाला कन्या का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

अथ अष्टम–लम्ब

किसी समय एक स्त्री मुस्कराती हुई जीवन्धर के पास पहुँची। उन्होंने उससे आदरपूर्वक पूछा; कि तुम यहां क्यों आई हो? उसने उत्तर दिया कि हे स्वामिन्! मैं आपको आयुधशाला में और यहां, एक साथ एकरूप से देख रही हूँ। अर्थात् आपके समान एक दूसरे मनुष्य को आयुधशाला (शस्त्रागार) में देख कर आई हूँ। यह सुन कर जीवन्धर ने विचारा कि क्या मेरा छोटा भाई नन्दाढ्य यहां आया है? उन्होंने शीघ्र ही वहां जाकर देखा कि तो नन्दाढ्य को पाकर बहुत प्रसन्न हुये।

जीवन्धर ने नन्दाढ्य से यहां आने का समाचार पूछा, कि तुम यहां क्यों आये हो? उसने कहा कि दुष्ट काष्टांगार से

आपके घात का निश्चय कर मै भावी गन्धर्वदत्ता के पास गया। उनको स्वामी के वियोग से कुछ भी दुःखित न देख कर मैंने कहा कि भावी आप अपने पति का असह्य वियोग होने पर भी ऐसी निश्चिन्त क्यों प्रतीत होती हैं ? उन्होने अपनी विद्या के बल से जान कर कहा कि तुम क्यो खेद करते हो ? तुम्हारे बड़े भाई (मेरे पति) को यक्षेन्द्र अपने निवासस्थान को ले गया है। वे आनन्दपूर्वक सुख, शान्ति और सत्कार का भोग कर रहे हैं। यदि उनके दर्शन की इच्छा है, तो मै अपनी विद्या के प्रभाव से शीघ्र उनके पास पहुँचाये देती हूं। पश्चात् उन्होंने मुझे मन्त्रपूर्वक एक शय्या पर सुला कर यह पत्र देकर आपके समीप भेजा है।

जीवन्धर स्वामी ने गन्धर्वदत्ता का पत्र पढ़ा। उसमें उसने गुणमाला का दुःख प्रकाशित किया था। जीवन्धर ने पत्र पढ़ कर विद्याधरी गन्धर्वदत्ता के विषय मे ही खेद किया। इधर उनकी शुसराल के मनुष्य नन्दाढ्य को घेर कर बैठ गये और उनसे प्रेमालाप करने लगे।

एक समय बहुत से ग्वाल राजद्वार के मैदान मे आकर चिल्लाने लगे, कि जगल मे बहुत से मनुष्यो ने हमारी गायें रोक ली है। उनके आक्रन्दन को सुन कर श्वसुर के रोकने पर भी जीवन्धरकुमार गाये छुड़ाने के लिये उस वन में गये। उन्होंने वहां जाकर देखा कि गायो के पकड़ने वाले मनुष्य सब मेरे मित्र ही हैं, जिन्हे गन्धर्वदत्ता ने भेजा था।

उन मित्रों के द्वारा अपना अभूतपूर्व अधिक सन्मान देख कर जीवन्धर को उन पर सदेह हुआ। तब उन्होने एकान्त में उनसे उसका कारण पूछा। उत्तर में प्रधान मित्र पद्मास्य ने कहा कि हे स्वामिन्! आपके वियोग से दुखी हम लोग आपके समीप आ रहे थे, मार्ग में थकावट दूर करने के लिये

दण्डक वन में ठहरे। वहां पर तपस्वियो का एक आश्रम था, उसे हम लोग घूम कर देख रहे थे। तब वहां एक स्थान में हमे सौभाग्य से पूज्य माता का शुभ दर्शन हुआ। माता जी ने हम लोगों से पूछा, कि तुम कहा के रहने वाले हो? और कहां जा रहे हो? तब हम लोगो ने आपकी घटना का सारा समाचार उन्हें सुनाया। उसको सुनकर उन्हे बहुत दुःख हुआ। तब हम लोगों ने उन्हे बार २ आश्वासन दिया, कि आप चिन्ता न करें, उन्हे बचा कर यक्षेन्द्र अपने स्थान पर ले गया है उस माता ने भी धैर्य धारण कर आपका सारा वृत्तान्त हमें सुनाया। इसके बाद हम लोग वहां से प्रस्थान कर आपके पास आये हैं।

उन्हे जब मित्रों से यह पता चला, कि अभी हमारी माता जीवित हैं, तब वे अपनी माता के दर्शन के लिये अत्यन्त उत्कठित हो गये। पश्चात् अपने सम्बन्धियों को सान्त्वना देकर दण्डकवन में आकर उन्होने अपनी माता का दर्शन किया। पुत्र के मिलाप से माता का भी गत सारा दुःख भूल गया। उन्होंने जीवन्धर से कहा कि हे बेटा तुम्हारे पिता का राज्य भी है। जीवन्धर ने कहा कि हां माता जी मुझे भी मालूम है। पश्चात उन्होंने अपनी माता को अपने मामा के घर भेज दिया और आप आगे बढ़े।

इसके बाद जीवन्धर कुमार राजपुरी नगरी आये। वहां का वृत्तान्त जानने के लिये वे इधर उधर घूम रहे थे। उस समय उन्होंने एक स्थान पर गेंद खेलती हुई एक जवान कन्या को देखा, तब उन पर मोहित हो गये। वे उसके दरवाजे के चबूतरे पर जा बैठे। इतने में उस कन्या के पिता ने आकर उनसे कहा, कि, ज्योतिषियों ने मेरी कन्या के जन्म मुहूर्त में कहा था, कि "तुम्हारे बहुत दिन से रखे हुये रत्न जिस मनुष्य के आने पर

बिक जावेंगे, वही इस कन्या का स्वामी होगा"। आज आपके आने पर हमारे सब रत्न बिक गये हैं, इसलिये आप मेरी कन्या को वरण करने की कृपा कीजिये। यह सुन कर जीवन्धर ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। तब उस सागरदत्त वैश्य ने अपनी विमला कन्या का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

अथ नवम–लम्ब

जीवन्धरकुमार को वर के चिह्नों से विभूषित देख कर बुद्धिषेण नामक विदूषक ने उनसेकहा कि दूसरों से उपेक्षा की हुई कन्याओं के साथ विवाह करने में आपका क्या महत्त्व है? यदि आप पुरुषवर्ग की छाया भी न सहने वाली सुरमंजरी के साथ विवाह कर सकें, तो आपका विशेष महत्त्व और सौभाग्य समझा जावेगा। उस विदूषक का वचन सुन कर जीवन्धर ने भी उस मानिनी सुरमजरी के साथ अपना विवाह करने का निश्चय किया।

उसी समय जीवन्धरकुमार ने यक्ष के द्वारा प्रदत्त मत्र के प्रभाव से वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाया, और किसी प्रकार सुरमजरी के पास पहुँचे।

सुदरी ने उस वृद्ध ब्राह्मण को भूखा समझ कर भोजन कराया। वृद्धदेव ने भोजन कर चुकने पर कुछ आराम कर मत्र के प्रभाव से सभी के चित्त को मोहित करने वाला एक अति सुन्दर गान गाया, जिसे सुन कर सुरमजरी उसे अधिक शक्ति–शाली समझ कर बोली कि आप गाने के समान अन्य बातें भी जानते हैं क्या? उसने उत्तर दिया कि हां, तब उस सुरमंजरी ने अपने इच्छित वर की प्राप्त का उपाय उससे पूछा। वृद्ध ने कहा, कि कामदेव के मदिर में चल कर उसकी उपासना करो, तुम्हे इच्छित वर प्राप्त हो जावेगा।

तब सुरमजरी उस वृद्ध की बात पर विश्वास कर कामदेव के मन्दिर मे गई और प्रार्थना करने लगी, कि हे देव! आपके प्रसाद से मुझे जीवन्धर रूप पति की प्राप्ति हो। जीवन्धर स्वामी का मित्र बुद्धिपेण नामक विदूपक पहिले से ही कामदेव के मन्दिर मे आकर छिप गया था। जब सुरमजरी ने वर की प्रार्थना की तब छिपे हुये उस विदूपक ने कहा कि तुझे वर प्राप्त हो चुका है, अर्थात् तेरा वर यही है, जो तेरे साथ है। भोली भाली सुरमंजरी ने भी उस विदूपक के वचन को कामदेव का ही वचन मान लिया।

वृद्ध ने भी विदूषक का वचन सुनते ही अपना वेप बदल लिया। तब सुरमजरी उसे जीवन्धर जान कर बहुत लज्जित हुई। इसके पश्चात् सुरमंजरी के पिता कुवेरदत्त ने शुभलग्न मे अपनी सुपुत्री सुरमजरी का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

अथ दशम–लम्ब

सुरमंजरी के साथ विवाह होने पर जीवन्धरकुमार अपने माता पिता सुनन्दा और गन्धोत्कट के पास आये। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी गन्धर्वदत्ता और गुणमाला को अपने समागम से प्रसन्न किया। पश्चात् राज्यप्राप्ति के विषय मे गधोत्कट के साथ साथ सलाह की उनकी सम्मति से वे अपने मामा गोविन्दराज के पास गये। गोविन्दराज विदेहदेश की धरणीतिलका नगरी के राजा थे। उन्होंने जीवन्धर का बहुत सत्कार किया।

गोविन्दराज पहिले ही से जीवन्धर के राज्य को प्राप्त कराने की चेष्टा कर रहा था। जब जीवन्धर वहां पहुॅचे, तब उसने काष्ठांगार के द्वारा भेजा हुआ सदेश अपने मन्त्रियों को सुनाया। उस सदेश में काष्ठांगार ने यह लिखा था, कि "महा-

राज सत्यन्धर की मृत्यु एक मदोन्मत्त हाथी के द्वारा हुई थी, किन्तु अशुभकर्म के उदय से मैं ही उस अपयश का भागी हुआ हूँ, तो भी समझदार राजा इस बात को मिथ्या मानते हैं, यदि आप भी इस बात को मिथ्या मान कर यहां आकर मुझ से मिलने की कृपा करें; तो मैं बिलकुल निःशल्य हो जाऊंगा।

सन्देश सुनाने के बाद गोविन्दराज ने मन्त्रियो से कहा, कि नीच काष्ठांगार हम लोगों को बुला कर अपने जाल मे फँसाना चाहता है। इसलिये हम लोग भी इसी बहाने से उसकी चालाकी का मजा चखाने के लिये चलें। ऐसा विचार कर गोविन्दराज ने अपने राज्य मे इस बात का ढिंढोरा पिटवा दिया कि काष्ठांगार के साथ हमारी मित्रता हो गई है।

पश्चात् शुभ-मुहूर्त में वह गोविन्दराज, जीवन्धर को साथ लेकर राजपुरी को रवाना हुआ। वहां पहुँच कर उसने नगरी के बाहर ही अपनी सेना ठहरा दी। उस समय काष्ठांगार ने गोविन्दराज के पास और गोविन्दराज के काष्ठांगार के पास भेट भेजी।

गोविन्दराज ने वहां पहुँच कर एक सुन्दर स्वयम्वर मण्डप बनवाया। उसमें एक चन्द्रकयन्त्र बनवा कर इस बात की घोषणा कराई, कि जो व्यक्ति इस चन्द्रकयन्त्र का भेदन करेगा, उसे मै अपनी लक्ष्मणा नामक कन्या प्रदान करूगा। उस घोषणा को सुन कर अनेक धनुर्धारी राजा वहां आये और यन्त्र पर स्थित तीन सूकरो का भेदन करने की कोशिश करने लगे, किन्तु इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये कोई भी समर्थ नही हुआ, तब जीवन्धर ने अलातचक्र चढाकर अनायास ही उनका भेदन कर दिया। उस सुअवसर पर गोविन्दराज ने अन्य राजाओं के समक्ष जीवन्धरकुमार का परिचय देते हुये कहा; कि

ये सत्यंधर महराज के सुपुत्र और मेरे भानजे जीवन्धरकुमार हैं। तब अन्य राजाओं ने भी यही कहा, कि हम लोग भी इनकी चेष्टाओं से ऐसा ही अनुमान कर रहे थे।

जीवन्धर का परिचय सुन कर काष्टांगार को दारुण दुःख हुआ। वह मन में विचारने लगा, कि मेरे साले मथन ने इसको मार दिया था, फिर यह दुष्ट कहां से आ गया। मैंने इसके मामा को यहां बुला कर अपने हाथ अपने पैरों पर कुल्हाड़ी पटकी है। अपने मामा का बल पाकर यह मेरा महान् अनर्थ करेगा। इस प्रकार चितातुर काष्टांगार को जीवन्धर के मित्रों ने उनके साथ युद्ध करने को भड़का दिया। तब परस्पर युद्ध हुआ और उसमें काष्टांगार मारा गया। इसके बाद मामा गोविन्दराज ने अपनी सुपुत्री लक्ष्मणा का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

पश्चात् गोविन्दराज ने राजपुरी जाकर यक्षेन्द्र और अन्य राजाओं की उपस्थित में जीवन्धर स्वामी का राज्याभिषेक किया। जिससे जनता को बड़ा ही हर्ष हुआ।

जीवन्धरकुमार ने राज्यासीन होकर नन्दाढ्य को युवराज बनाया और अन्य मित्रों को यथायोग्य पद प्रदान किया, तथा प्रजा का बारह वर्ष तक जमीन टॅक्स माफ कर दिया। इसके बाद उन्होने अपनी समस्त स्त्रियो को बुला कर सन्तुष्ट किया और गंधर्वदत्ता को पटरानी का पद प्रदान किया। पश्चात् सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

अथ एकादश-लम्ब

कुछ समय बाद महारानी विजया अपने सुपुत्र जीवन्धर को सुरीत्या राज्यशासन करते देख कर पुण्य और पाप का फल अपने में ही प्रत्यक्ष कर संसार से विरक्त हो गई। साथ ही

सुनन्दा को भी वैराग्य हो गया। तब वे दोनों जीवन्धरकुमार को सान्त्वना देकर वन में गईं और पद्मानामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करने लगी।

महाराज जीवन्धर ने भी ऐसी सुख शान्ति और निर्विघ्नता से राज्य किया कि तीस वर्ष क्षणमात्र के समान बीत गये।

एक समय बसत ऋतु के आने पर जीवन्धर स्वामी अपनी आठों स्त्रियों के साथ जलक्रीडा करने के लिये एक बगीचे में गये। वहां पर उन्होने देखा कि एक वानर ने अन्य वानरी से संभोग किया, इससे वानरी उस पर क्रुद्ध हो गई, तब वह बन्दर उस वानरी को प्रसन्न करने मे असमर्थ होकर अपनी स्वास रोक मरे हुये के समान बन कर जमीन पर लेट गया। उसकी उस हालत को देख कर वानरी को अत्यत दुःख हुआ। वह उसके पास आकर उसका वारवार आलिङ्गन करने लगी। तब कपटी वानर प्रसन्न होकर उठ खड़ा हुआ और उसने एक कटहर का फल तोड़ कर अपनी वानरी को दिया। किन्तु माली ने वानरी को भय दिखा कर उससे वह फल छीन लिया।

जीवन्धर महाराज यह सब घटना प्रत्यक्ष देख रहे थे, इससे उन्हे वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे विचारने लगे कि यह वनपाल मेरे समान है, वानर काष्ठांगार के समान है और राज्य पनसफल के समान है, इस संसार में किसी की भी संपत्ति स्थिर नही है। इस प्रकार वारह भावनाओं का चिन्तवन वे एक जिनमन्दिर में गये, वहां पर उन्होंने जिनराज की पूजन की। उस समय वहां एक चारण मुनि आये हुए, थे उनका धर्मोपदेश सुन कर जीवन्धर महाराज ने उनसे अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त पूछा।

चारण मुनि ने कहा—कि तुम पूर्व जन्म में धातकी-खंड द्वीप के भूमितिलक नगर मे पवनवेग राजा के यशोधर नामक राजकुमार थे। बाल्यावस्था मे तुम किसी हंस के बच्चे को क्रीडा करने के लिये पकड़ लाये थे। उस समय तुम्हारे पिता ने तुम्हे अहिंसा-धर्म का स्वरूप समझाया, तब तुम्हे अपने इस काम पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उस समय पिता के रोकने पर भी तुम ने अपनी आठ स्त्रियो के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली थी। उसके प्रभाव से तुम स्वर्ग मे आठ देवियो सहित उत्पन्न हुये थे। वहां से चय कर यहां पर (राजपुरी मे) सत्यन्धर महाराज के पुत्र और आठ स्त्रियो के स्वामी हुये हो।

तुमने पूर्वजन्म से हस के बच्चे को माता पिता तथा स्थान से वियुक्त (अलग) कर पिंजड़े में बन्द किया था, इसलिये ही तुम्हारा माता पिता से वियोग और काष्टांगार के द्वारा बन्धन हुआ है।

जीवन्धर महाराज उन मुनिराज का यह वचन सुन कर राज्य से विरक्त होकर राजमहल आये। वहां पर उन्होंने गन्धर्वा के सुपुत्र सत्यन्धर को राज्य दे दिया और अपनी आठ स्त्रियों तथा नन्दाढ्य के साथ महावीर स्वामी के समवसरण में आये वहां पर आपने महावीर स्वामी की स्तुति कर उन सबके साथ जिन-दीक्षा धारण की तथा घोरतपश्चरण से अष्टकर्म का नाश कर अविनश्वर मोक्ष पद प्राप्त किया। अब वहां पर वे अनन्त (सीमातीत) समय तक अनन्त सुख का अनुभव करेंगे।

इति जीवन्धरचरित्रं समाप्तम्